संस्कृति

संयुक्तांक: 13-14, अर्द्धवार्षिक–2007

सौजन्य: एशियाटिक सोसाइटी, कोलकाता

सर विलियम जोन्स

संस्कृति

सत्यमेव जयते

संस्कृति मंत्रालय

भारत सरकार

शास्त्री भवन, नई दिल्ली–110001

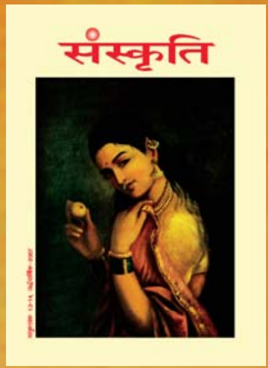

संरक्षक :

अभिजित सेनगुप्त, सचिव, संस्कृति मंत्रालय (1.11.07 से)

बादल के. दास., सचिव, संस्कृति मंत्रालय, (31.10.07 तक)

मुख्य परामर्शदाताः

रामचंद्र मिश्र, संयुक्त सचिव, संस्कृति मंत्रालय

लव वर्मा, संयुक्त सचिव, संस्कृति मंत्रालय।

निहाल चन्द गोयल, संयुक्त सचिव, संस्कृति मंत्रालय।

संपादक :

मोहिनी हिंगोरानी, निदेशक, संस्कृति मंत्रालय,

सम्पादकीय सहयोग :

श्रद्धा माथुर, अनुवादक, संस्कृति मंत्रालय

प्रशासनिक सहयोग :

अ.बि. लाल निगम, सहायक निदेशक, संस्कृति मंत्रालय,

डी.आर. डोगरा, निजी सचिव, संस्कृति मंत्रालय

सतीश गुप्ता, राजेन्द्र यादव, अखिलेश, ब्रजकिशोर, पुष्पा सलूजा

2007ः अर्द्धवार्षिक

संयुक्तांक 13–14ः तीन हजार प्रतियां

http:indiaculture.nic.in पर भी उपलब्ध

मुख्य आवरणः

महिला फल खाते हुए, राजा रविवर्मा (1817–1906)

अंतिम आवरणः

श्रृंगार, हेमेन मजुमदार (1894–1943)

पोस्टरः

नर्तकियां, टिल्ली केटल (1740–1786)

सौजन्यः राष्ट्रीय आधुनिक कला संग्रहालय, नई दिल्ली

भीतरी मुख्य आवरणः

विलियम जोन्स की मूर्ति

सौजन्यः द एशियाटिक सोसाइटी, कोलकाता

भीतरी अंतिम आवरणः

गंजीफा कार्ड

सौजन्य : राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली

संपादकीय पता

322, सी विंग, शास्त्री भवन,

डा. राजेन्द्र प्रसाद रोड,

नई दिल्ली– 110011

दूरभाषः 0091–11–23383032

ई–मेलः mohini.hingorani@nic.in

mkhingorani04@hotmail.com

केवल निःशुल्क सीमित वितरण के लिए

संस्कृति पत्रिका में प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचार और तथ्य लेखकों के हैं, उसमें मंत्रालय या सम्पादक मण्डल का सहमत होना आवश्यक नहीं है और न ही वे उसके लिए जिम्मेदार हैं।

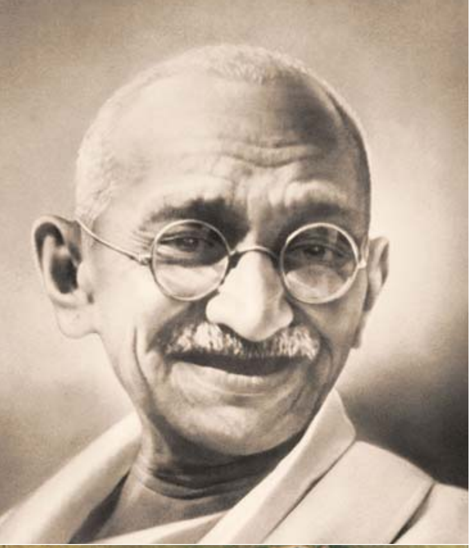

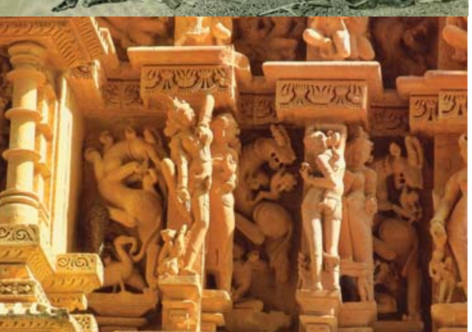

अनुक्रम

बहुसांस्कृतिक भारतीयता
मोहिनी हिंगोरानी — iv

गांधी दर्शन और भारतीय स्वतंत्रता की चेतना
डा. रत्नाकर पाण्डेय — 1

भारतीय संस्कृति : धार्मिक सहिष्णुता की परिचायक
डा. सैयद हसन मुज्तबा रिज़वी — 6

'महक रही फुलवारी हमरी'
विजय वर्मा — 11

हिन्दी–उर्दू का अद्वैत
प्रो. महावीर सरन जैन — 21

1857 की क्रांति का एक विलुप्त अध्याय : राव राजा तुलाराम
प्रो. के. सी. यादव — 31

लोक साहित्य और अट्ठारह सौ सत्तावन
डा. अरुण कुमार — 34

बहादुरशाह "ज़फर" का व्यक्तित्व
डा. दरखशां ताजवर — 44

सिंधु घाटी सभ्यता की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि
डा. हीरो ठाकुर — 49

भीमबैठका के शैलचित्र तथा पुरातत्त्वीय उत्खनन
डॉ. नारायण व्यास — 55

फोर्ट विलियम कॉलेज संग्रह
डा. मुहम्मद इरफ़ान — 64

पाषाण कलाकृतियों की संरचना एवं संरक्षण
डॉ. बृजेश कुमार — 71

जिन्होंने यूरोप को संस्कृत के सौंदर्य से परिचित करवाया : सर विलियम जोंस
जगदीश प्रसाद वरनवाल 'कुन्द' 75

निज़ाम के आभूषण : एक राष्ट्रीय धरोहर
अनामिका पाठक 77

गंजीफा
सुरेश सलिल 82

सिक्किम के पहाड़ों में
राजेन्द्र अवस्थी 87

भारतीय पर्व एवं लोक कला चित्रण
डॉ. बन्दना वर्मा 95

हमारी लोक–कला ऐपण : सन्दर्भ कूर्मांचल
डॉ पदमा देवी 99

इस्लामी मक़बरा शैली के अद्‌भुत नमूने
रमेशचन्द्र मिश्र 105

प्राचीन भारत में वनस्पति
डा. मृदुला सहाय 110

संस्कृति और संस्कार
डॉ. नंदलाल महता 'वागीश' 119

भारतीय संस्कृति और मूल्य–बोध
डॉ. कृष्णदत्त पालीवाल 122

भाषा का संस्कृति और जीवन से संबंध
एयर वाइस माशल (से. नि.) विश्वमोहन तिवारी 130

हिंदी : देश से परदेश तक
मीमांसक 135

आपका पत्र मिला 136

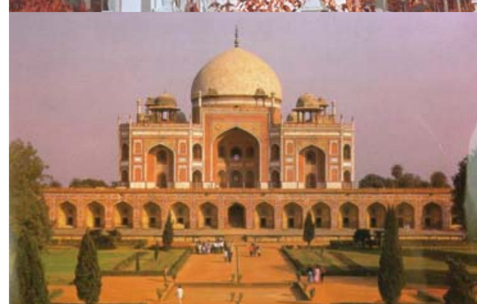

बहु–सांस्कृतिक भारतीयता

कुछ दिन पहले भाषा और संस्कृति के एक विशेषज्ञ के साथ मेरी बहुत बढ़िया बातचीत हो रही थी कि वे पूछ बैठे – ''आप संस्कृति मंत्रालय में हैं ''संस्कृति'' से आप क्या समझती हैं? ..... ''

गोली की तरह छूटे सरल से लगने वाले इस प्रश्न ने क्षणांश के लिए मानों शून्य में पटक दिया। चारों खाने चित्त गिरे चेहरे का असमंजस उनकी एक्सरे आंखों ने कदाचित भेद लिया था– ''संस्कृति क्या है?'' उन्होंने गंभीरता से दोहराया – ''कल्चर इज द वे व्ही थिंक'' तपाक से मैंने भी आत्मविश्वास से भरपूर होकर कह डाला क्योंकि तब तक मैं भी पूरी तरह संभल चुकी थी– ''जैसा हम सोचते हैं वह संस्कृति है.......'' मैंने भी संतुष्टि से दोहराया। ''हाऊकम? कैसे?''– उन्होंने पूछा।

जैसे, हम भारतीय हैं। सभी भारतीयों का सोचने का तरीका, परिस्थिति विशेष में उनकी क्रियाएं–प्रतिक्रियाएं लगभग एक समान ही होंगी, चाहे वे भारत में हैं अथवा भारत से सुदूर सात समुद्र पार हैं। ऐसा मैं अपने विदेश प्रवास के अनुभव के आधार पर कह रही हूँ। प्रत्येक देश का मिजाज उसकी अपनी संस्कृति है। हमारी बहु सांस्कृतिक भारतीयता ही हमारी संस्कृति है।'' 'फिर सभ्यता क्या है?''– उन्होंने टटोलते हुए पूछा।

''संस्कृति सोच है, अतः सूक्ष्म है ''इंटेजीबल'' है, ''सटल है,'' ''किन्तु इसी सूक्ष्म का बाह्य और स्थूल रुप सभ्यता है और वह ''टेंजीबल'' है। हमारा रहन–सहन, खान–पान, कलाएं, प्रार्थना आदि करने की पद्धति सभ्यता है। किन्तु इनमें मौजूद विचार संस्कृति है। इस दृष्टि से सभ्यता और संस्कृति घुली–मिली हैं।''.... मैंने सोचते हुए कहा, वे उत्तर से संतुष्ट से प्रतीत हुए। बहरहाल, तब से मन की कगारों से यह प्रश्न लगातार टकरा रहा है कि – ''संस्कृति क्या है''? मैंने जब रामधारी सिंह दिनकर की पुस्तक 'संस्कृति के चार अध्याय' कुछ पढ़ी, कुछ पलटी, तो सुखद आश्चर्य हुआ। उन्होंने भी लिखा है कि–'' ..... संस्कृति सभ्यता की अपेक्षा महीन चीज़ होती है। यह सभ्यता के भीतर उसी तरह व्याप्त रहती है जैसे दूध में मक्खन या फूलों में सुगंध। और सभ्यता की अपेक्षा यह टिकाऊ भी अधिक है, क्योंकि सभ्यता की सामग्रियाँ टूट–फूटकर विनष्ट हो सकती है, लेकिन, संस्कृति का विनाश उतनी आसानी से नहीं किया जा सकता।''... संयोग से यह उनका जन्मशताब्दी वर्ष भी है। संस्कृति के उस महान अन्वेषक को कोटि–कोटि प्रणाम। अंगरेजी की एक कहावत है कि सभ्यता वह वस्तु है जो हमारे पास है किन्तु संस्कृति वह चेतना है जो हममें व्याप्त है। किसी समाज में व्यष्टि की चिन्तन प्रक्रिया पर आधारित उसके कर्म, प्रतिक्रियाएं और उनकी भौतिक परिणिति मिलकर स्मष्टि की संस्कृति और सभ्यता का निर्माण करते हैं।

इतिहास साक्षी है कि अनुदार और कठोर कायदों वाली कई संस्कृतियाँ परिवर्तन की आंधी में तने हुए वृक्षों के समान ढह गई, जबकि भारत और विश्व के बीच आक्रमणों, व्यापार, अध्यात्म, पर्यटन शिक्षा आदि के परिप्रेक्ष्य में कई स्तरों पर हुए बहुआयामी आदान–प्रदान से भारतीयता लचीली लता के समान फलती–फूलती रही। तैत्तरीयोपनिषद के ''सह नौ भुनक्तु और मा विद्विषावहै'' (हम साथ ही मिलजुल कर आहार ग्रहण करें। हम एक–दूसरे के प्रति द्वेष न रखें) सरीखे मूल्यबोध से सिंचित समन्वयकारी, सहिष्णु, शालीन और सरल–तरल बहुसांस्कृतिक भारतीयता की महाधारा में कई संस्कृतियाँ रुपान्तरित हुईं। कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इसे भारतमहामानव कहा हैः–

''हे मोर चित्त, पुण्य तीर्थे जागो रे धीरे, एई भारतेर महामानवेर सागर–तीरे।
केह नाहि जाने, कार आहवाने, कत मानुषेर धारा, दुर्वार स्रोते एलो कोथा हते, समुद्रे हलो हारा।
हेथाय आर्य, हेथा अनार्य, हेथाय द्राविड़–चीन, शक–हूण–दल, पाठान मोगल एक देरहे हलो लीन।
रणधारा वाहि जयगान गाहि उन्माद कलरवे, भेदि मरु–पथ, गिरि–पर्वत यारा एसेछिलो सबे।
तारा मोर माझे सवाई विराजे केहो नहे नहे दूर, आमार शोणिते रयेछे ध्वनित तारि विचित्र सूर।''

(''भारत देश महामानवता का पारावार है। ओ मेरे हृदय! इस पवित्र तीर्थ में श्रद्धा से अपनी आँखे खोलो। किसी को भी ज्ञात नहीं कि किसके आह्वान पर मनुष्यता की कितनी धाराएं दुर्वार वेग से बहती हुई कहां–कहां से आयीं और इस महासमुद्र में मिलकर खो गयीं। यहाँ आर्य हैं, अनार्य हैं, द्रविड़ और चीनी वंश के भी लोग हैं। शक, हूण, पठान और मोगल, न जाने कितनी जातियों के लोग इस देश में आये और सब के सब एक ही शरीर में समा कर एक हो गये। समय–समय पर जो लोग रण की धारा बहाते हुए एवं उन्माद और उत्साह में विजय के गीत गाते हुए रेगिस्तान को पार कर एवं पर्वतों को लांघ कर इस देश में आये थे, उनमें से किसी का भी अब अलग अस्तित्व नहीं हैं वे सबके सब मेरे भीतर विराजमान है। मुझसे कोई भी दूर नहीं हैं मेरे रक्त में सबका सुर ध्वनित हो रहा है'')।

डा. रत्नाकर पाण्डेय

संदर्भ : अन्तर्राष्ट्रीय अहिंसा दिवस

गांधी दर्शन और भारतीय स्वतंत्रता की चेतना

गांधीवाद, महात्मा गांधी का विचार दर्शन है। गांधी जी राजनीतिज्ञ, अर्थवेत्ता, समाज सुधारक, शिक्षाशास्त्री, धर्मोपदेशक और भारतीय समाज और शासन के युगप्रवर्तक नियामक थे। जीवन के सभी पक्षों पर उन्होंने मौलिक ढंग से विचार किया है। उन्होंने अपने स्वतंत्र चिंतन का प्रतिपादन अपनी दैनिक साधना के बीच स्थिर किया था। गांधीवाद में तार्किक पद्धति का अभाव है। मार्क्स की भांति गांधीवाद में किसी व्यवस्थित क्रमबद्ध अध्ययन का आभास नहीं मिलता। गांधीवाद का आधार स्वानुभूति चिंतन है। गांधीवाद आत्मशक्ति को भारतीय जन जीवन में प्रतिष्ठित कराने का सशक्त साधन है। आत्मशक्ति की प्रधानता के कारण गांधीवाद में आध्यात्मिकता और विचार स्वातंत्र्य की मौलिक उद्‌भावना है। गांधीवाद तीन भागों में बांटा जा सकता है :

1. वर्ग–व्यवस्था, 2. ट्रस्टीशिप, 3. विकेन्द्रीकरण।

महात्मा गांधी, समाज की परंपरागत जीवन पद्धति को आमूल समाप्त करने के पक्षपाती नहीं थे। उन्होंने परंपरा प्राप्त सामाजिक व्यवस्थाओं का नवीन पद्धति पर परिष्कार किया और पूर्ववर्ती जीवनधारा में अपने विचारों को समन्वित किया।

उन्होंने वर्ग व्यवस्था के अन्तर्गत पारिश्रमिक की समानता, होड़ का अभाव तथा आनुवंशिक संस्कारों से लाभ उठाने वाली शिक्षण योजना का प्रस्ताव किया। ट्रस्टीशिप के अन्तर्गत उन्होंने प्राणिमात्र के कल्याण के लिए आत्मविश्वास रखकर समस्त कार्य करने की व्यवस्था की। विकेन्द्रीकरण के अन्तर्गत उन्होंने उद्योगों का ही नहीं राज्यसत्ता के विकेन्द्रीकरण का लक्ष्य भी प्रतिपादित किया। गांधीजी ने सत्य, अहिंसा और सेवा–तीन विशिष्ट साधनों को अपनाया।

सत्यः गांधीवाद के अनुसार पूर्वाग्रह से पीड़ित न होकर सत्य की स्वीकृति के लिए मानव मात्र को प्रस्तुत रहना चाहिए। असत्य विचारों को परिवर्तित करने में भय, लज्जा नहीं करनी चाहिए। जब सत्य का आभास हो तभी विश्वासपूर्वक सभी आकर्षण छोड़कर उसे स्वीकार करना चाहिए। सत्य का ही दूसरा नाम परमेश्वर है।

अहिंसा : गांधी जी अहिंसा के पुनःप्रतिष्ठापक थे। उन्होंने अनेक स्थानों पर मनुष्यों को पशुबल से रहित होकर आत्मबल से अधर्म का विरोध करने की शिक्षा अपने अहिंसा सिद्धांतों में प्रदान की। अहिंसा निष्क्रिय अभावात्मक मनोवृत्ति नहीं है, बल्कि वह सामाजिक प्रवाद के विरुद्ध चलने की सफल क्रियात्मक और भावनाप्रधान प्रवृत्ति है। हिंसात्मक प्रवृत्तियों का अवलंब न लेकर प्राप्त संशोधनों में से शोध करते हुए उसे विकसित, प्रवर्द्धित और परिपूर्ण बनाना अहिंसा का लक्ष्य है। अहिंसा अथवा प्रेम का सिद्धांत विपक्षी को दंड न देकर स्वयं कष्ट सहते हुए उसे जीतने की शक्ति का नाम है। अहिंसा में प्रेम के उस अटूट संबंध की आवश्यकता पड़ती है जो वेगवान और क्रियावान होते हुए भी स्वार्थ और मोह से रहित होता है। यदि अहिंसा में प्रेमभाव जागृत न हो सके तो उसकी बौद्धिक शक्ति और कुशाग्र भावना उसकी सहायक बनती है।

सेवा : गांधी जी का तीसरा अचल सत्य–सेवा है। सेवा सत्य और अहिंसा के एकत्र प्रयोग से उत्पन्न होती है। यदि अहिंसा के सामूहिक प्रयोग को संबंद्ध कर जनता की सीधी और प्रत्यक्ष सेवा भाव से गांधीजी ने विचार किया होता, तो उनके सत्य, अहिंसा और अपरिग्रह आदि सिद्धांत की शक्तियों का विकास अवरूद्ध हो जाता। गांधी जी ने सत्य और अहिंसा के जिन साधनों का प्रयोग किया वे सर्वथा अनूठे थे। उन्होंने अपनी मनोवृत्तियों का प्रचार न करते हुए मानव समूह की प्रचलित ढंग से सेवा की।

---

1. गांधीवाद और समाजवाद–संपादक काका कालेलकर (किशोरीलाल घनश्यामदास मशरूवाला का निबंध, पृ. 3)

* संयुक्त संघ द्वारा प्रति वर्ष दो अक्तूबर को अन्तर्राष्ट्रीय दिवस के रूप में मनाने की घोषणा की गई है।

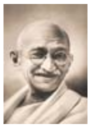

गांधीवाद की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि है साध्य के साथ साधन की पवित्रता का अवश्य ध्यान रखना। गांधी जी का सामाजिक आदर्श सर्वोदय है। उनका शासनादर्श रामराज्य है और जीवन का आदर्श है– सत्याग्रह। गांधीवाद का प्रमुख अंग सर्वोदय है। सर्वोदय का अर्थ है सभी की समान भाव से उन्नति करना और ध्येय है शोषक, अनीतिभाव और अन्यायियों का हृदय परिवर्तन।

गांधी जी ने समस्त सृष्टि में व्याप्त चैतन्य शक्ति की सत्ता को स्वीकार किया। ईश्वर और मनुष्य तथा मनुष्य एवं अन्य जीवधारियों की एकता की स्वीकृति से उनका सत्य सिद्धांत प्राणिमात्र के लिए सार्वभौमिक, कल्याणास्पद सिद्ध हुआ। उन्होंने प्राणिमात्र की अर्न्तभूत एकता की आवश्यकता स्वीकार की। जो घटना एक शरीरधारी पर घटती है उसका प्रभाव जड़ पदार्थ और उसकी आत्मा पर भी पड़ता है। सत्य के आत्म साक्षात्कार से बुद्धि समुन्नत होती हैं और सर्वकल्याणकारी हिंसा भाव का जागरण होता है।

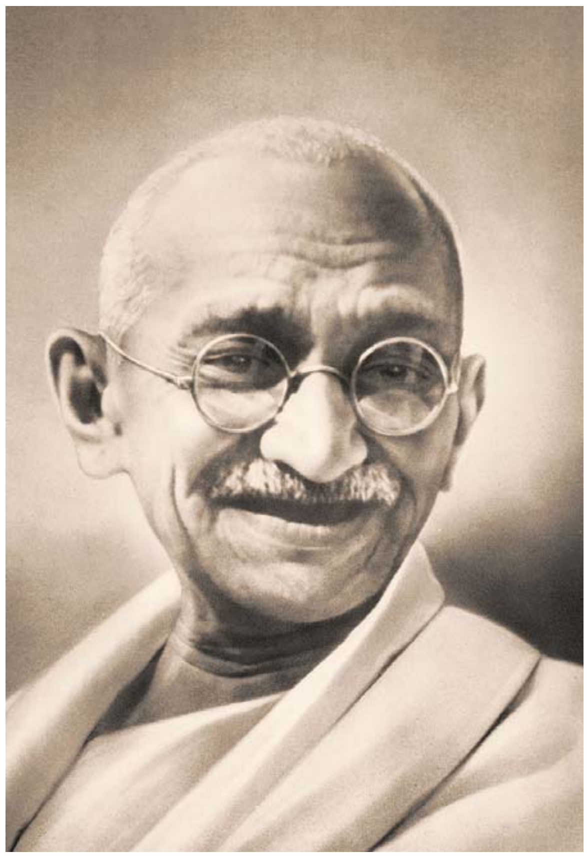

अहिंसा में द्वेष का अभाव रहता है, प्रेम की प्राप्ति होती है। अहिंसा अलौकिक प्रेम है जिसमें स्वार्थ, मोह, आसक्ति के लिए कहीं कोई स्थान नहीं है। अहिंसा सिद्धांत में घृणा और विद्वेष का त्याग तथा निष्काम भाव से चराचर के प्रति प्रेम का समन्वय किया गया है।

अपने सत्य और अहिंसा को संचालित करने में गांधी ने गीता के कर्मवाद, जैन और बौद्ध दर्शन की सेवा और करुणा का भाव तथा वैष्णव भक्तों की आध्यात्मिक चेतना का समन्वय किया। गांधी जी ने अहिंसा की प्राप्ति के लिए आत्मशुद्धि को आवश्यक तत्व स्वीकार किया। उन्होंने आत्मशुद्धि के लिए संतों की वाणी में अहमन्यता के त्याग पर विशेष बल दिया। अहंकार का त्याग तप और भगवद्भक्ति से ही संभव है। राग और भोग त्याग कर सन्यासी को आत्मपीड़न की साधना करनी पड़ती है। तपस्वी ईश्वर की भक्ति पर अडिग आस्था और विश्वास करता है। गांधी जी ने अपने तप और आत्मशुद्धि के विभिन्न कार्यों द्वारा अपना व्यक्तिगत कल्याण ही नहीं किया बल्कि सारे समाज की आत्मा को एक अखंड उन्नति का अमर मंत्र दिया।

गांधी जी ऐसे तपस्वी थे, जिन्होंने अपने जीवन दर्शन में भोग और आनन्द को तिरस्कृत करके त्याग और तपस्या को प्रतिष्ठित किया। कला के क्षेत्र में गांधी जी ने शिव और सत्य पर ही विशेष बल दिया। सुन्दर को उन्होंने इन दोनों तत्वों में अभिन्न तत्व स्वीकार किया और उसका कलात्मक निषेध किया। गांधी जी ने कला की कसौटी और श्रेष्ठता पर उपयोगितावाद की मान्यता स्थिर की। जो लोग कला को केवल सौन्दर्य की वस्तु मानते हैं, उनसे गांधी का मतभेद था। उन्होंने कला का संबंध नीति, हितकारिता और उपयोगिता से सम्बद्ध किया। उनका विश्वास था कि सत्य ऊंची से ऊंची कला का श्रेष्ठ सौंदर्य है और नीति हितकारिता और उपयोगिता से भिन्न नहीं है।

गांधी जी ने संगीत की श्रेष्ठता प्रतिपादित की। उनकी दृष्टि में संगीत प्रार्थना और नैतिक उन्नति में सहायक है न कि उसमें किसी सुन्दरता का स्वरारोहण है, इसलिए उसे श्रेष्ठ माना जाए। वे मानते थे कि चित्र, संगीत और कला में बाह्य पक्षों की अपेक्षा आचरणगत शुद्ध अभिव्यक्ति मानव की नैतिक भावना का उच्चतम प्रकाशन है। उत्तम जीवन की भूमिका के अभाव में कला का सत्य चित्रण असंभव है। कला जीवन की अज्ञमय पराकाष्ठा है।

गांधी जी ने कला को आत्ममंथन का प्रसाद सिद्ध किया।

टालस्टाय ने मानव प्रेम, विश्वबंधुत्व और सहानुभूति सूचक करुणा को ईसाई धर्म की आधारशिला के रूप में स्वीकार किया था। गांधी ने भी उन सिद्धांतों को किसी धर्म विशेष की विभूति न मानकर सर्व जन के लिए प्रतिपादित किया।

कला के आन्तरिक और बाह्य स्वरूपों का अंतर करते हुए उन्होंने स्वीकार किया है कि समस्त, कला अंतर के विकास का आविर्भाव है।

जो कला आत्मदर्शन का साक्षात्कार नहीं कराती, व्यक्ति की आत्मा को स्पंदित नहीं करती, वह कला नहीं है। प्राकृतिक कलाकृतियों की अपेक्षा मानुषिक कला तुच्छ और अपूर्ण हैं। जिस कला में सत्य और ऊर्ध्वगामिनी प्रकृति की अभिव्यंजना होती है वही कला सच्ची कला है। गांधीवाद की सात्विक कला भावना आनन्द तथा सौंदर्य का तिरस्कार करती है। वह सत्य और तापसी कला सृजन में विश्वास करती है। गांधी जी का प्रमुख कार्यक्षेत्र राजनैतिक था। उनके अनुयायियों ने त्याग और अहिंसा को साधन मानकर जीवन में अपनाया। लोग उनकी जीवन प्रणाली ग्रहण कर उसे साध्य रूप से अपनाने में असफल रहे। भारत की विविध भाषाओं के साहित्य पर गांधीवाद का व्यापक प्रभाव पड़ा है।

गांधी जी की जीवन दृष्टि इतनी व्यापक थी कि अपने कर्म और इच्छा द्वारा उन्होंने मानव समाज को गांधीवादी चेतना में प्रभावित करने का यत्न किया। आचार्य जे. बी. कृपलानी ने गांधी जी का मूल्यांकन करते हुए कहा है– ''गांधी जी महान नैतिक और आध्यात्मिक देव थे। विश्व के बड़े से बड़े सुधारकों में उनका महत्वपूर्ण स्थान है। इसलिए भारतवासी उन्हें 'महात्मा' कहते थे। किन्तु यह बात भी कभी भूलने की नहीं कि गांधी जी महान सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और राजनैतिक मनीषी थे। उन्होंने देश की राजनैतिक और आर्थिक स्थिति का गहराई से अध्ययन किया था। वे यह जानते कि किन परिस्थितियों में कौन सा कदम उठाना चाहिए। उनमें यदि निर्णायक योग्यता न होती, तो देश के सामाजिक जीवन में अपने नैतिक और आध्यात्मिक सिद्धान्तों को वह इतना क्रांतिकारी और सफल न बना पाते।''[2]

''निष्क्रिय प्रतिरोध और सत्याग्रह में एक बहुत बड़ा और मूलभूत भेद है। यदि हम स्वयं निरंतर विश्वास करते चलते हैं और दूसरों को विश्वास करने देते हैं कि हम कमजोर और निःसहाय हैं तो हमारा प्रतिरोध हमें कभी भी मजबूत नहीं होने देगा और शीघ्र ही कमजोरों के अस्त्र के रूप में निष्क्रिय प्रतिरोध का परित्याग हम कर देंगे। दूसरी ओर यदि हम सत्याग्रही हैं और अपने को मजबूत समझते हुए सत्याग्रह करते हैं तो उससे दो स्पष्ट परिणामों की निष्पत्ति होती है। मजबूती के भाव का पोषण कर प्रतिदिन हम अधिक से अधिक मजबूत होते जाते हैं। अपनी मजबूती में वृद्धि के साथ ही साथ हमारा सत्याग्रह भी अधिक प्रभावशाली होता जाता है और उसका परित्याग कर देने की ओर हमारा झुकाव कभी भी नहीं हो सकता।''[3]

वस्तुतः गांधी जी के सत्य, अहिंसा और सेवा के सिद्धांतों का समन्वय करने से स्पष्ट हो जाता है कि उनकी राजनीतिक चेतना इन्हीं सेवागत अहिंसावादी सत्याग्रही विचारधारा का संगम है।

गांधी जी ने 10 मार्च 1920 ई0 को असहयोग की घोषणा करते हुए निःशस्त्र राज्यक्रांति की तात्विक उत्पत्ति की। उन्होंने सहयोग के घोषणापत्र में कहा था : ''जो व्यक्ति या राष्ट्र हिंसा को छोड़ देता है, उसमें इतना बल आ जाता है कि उसे कोई रोक नही सकता। परंतु अब मैं अव्यवहार्यता या निष्फलता के आधार पर हिंसा का विरोध कर रहा हूं। हमारे सामने एक रास्ता है– असहयोग। वह सीधा, वह साफ मार्ग है, हिंसात्मक न होने से वह कारगर भी उतना ही होगा। सहयोग से जब अधःपतन या अपमान होने लगता है या हमारी धार्मिक भावनाओं को चोट पहुंचती है तो असहयोग भंग हो जाता है। जो असहयोग न करे उनका सामाजिक बहिष्कार करना ठीक नहीं। स्वयंप्रेरित असहयोग जनता की भावना व असंतोष की कसौटी है। सैनिक को फौजी

2. गांधी (एक राजनैतिक अध्ययन) आचार्य जे0 बी0 कृपलानी , पृ0 7
3. हन्ड्रेड ग्रेट माडर्न लाइब्ज– सं0 जान केनिंग, पृ0 366

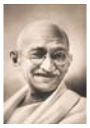

नौकरी छोड़ने को कहना असामयिक है, वह पहली नहीं आखिरी सीढ़ी है। असहयोग का एक–एक कदम हमें बहुत सोच विचारकर उठाना होगा। अत्यंत प्रखर वातावरण में भी हमें आत्मसंयम रखना होगा। इसलिए हमें आहिस्ते कदम ही चलाना होगा।''[5]

अहिंसा में द्वेष का अभाव रहता है, प्रेम की प्राप्ति होती है। अहिंसा अलौकिक प्रेम है जिसमें स्वार्थ, मोह, आसक्ति के लिए कहीं कोई स्थान नहीं है। अहिंसा सिद्धांत में घृणा और विद्वेष का त्याग तथा निष्काम भाव से चराचर के प्रति प्रेम का समन्वय किया गया है।

इस घोषणा पत्र ने देश की जनता में आत्मविश्वास पैदा किया। विदेशी सत्ता को मनमानी करने से रोकने के लिए देश में शांतिमय क्रांति प्रारंभ हुई। अगस्त, सन् 1920 ई0 को कलकत्ता कांग्रेस में उपाधियां, तगमे, बिल्ले आदि लौटाने, सरकारी दरबार, उत्सव आदि समारंभों से असहयोग करने, सरकारी या अर्ध सरकारी पाठशालाओं का बहिष्कार करने, धारासभाओं या मतदान का निषेध तथा विदेशी माल के बहिष्कार करने का प्रस्ताव पास हुआ। कांग्रेस ने स्वराज्य प्राप्ति के अपने पुराने ध्येय को औपनिवेशिक विधियों से बदलकर उचित व शांतिमय ढंग से स्वराज्य के लक्ष्य में परिवर्तित कर दिया। स्वतंत्रतावादी दल असहयोग आन्दोलन में सारे देश का सम्मान और स्वतंत्रता की शांति चेतना की संचित शक्ति लेकर जनजीवन में प्रविष्ट हुआ। गांधी जी ने पूर्व प्रचलित जागृति को बुद्धिजीवियों और पढ़े लिखे लोगों की सीमा से मुक्त करके राष्ट्रीय संदेश और सहयोग मंत्र का भारत की जनता के हृदय में जागरण किया। जनजीवन के सुख दुख के वे सक्रिय चेतना पुंज थे। उन्होंने कांग्रेस को केवल राजनीति की चारदीवारी में ही न रखकर सामाजिक और आर्थिक पक्षों को भी उसका अनिवार्य अंग बना दिया। उन्होंने राजनीति को साधन मानकर जीवन में अवतरित कर्म की प्रतिष्ठा की। राष्ट्र को उन्होंने अहिंसा का अस्त्र प्रदान किया। उन्होंने पहले ही दक्षिण अफ्रीका में अपनी शांति आंदोलन की अग्नि परीक्षा दे दी थी। सत्याग्रह और सविनय अवज्ञा राष्ट्र के लिए महत्कार्य सिद्ध हुए। सत्याग्रह द्वारा उन्होंने जनचेतना के सत्यपक्ष और स्वतंत्रता की सार्थक प्रतिष्ठा की। गांधी जी की प्रेरणा से निरंतर अहिंसक आन्दोलनों द्वारा देश उद्‌बुद्ध होता रहा और आकांक्षित स्वतंत्रता प्राप्त हुई। सविनय अवज्ञा आन्दोलन अपने अधिकारों के लिए लड़ते हुए किसी के प्रति शत्रुता और द्वेष न उत्पन्न करने से सम्बद्ध था। इस अवज्ञा आन्दोलन में उन्होंने स्वतंत्र मानवता की चेतना सन्निहित की और विश्व कल्याण की भावना को समाज और जीवन में प्रतिष्ठित किया। उन्होंने सत्याग्रह के मंत्र द्वारा स्वतंत्रता आन्दोलन के ध्येय को विश्व मानवता के कल्याण से प्रेरित किया। गांधी जी का व्यक्ति आदर्श प्रेरित था किन्तु उन्होंने यथार्थ से संपर्क नहीं तोड़ा। इस अनिवार्य यथार्थ संपर्क के बिना उनके सिद्धांत दार्शनिकों के सिद्धांत बनकर रह जाते। गांधी जी के नेतृत्व में सारा राष्ट्र एक प्राण हो उठा और देश में सामूहिक एकता प्रारम्भ हुई। उन्होंने स्वदेशी आन्दोलन द्वारा अपनी सार्वभौम राष्ट्रीयता को विस्तृत किया। उनका यह कार्य देश की आर्थिक स्वतंत्रता की भूमिका थी। गांधी जी के राष्ट्रीय कार्यकाल में जनजीवन की धार्मिक चेतना कम महत्वपूर्ण नहीं है। धार्मिक एकता की सिद्धि के लिए उन्होंने राष्ट्रभाषा की समस्या के आधार पर हिन्दी–उर्दू की एकता का प्रयत्न किया। मानव धर्म का अवलंब लेकर उन्होंने धार्मिक एकता स्थापित की।

टालस्टाय ने मानव प्रेम, विश्वबंधुत्व और सहानुभूति सूचक करुणा को ईसाई धर्म की आधारशिला के रूप में स्वीकार किया था। गांधी ने भी उन सिद्धांतों को किसी धर्म विशेष की विभूति न मानकर सर्व जन के लिए प्रतिपादित किया।

गांधी जी ने देशवासियों में राजनीतिक चेतना जागृत करने के लिए जिस कार्य पद्धति को अपनाया वह स्वराज्य, राष्ट्रीय शिक्षा और विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार था। उन्होंने वृहत् जन आन्दोलन की निर्धारक शक्तियों को आत्मिक सत्याग्रह की चेतना प्रदान की।

अन्याय और असमानता के विरूद्ध क्रोध और ईर्ष्या से रहित जो नैतिक शक्ति गांधी जी ने दी उससे देश की अविस्मरणीय सभ्यता के आध्यात्मिक मूल्यों का उपयोग भारत के स्वतंत्रता आन्दोलन में हुआ।

5. आधुनिक भारत : शंकर दत्तात्रेय जावेड़कर–अनुवादक, हरिमाऊ उपाध्याय, पृ0 181

गांधी जी ने सन् 1929 ई0 में घोषणा की थी कि ब्रिटिश सरकार, भारत को डोमिनियन का दर्जा देने के पक्ष में है। छुआछूत के विरूद्ध जो आन्दोलन चला वह सफल रहा। राष्ट्रवाद की भावना केवल नगरों तक सीमित न रहकर जनसाधारण में तीव्रता से फैलने लगी। गांधीवादी अर्थशास्त्र, वर्ग संघर्ष पर नहीं प्रेम और सहृदयता पर आधारित था। उनका समाजवाद, जीवन के सरलीकरण और विकेन्द्रीकरण में चरखा और पंचायत राज्य की कल्पना से प्रारंभ हुआ।

सन् 1935 ई0 में गवर्नमेंट आफ इंडिया ऐक्ट का नया संविधान देश में लागू हुआ। ऐक्ट में प्रांतीय स्वायत्त सत्ता की कार्यरत व्यवस्था में भाग लेने का अधिकार मिला। इस ऐक्ट ने स्वतंत्रता मिलने तक देश को स्वाधीन परिस्थितियों के अनुकूल लक्ष्य की ओर प्रेरित किया। सन् 1939 ई0 में विभिन्न देशों द्वारा जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा हुई। उससे भी भारतीय स्वतंत्रता की चेतना अनवरत जाग्रत होती रही। सन् 1935 ई0 में जहां स्वतंत्रता के लिए द्वार उन्मुक्त हुआ वहीं पश्चिम में फासिस्टवाद की प्रतिक्रिया भी प्रारंभ हुई। सन् 1935 ई0 के आसपास विचार और राजनीति के क्षेत्र में समाजवाद और साम्यवाद का उदय हुआ। मजदूर के साथ किसान भी उठ खड़ा हुआ। इन दिनों आर्थिक समानता पर विशेष बल दिया गया, जिसका स्वाभाविक विकास भारत के लिए अत्यंत मूल्यवान सिद्ध हुआ। गांधी जी के हृदय परिवर्तन के सिद्धांत के स्थान पर समाजवाद और साम्यवाद के सिद्धांतों ने उग्र नीति और क्रांतिवाद का पोषण किया। राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ ही आर्थिक स्वतंत्रता के प्रयत्न होने लगे और दिनोंदिन देश स्वाधीनता प्राप्ति की ओर बढ़ता गया। अंग्रेजों के विरूद्ध सन् 1947 ई0 में जो क्रांति हुई, उससे भारत ने अंग्रेजों की सहमति से बिना रक्तपात के 15 अगस्त सन् 1947 ई0 को स्वाधीनता प्राप्त की। देश का विभाजन एक दुर्भाग्य था। स्वतंत्र भारत की सामाजिक चेतना जनतंत्र में विश्वास करती है। विश्व बंधुत्व और पंचशील के आदर्श को भारत सारे विश्व में व्यवस्थित कर रहा है।

जब देश में आत्मनिर्भरता का भाव जागता है और मनुष्य सुख सुविधाओं से संपन्न रहता है तब संपूर्ण मानवता एकीकृत हो जाती है। पूर्व और पश्चिम की सीमाएं समाप्त हो जाती है और केवल मानवीय चेतना का विकास स्थिर रह जाता है। मनुष्य की सांस्कृतिक चेतना की संवेदना शक्ति तभी जागृत होती है जब उसके सांस्कृतिक तत्वों का ऐश्वर्य, विश्व समृद्धि में तल्लीन हो जाए। साहित्यिक चेतना ने सदैव देश की सामाजिक चेतना के साथ पदनिक्षेप किया है और संसार को विश्व युद्ध से बचाने के लिए मानवतावादी संस्कृति की प्रेरणा दी है। भारतीय संस्कृति और साहित्य मानवतावादी उच्च संकल्प और कर्तव्य पालन की श्रद्धा जागृत करता है। समदृष्टि और न्यायबुद्धि के प्रचलन से भारतवर्ष की सांस्कृतिक चेतना नवजीवन की ओर साहित्य में अग्रसर थी। सारे समाज की परिस्थितियां, कष्ट और दुःख, मानव जीवन का कल्याणस्पद संतुलन है। सामाजिक चेतना के साहित्यिक दायित्व को बोध कराते हुए कहा गया हैः ''आज जब हम तात्कालिक यथार्थ को देखते हैं तो आदमी बहुत दूर प्रतीत होता है किन्तु यह दूरी ठीक उस अनुपात में हैं जिससे हमारे पुरातन निर्जीव संस्कार हमसे युक्त हैं। केवल भारत में ही नहीं विश्व के प्रत्येक देश में एक ओर यदि उस नई चेतना का स्फुरण है तो दूसरी ओर वे संस्कार भी लगे हुए हैं, जिन्हें त्याग देना ही उचित है। भारतीय व्यक्तित्व में एक ओर यदि नवजीवन का विकासमान उन्मेष है, तो दूसरी ओर पुरातन कपालों और कंकालों की राशि भी। भारत बदला है, किन्तु कितना बदला है? जाति–पाति के विषय में, विधवा विवाह के विषय में, एक बौद्धिक उदारता अवश्य हमें दिखाई देती है। किन्तु क्या अपने अंतरंग से हमने सचमुच ऐसे तत्वों को निकाल फेंका है? नहीं। यद्यपि नूतन जन्म ले चुका है, तथापि हमारे व्यक्तित्व का पूर्ण नव संस्कार नहीं हुआ है। हमारे अन्दर पुरातन का कठोर केन्द्र है जिसे चकनाचूर किए बिना हम नये विश्व के योग्य नहीं बन सकते। जो हमें स्वीकार कर लेना था उसे हमने स्वीकार कर लिया है किन्तु जो हमें त्याग देना था उसे हमने त्यागा नहीं है। हमारे विचार से नए भारत की चेतना दिशा को देखते हुए यह एक आवश्यक कार्य है।

डॉ. रत्नाकर पाण्डेय
पूर्व सांसद (राज्यसभा)
फ्लैट 2–4, प्लाट नं. 113–114
कृष्ण कुंज, लक्ष्मीनगर
दिल्ली–110092

डा. सैयद हसन मुज्तबा रिज़वी

भारतीय संस्कृति : धार्मिक सहिष्णुता की परिचायक

संस्कृति की अनेक परिभाषाएं हैं। मानव वैज्ञानिक, जो संस्कृति के अध्ययन के विशेषज्ञ हैं, किसी एक परिभाषा पर एकमत नही है। हाँ, सभी इस तथ्य से अनभिज्ञ नहीं हैं कि संस्कृति ज्ञानोन्मत व्यवहार है अर्थात् वह व्यवहार जो उसके पूर्वजों ने ज्ञान की परिधि में उन्मुक्त भाव से अपने आदिजनों से ग्रहण कर उदारतापूर्वक अपने वंशजों को विरासत में दिया।

उत्खनन से प्राप्त अवशेषों के अध्ययन के आधार पर पुरातन संस्कृतियों एवं सभ्यताओं का अनुमान लगाया जा सकता है। संस्कृति का जन्म मानव के प्रादुर्भाव से संबंधित है। मानव वैज्ञानिकों का विश्वास है कि आधुनिक मानव के शरीर की संरचना जिस स्वरूप में आज है, वह तीस हजार वर्ष पूर्व के मानव शरीर से भिन्न है। जिस प्रकार शारीरिक रचना गतिमान है उसी प्रकार मानव संस्कृति भी परिवर्तनशील है। गुफाओं और कन्दराओं में रह, जंगली जानवरों का शिकार कर जीविकोपार्जन करने वाले मानव और आधुनिक मानव के मध्य निरन्तर संबंध बनाए रखने वाली कड़ी ही संस्कृति है। आज, संस्कृति का क्या स्वरूप है, संभवतः इस पर कोई विशेष चिंतन नहीं किया गया है।

मानव विज्ञान संबंधी साहित्य में संस्कृति की लोकप्रिय परिभाषा है 'मानव के अनुभवों में सहभागिता'। यही अनुभव इसे जाति विकास पथ पर मिले और जिनको उसने अपनी संतानों को दिया। इन्हीं अनुभवों के योगफल पर संस्कृति की नींव पड़ी।

आधुनिक युग में राजनीति, धर्म एवं संस्कृति के उन पहलुओं को आधार बना रही है जो धार्मिक एवं सांस्कृतिक निरक्षरता से ओत–प्रोत हैं। जिस प्रकार अक्षर ज्ञान के बिना मानव दूसरों के अनुभवों, विचारों से अनभिज्ञ रहता है उसी प्रकार यदि सांस्कृतिक साक्षरता नही है तो वह न केवल जड़ शून्य है, वह कूपमंडूक भी है और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' जैसे सिद्धांत के प्रति संज्ञाहीन है।

भारत में अनेक विभिन्न संस्कृतियों की धाराएं उन व्यक्तियों, मानव समूहों के साथ आयीं जो भिन्न–भिन्न ध्येय लेकर इस भूमि पर अन्य देशों, क्षेत्रों से आये। ये अपने साथ उन सांस्कृतिक परम्पराओं को भी लाए जो उनके समाज, जाति की धरोहर थीं। इस प्रकार स्थानीय एवं सीमा से पार की संस्कृतियों के मध्य आचार–विचार का विनिमय हुआ। फलस्वरूप नर्म परम्पराओं का जन्म हुआ, रीति–रिवाजों की नींव पड़ी और एक मिश्रित संस्कृति का विकास हुआ।

नूतन समाज की संरचना हुई। सांस्कृतिक मतभेदों, विवादों, असमानताओं एवं कुण्ठाग्रस्त भावनाओं से ऊपर उठकर, सहअस्तित्व का लक्ष्य साधकर एक दूसरे के विषय में जानने की रुचि को प्रोत्साहित किया। हमारी मिश्रित संस्कृति का सूत्रपात इसी धुरी पर आश्रित है। यह सांस्कृतिक साक्षरता का परिणाम था कि रामायण, महाभारत का फारसी भाषा में अनुवाद हुआ। वेद में निहित दर्शन के विस्तार हेतु उनका भी अनुवाद किया गया। फारस एवं मध्य एशिया मूल के शासकों ने जिस प्रकार भारत में प्रचलित संस्कृत भाषा में लिखे ग्रंथों का अनुवाद करवाया उसी प्रकार अंग्रेज शासकों ने भारतीय दर्शन एवं संस्कृति को समझने के लिए फारसी एवं संस्कृत में अनुवादित ग्रंथों का अंग्रेजी में अनुवाद किया।

हिंदू धार्मिक एवं बुद्धि जैविक चिन्तन की मुख्य धारा के स्रोत संस्कृत साहित्य में विद्यमान हैं। इस साहित्य में म्लेच्छ अथवा पराकिया जैसे शब्दों का शाब्दिक अर्थ था 'वह जो स्थानीय नहीं हैं'। मुसलमान शब्द की अनुपस्थिति इस तथ्य की

परिचायक थी कि इस काल के साहित्य में इस्लाम धर्म पर अथवा मुसलमान पर कोई टीका–टिप्पणी नहीं की गई थी। संस्कृत साहित्य की रचना मुख्यतः दक्षिण भारत एवं उड़ीसा क्षेत्र के राजपूत शासकों के संरक्षण में हुई। आस्थाओं एवं विश्वास से संबंधित साहित्य संकीर्णवाद से प्रेरित था। इस साहित्य में अधिकतर पुराणों पर धर्मशास्त्रीय टीकाओं तथा टिप्पणियों के अतिरिक्त माधव का दर्शनशास्त्रीय साहित्य भी था। इनके साथ–साथ चिकित्सा शास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, भाषा शास्त्र, शब्द कोष संकलन, पद्य, संगीत एवं श्रृंगार/प्रेम जैसे लोकप्रिय विषय भी थे, जिनमें साहित्य रचना हो रही थी। इस रचनात्मक प्रक्रिया में मुसलमानों का योगदान एवं संरक्षण लगभग नगण्य था। अकबर के पूर्व तक यथास्थिति बनी रही।

ऐसा विश्वास है कि हिन्दू साहित्य में मुसलमानों का योगदान आरम्भ हुआ गजनी के महमूद से, जिसने कलिंजर के चंदेल राजा को परास्त करने पर स्वयं के अभिनंन्दन में लिखी गयी कविताओं के लेखकों को किले भेंट में दिए तथा सम्मान पत्र दिए। गजनी के विध्वंसक अलाउद्दीन जहांसूज के दरबार में केदार (1150 ई.) कवि की उपस्थिति के विषय में प्रमाण उपलब्ध है। जलालुद्दीन खिलजी (1290-6) संभवतः प्रथम सुलतान था जिसके शासन में हिंदू शास्त्रों एवं संस्कृत साहित्य में अनुवादकों की रूचि देखने को मिलती है। मुहम्मद बिन तुगलक हिंदू योगी एवं जैन संतों के संपर्क में था। इसके शासन में (1330 ई.) जमालुद्दीन नक्शाबी ने 52 संस्कृत कथाओं का फारसी में अभियोजन कर 'तूतीनामा' (शाब्दिक अर्थ 'तोते की पुस्तक') शीर्षक से पुस्तक लिखी। फारसी साहित्य में इसी धारा पर अनेक रचनाएं की गईं जो तुर्की और प्रारम्भिक उर्दू साहित्य में भी अपनी पहचान बनाने लगीं। एक ओर नक्शाली ने कुछ कहानियों में हिंदू तत्व एवं लोकाचार बनाए रखा वहीं फारसी एवं उर्दू भाषा में इस धारा की रचनाओं में नाम तथा स्थानों को पैगम्बर मुहम्मद के जीवन की घटनाओं से जोड़ दिया।

फीरोज़ तुगलक की धार्मिक नीतियों के बाद भी संस्कृत शिक्षा के क्षेत्र में राजकीय संरक्षण अबाधित रहा। उसने संस्कृत में उपलब्ध चिकित्सा शास्त्र संबंधी पुस्तकों का फारसी में 'दलाइले फीरोज़शाही' शीर्षक के अंतर्गत अनुवाद करवाया। इसके अतिरिक्त संगीत एवं मल्लयुद्ध जैसी कलाओं पर पुस्तकें अनुवाद की गई। अकबर के शासन काल में यह सांस्कृतिक आदान–प्रदान विस्तीर्ण हुआ। इसी काल में राजा मनोहर दास उर्फ टोडरमल (1528–89 ई.) ने भगवतपुराण का फारसी में अनुवाद किया। अकबर के दरबार में अन्य मुसलमान सभासद जैसे अब्दुलरहीम ख़ानेख़ाना, अबुल फज़ल और फैज़ी संस्कृत का ज्ञान रखते थे। इससे पूर्व कश्मीर के सुल्तान जैनुल आबिदीन (1420–70) ने संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रंथ राजतरंगिनी की रचना में प्रसिद्ध चिकित्सक श्रीभट्ट एवं संस्कृत के अन्य पंडितों की सहायता की, जिन्होंने महाभारत का अनुवाद कश्मीरी में किया।

इस प्रकार अनुवाद का सिलसिला आरम्भ हुआ और उस समय के कुछ प्रसिद्ध अनुवादक थे इब्राहीम सरहिन्द, बदायूंनी, ताकिब ख़ान, मुल्ला शाह, मोहम्मद सुल्तान थानेशरी। कृष्ण जोशी, गंगाधर, महेश महानन्द, देवी मिश्रा, संत वधवा, मधुसूदन मिश्रा, चतुर्भुज और भवन जैसे संस्कृत पंडितों ने इन अनुवादकों की सहायता की। महाभारत, रामायण और पुराण का प्रभाव अमीर हमज़ा के प्रसिद्ध काव्य दास्तान में मिलता है। हितोपदेश का फारसी अनुवाद 'मुफर्री–अल–कुलूब' शीर्षक से ताज्जुलमाली ने किया।

अकबर के दरबार से संबंधित जैन साहित्य में प्रमुख है 'हीरा सौभाग्यम्' जिसके लेखक थे देव विमल जिन्होंने अकबर के दरबार में जैन साधुओं के भ्रमण का विवरण दिया था। इसी प्रकार खेमचंद की जीवनी का भी उल्लेख मिलता है जिन्होंने अकबर के दरबार में जैन साधुओं का परिचय दिया था। उनकी इस जीवनगाथा के लेखक थे जयसोम। संक्षिप्त में यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार हिंदू एवं मुसलमान बुद्धिजीवी परम्पराएं एक दूसरे की पूरक बन सहवास करने लगीं, किंतु एक दूसरे में विलीन नहीं हुईं। हिन्दू बुद्धिजीवी परम्पराओं ने मुगल परिवारों को प्रभावित किया

मानव विज्ञान संबंधी साहित्य में संस्कृति की लोकप्रिय परिभाषा है 'मानव के अनुभवों में सहभागिता'। यही अनुभव इसे जाति विकास पथ पर मिले और जिनको उसने अपनी संतानों को दिया। इन्हीं अनुभवों के योगफल पर संस्कृति की नींव पड़ी।

जिसका ज्वलंत उदाहरण है जहांगीर की रचना 'उजुक'। इसमें ब्राह्मणाश्रम की चार शाखाओं का समाजशास्त्री आधारित लेख, 'सती प्रथा' पर टिप्पणी एवं सूफीवाद का वेदान्त के समकक्ष प्रतिपादन।

शाहजहाँ के दरबार में जहां सुन्दरदास एवं चिंतामणि नामक कवियों का विशेष सम्मान किया जाता था वहीं दूसरी ओर कविन्द्राचार्य जैसे लेखक का भी सम्मान होता था जिन्होंने ऋग्वेद की व्याख्या की थी। शाहजहां के दरबारी कवियों में प्रमुख थे कवि जगन्नाथ मिश्र जिन्होंने जहां एक ओर दारा–शिकोह के सम्मान में संस्कृत में लिखा, वहीं दूसरी ओर गंगा, यमुना एवं सूर्य की स्तुति भी लिखी। दारा शिकोह संस्कृत का पंडित था। औरंगजेब की कट्टर सुन्नी इस्लाम नीति के रहते हुए भी हरीराम, वाराणसी के चंचूराज तथा फाटन मिश्र जैसे बुद्धिजीवियों ने दारा शिकोह के संरक्षण में वाराणसी तथा प्रयाग जाने वाले तीर्थ यात्रियों पर कर न लगाने की मुगल शासन से गुहार की। औरंगजेब का हिन्दू संस्कृति के प्रति नकारात्मक रवैया होने के बाद भी उसके दरबार में इन्द्रजीत त्रिपाठी तथा सामंत जैसे बुद्धिजीवी एवं कवि की उपस्थिति इस तथ्य का प्रमाण है कि हिंदू एवं मुसलमान संस्कृतियां समभाव, समकक्ष एवं सामंजस्य की स्थिति में थीं। औरंगजेब के एक दरबारी सभासद फज़ल अली ख़ान, कवि जयदेव, सुखदास मिश्र एवं नाथंड के सरपरस्त थे। वर्ष 1695 में मुंशी सुजान राय द्वारा रचित "खुलासतल तवारीख़" इतिहास की वह रोचक रचना है जो एक हिंदू ने फारसी भाषा में लिखी है।

इसी प्रकार के अनेक उदाहरण भारतीय इतिहास में बिखरे पड़े हैं। सीमित लेख में इन सब का समावेश लगभग असंभव है। किंतु ये उदाहरण साक्षी हैं कि

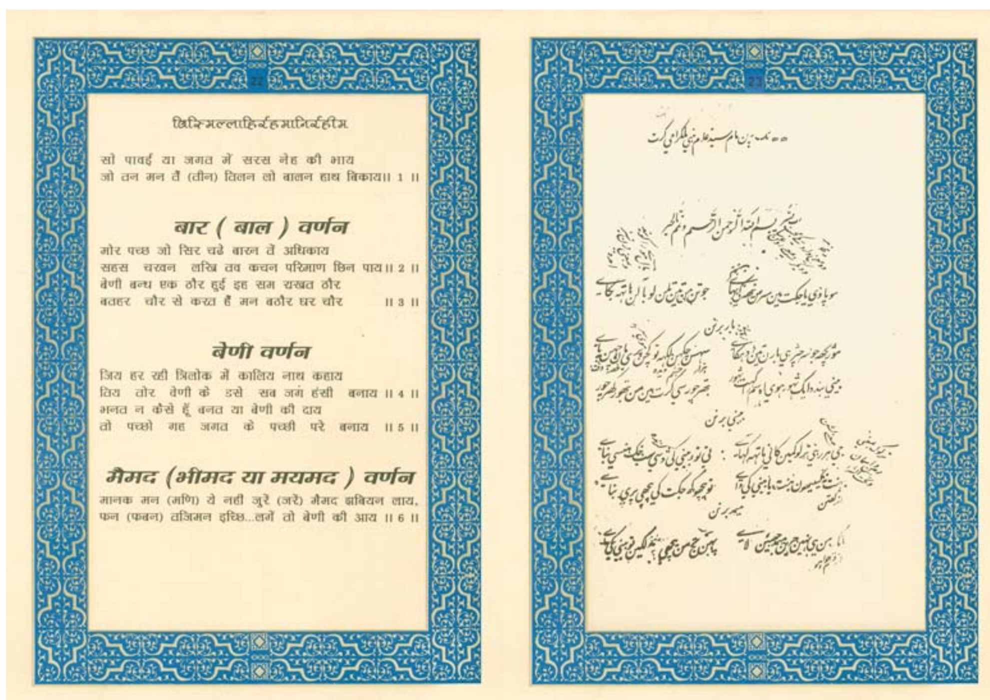

बिस्मिल्लाहिर्रहमानिर्रहीम

सो पावई या जगत में सरस नेह की भाय
जो तन मन तैं (तीन) तिलन लो बालन हाथ बिकाय॥ 1 ॥

बार (बाल) वर्णन

मोर पच्छ जो सिर चढे बारन तें अधिकाय
सहस चखन लखि तव कचन परिमाण छिन पाय॥ 2 ॥
बेणी बन्ध एक ठौर हुई इह सम रखत ठौर
बतहर चौर से करत हैं मन बठौर घर चौर ॥ 3 ॥

बेणी वर्णन

जिय हर रही त्रिलोक में कालिय नाथ कहाय
तिय तोर बेणी के डसे सब जग हंसी बनाय ॥ 4 ॥
भनत न कैसे हूँ बनत या बेणी की दाय
तो पच्छो गह जगत के पच्छी परे बनाय ॥ 5 ॥

मैमद (भीमद या मयमद) वर्णन

मानक मन (मणि) ये नही जुरे (जरे) मैमद झबियन लाय,
फन (फबन) तजिमन इच्छि...लगें तो बेणी की आय ॥ 6 ॥

सैयद गुलामनबी रसलीन बिलग्रामी के 'अंग दर्पण' से

सौजन्यः रामपुर रजा लाइब्रेरी, रामपुर

भारतीय संस्कृति में हिंदू एवं मुसलमान दोनों की सहभागिता एवं योगदान अभूतपूर्व है। जिस प्रकार दो संस्कृतियों के मध्य आदान–प्रदान हुआ, उसी प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र में भी दो भिन्न धर्मों के अनुयायियों के अंतर्नुभवों के उदाहरण कम नहीं हैं। यही वह अनुभव थे, जिन्होंने सूफी एवं भक्ति परम्पराओं को जन्म दिया। भारत ही विश्व का एकमात्र देश है जहां ये दो विभिन्न परम्पराएं एक दूसरे में इस प्रकार समा जाती हैं जिस तरह गंगा एवं यमुना की धारा में सरस्वती।

देवनागरी लिपि में लिखी आधुनिक हिंदी भाषा का प्रादुर्भाव हुआ उन्नीसवीं शताब्दी में, जो हिंदू पुनर्रूत्थान की ओर एक सजग प्रयत्न था। प्रसिद्ध भाषाविद् गिर्यसन का मानना है कि हिंदी का पूर्व स्वरूप विभिन्न स्थानीय बोलियों में बंटा हुआ था जैसे अवधी, बुंदेली, ब्रजभाषा, राजस्थानी खड़ी बोली इत्यादि। मलिक मोहम्मद जायसी की प्रसिद्ध रचना पद्मावत से पूर्व हिंदी में मृगवती की रचना कर चुके थे जो सीता की भूमिका से प्रभावित होकर लिखी गई थी। इसी प्रकार मंझान की रचना मधुमालती का स्वरूप किन्तु जायसी (1493–1542) की पद्मावत उस मुसलमान चिन्तन का उदाहरण है जो धर्म के बंधन से

ऊपर उठ एक मुक्त भाव है। जायसी की भाषा शुद्ध अवधी है और लिपि फारसी। उस्मान की 'चित्रावली' (सन् 1613 ई.) शेख नबी की 'ज्ञान दीपक' (सन् 1619 ई.) कासिम शाह की 'हंस जवाहर' सन् 1713 ई. और सन् 1744 में लिखी नूर मोहम्मद की 'इन्द्रावती' उस समय की हिन्दी की प्रमुख एवं प्रसिद्ध रचनाएं हैं।

इसी कड़ी में कश्मीर के 'सहज कोसम' के स्रोत का दावा है कि मुगल साम्राज्य के राज्यपाल अलीमर्दान खान ने 17वीं शताब्दी में अपनी एक साक्षात अनुभूति के आधार पर शिव स्तुति की रचना की जो फारसी भाषा में है। यह स्तुति इस तथ्य का प्रमाण है कि आध्यात्मिक स्तर पर मत, पंथ धर्म का बंधन नहीं रहता।

मुगल साम्राज्य के राज्यपाल अलीमर्दान खान ने 17वीं शताब्दी में अपनी एक साक्षात अनुभूति के आधार पर शिवस्तुति की रचना की जो फारसी भाषा में है। यह स्तुति इस तथ्य का प्रमाण है कि आध्यात्मिक स्तर पर मत, पंथ धर्म का बंधन नहीं रहता।

रचना में मन की अनुभूति सांस्कृतिक वातावरण से प्रभावित है, यह इस तथ्य को उजागर करती है। अलीमर्दान खां लिखते हैं :

हुमा असले महेश्वर बूद, शब शाहे कि मन दीदम्।
गजनफर धर्म दर वार बूद, शब शाहे कि मन दीदम्।।

(मैंने एक रात देखा कि वह वास्तव में महेश्वर थे जिन्होंने चमड़े के वस्त्र धारण किए हैं)

जि भस्मश जाम–ए–बर तन, जुनारश मार बर गर्दन।
खानश गंग बर सर, बूद, शब शाहे कि मन दीदम।।

(उनके तन पर भस्म मली हुई थी, यज्ञोपवीत के रूप में उनके गले में सर्प था और उनकी जटाओं से गंगा बह रही थी)

सेह चशमश बर जबी दारद, जिमेहरो माह रौशन तर।
सेह कारन दस्त बस्तह बूंद, शब शाहे कि मन दीदम्।।

(उनके ललाट पर तीन नेत्र थे जो सूर्य चन्द्रमा से भी अधिक दीप्तिमान थे। उनके समक्ष ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीनों हाथ जोड़े खड़े थे)

दस्तश आबे कौसर यक नाकूसी नीलोफर।
हिलालश ताज बर सर बूद, शब शाहे की मन दीदम।।

(उनके हाथ में अनन्त कलश था साथ में एक शंख और कमलपुष्प, उनके सर पर प्रथम चन्द्रकला का मुकुट था)

उभा अज सोई चप बिंगर जी सद खुर्शीमद ताबांतर।
सवारश कुल्बेनर बूद, शब शाहे कि मन दीदम।।

(उनके साथ उमा दिखाई दीं जो सैकड़ों सूर्यों से भी अधिक दमक रही थीं, उनकी सवारी के लिए नन्दी मौजूद था)

अजब सन्यासे दीदम नमो नारायणा गुफ्तम।
व खाके पाए बोसीदम शब शाहे की मन दीदम।।

(इस प्रकार मैंने एक विचित्र सन्यासी के दर्शन किए। मैंने उन्हें नमो नारायण कहा और उनकी चरण रज को चूमा)

मनम मर्दान अलीखानम गुलामे शाही शाहानम्।
अजब इसरार में बीनम शब शाहे की मन दीदम।।

(मैं, राजाओं के राजा का दास, अली मर्दान खान, ने इस विचित्र रहस्य को एक रात देखा)।

उपरोक्त शिव स्तुति केवल एक उदाहरण है मुशतरका संस्कृति अर्थात सांझी संस्कृति का, जो हमें विरासत में मिली है। अमीर खुसरो (1253–1325) की रचना 'नूर सिपहर' में भारत की महानता के पक्ष में जो दस तर्क प्रस्तुत किए हैं उनमें चौथा तर्क है :

हुज्जते चहारूम रखमे हिंद सह बीन
कहले जहां बाजे न दीदन्त चुनीत
हम वध की सिपर केह नक्शीत तेही
बीन चेह रमूजस्त च हज्ज़ीश देही

अर्थात् ''चौथा तर्क इल्मे हिंदसा है (अंक विद्या) या अंकों को लिखने का ढंग है जिसका उदाहरण संसार में कहीं नहीं मिलता। हिंदसा देन है भारत की इस विश्व को। हिंदसा (हिंद्+असा) विद्या का जनक था असा नाम का ब्राह्मण, जिसने अंक प्रणाली का परिचय अरबों को कराया था। अतः उसी के नाम से हिंदसा शब्द का प्रचलन हुआ।

यही भारतीय संस्कृति है जिसने कला जगत में सितार, शहनाई का परिचय विश्व संस्कृति से कराया और भारतीय व्यंजनों का चलन यूरोप और अमरीका के घरों में बढ़ने लगा। हिंदी फिल्मों की लोकप्रियता विदेशों में बढ़ती जा रही है और भारतीय मूल के अनेक कलाकारों की मांग हालीवुड में हो रही है। किसी भी क्षेत्र की संस्कृति की परिपक्वता वहां के निवासियों की भावनाओं से प्रेरित होती है, जो अपनी परम्पराओं से जुड़े रहते हैं।

हिंदू, मुसलमान, सिख, ईसाई, बौद्ध, जैन इत्यादि धर्मों के अनुयायी शांतिपूर्ण सह–अस्तित्व की धुरी पर भारतीय संस्कृति को न केवल गतिमान बनाए रखे हैं, अपितु इसको सुदृढ़ एवं व्यापक बनाने के प्रयासों में तल्लीन हैं और यही भारत की आध्यात्मिक आत्मा है। भारत की परिभाषा देते हुए डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन लिखते हैं :

हिमालय समारभ्य यादव बिन्दु सरोवरम्
हिन्दुस्तान भितिख्यातम् आद्यान्ताक्षर योगतः

सैयद गुलामनबी रसलीन बिलग्रामी के 'अंग दर्पण' से

भारतीय संस्कृति में हिंदू एवं मुसलमान दोनों की सहभागिता एवं योगदान अभूतपूर्व है। जिस प्रकार दो संस्कृतियों के मध्य आदान–प्रदान हुआ, उसी प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र में भी दो भिन्न धर्मों के अनुयायियों के अंतर्नुभवों के उदाहरण कम नहीं हैं। यही वह अनुभव थे, जिन्होंने सूफी एवं भक्ति परम्पराओं को जन्म दिया। भारत ही विश्व का एकमात्र देश है जहां ये दो विभिन्न परम्पराएं एक दूसरे में इस प्रकार समा जाती हैं जिस तरह गंगा एवं यमुना की धारा में सरस्वती।

अर्थात्

हिमालय से लेकर बिन्दु सरोवर तक जो देश है वह हिमालय के अक्षर 'हि' और बिन्दु के अन्तिम अक्षर 'न्दु' को मिलाकर हिंदु बनता है। इस सीमा में निहित क्षेत्र हिन्दुस्तान कहलाता है।

इस देश में लोग चाहे किसी भी धर्म या सम्प्रदाय के मानने वाले ही क्यों न हों किसी भी जाति के प्रतिनिधि क्यों न हों, किसी भी समाज के सदस्य क्यों न हों सभी मिश्रित संस्कृति के साझेदार हैं क्योंकि हिंदु शब्द सम्प्रदाय धर्म अथवा जातिवादी नहीं अपितु राष्ट्रवादी है।

इस राष्ट्र का बल यही संस्कृति है जिसका उदाहरण उन देशों में दिया जाता है जहां अनेकता में एकता खोजने का प्रयास किया जा रहा है, जहां राष्ट्र की सांस्कृतिक नीति को गढ़ने की प्रक्रिया अनवरत चल रही है ताकि बढ़ते हुए संकीर्णतावाद, धर्मांधता, कट्टरवादिता, धार्मिक उन्माद एवं आतंकवाद संबंधी गतिविधियों पर अंकुश लगाया जा सके।

डा. सैयद हसन मुज्तबा रिजवी
भूतपूर्व मानव वैज्ञानिक
भारतीय मानवविज्ञान सर्वेक्षण
121–सी, सैक्टर–19, रोहिणी , दिल्ली–85

'महक रही फुलवारी हमरी'

भारत की उद्यान–संस्कृति

विजय वर्मा

बाग़ फारसी का शब्द है। लेकिन उन्हें किसी भी नाम से पुकारिए– बाग़, बाग़ीचा (छोटा बाग़, फुलवारी), चमन, गुलशन, गुलिस्तां, उद्यान, उपवन–हरियाली, साये और ठंडक के ये जज़ीरा या द्वीप बहुत पुराने काल से हमको सुकून (शान्ति) और मसर्रत (आनंद) अता करते आए हैं। बल्कि बहुत खुशी और आनंद की स्थिति का बोध कराने वाला मुहावरा ही दिल के बाग–बाग हो जाने की बात करता है। इसके चलते, हमारे जीवन, इतिहास, पुराण कथाओं और सभी प्रकार के साहित्य में बाग़ों का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। फारसी में ईश्वर को ''बाग़बाने अज़ल'' (अज़ल= अनादि काल; सृष्टि के बाग़ का रचयिता) कहा गया है। बाग़े खुल्द, बाग़ेजिनां, बाग़े बिहिश्त, बाग़े रिज़वां, बाग़े कुदुस– ये सब स्वर्ग के अर्थवाची हैं और बाग़ और बिहिश्त के नजदीकी रिश्ते के सूचक भी।

आदम और हव्वा के बाग़े–अदन से निकाले जाने की कथा सर्वविदित है। ग़ालिब कह भी गए हैं, ''निकलना खुल्द से आदम का सुनते आये थे लेकिन, बहुत बेआबरू होकर तेरे कूंचे से हम निकले।''

रोम में पूजी जाने वाली प्रेम की देवी, वीनस, उद्यानों, वसन्त और उर्वरता की अधिष्ठात्री देवी भी थी। आम के बगीचे और वसन्त ऋतु के युग्म की कल्पना गोस्वामी तुलसीदास ने भी की हैः ''रामचरित मानस'' रुपी सरोवर के चारों ओर संतों की सभा रूपी अमराई है और श्रद्धा वसन्तु ऋतु के समान हैः

''संत सभा चहुंदिसि अबंराई, श्रद्धारित, बसंत सम गाई''।

प्राचीन भारत में दो प्रकार के बागों की विशेष चर्चा मिलती हैं– एक तो निजी महल या सामान्य मकान से संयुक्त, गृहोद्यान या प्रमदवन और दूसरे सार्वजनिक नगरोपवन जो अक्सर नगर के बाहर भी होते थे– बाह्योद्यान। ''कामसूत्रम्'' में वात्स्यायन का निर्देश है कि नागरिक जल के समीप वृक्ष–वाटिका सहित घर बनाएं (4.3)।'' अग्नि पुराण'' व्यवस्था देता है कि गृह के पास उद्यान होना चाहिए और उद्यान में नदी के प्रवाह का प्रवेश करावें अथवा एक बावली बनवा दें। (अध्याय 282: वृक्षायुर्वेद कथन)। यह पुराण यह भी कहता है कि जो आराम (बग़ीचा) लगवाता है वह स्वयं नन्दनवन में निवास करता है। ज्ञातव्य है कि इंद्र के बाग़ को नन्दनकानन और कुबेर के उपवन को चैत्ररथ कहा गया है।

प्राचीन साहित्य ने इन गृहोद्यानों को हाथों –हाथ लिया है, उनका सरस वर्णन तो किया ही है, काव्य, कथा, नाटक के महत्वपूर्ण घटनाक्रमों की रंगस्थली के रुप में भी उनका भरपूर उपयोग किया है।

जाहिर है कि सबसे प्रभावी प्रमदवन, राजमहलों की शोभा वृद्धि करते हुए मिलते हैं। कालिदास के नाटक, ''विक्रमोर्वशीयम्'' द्वितीय अंक में महल का प्रमदवन, पुरुरवा और उर्वशी की दूसरी भेंट का स्थान बनता है। प्रमदवन में पत्थर के आसन से युक्त माधवीलता का कुन्ज भी है और उसके निकट एक क्रीड़ापर्वत भी बना हुआ है। भास के नाटक ''स्वप्नवासवदत्तम्'' के चौथे अंक में लतागृह, पुष्पों से आच्छादित प्रस्तर खण्ड, सप्तच्छद वृक्षों के वन और काष्ठपर्वत, जहां पशु–पक्षियों के चित्र बने हुए हैं, से युक्त प्रमदवन के दर्शन होते हैं। राजशेखर के ''कर्पूरमंजरी'' सट्टक की चौथी जवनिका में प्रमदवन में वटवृक्ष के नीचे चामुण्डा के मंदिर के भी दर्शन होते हैं। इन विवरणों में आप इन उद्यानों में जल की आपूर्ति के विविध स्रोतों और साधनों जैसे बावड़ियों, कूपों, कुण्डों और बहते हुए जल की कृत्रिम नदियों यानी दीर्घिकाओं को भी जोड़ दें तो भवन के वास्तु के इन सुरम्य अनुलग्नकों का पूरा ठाठ ध्यान में आ जाएगा।

मेगस्थनीज ने लिखा है कि चंद्रगुप्त मौर्य के राजमहल के घेरे के अंदर विदेशी वृक्ष भी लगाए गए थे। पाटिलपुत्र के ही बारे में ह्वेनसांग लिखता है कि राजप्रसाद के आंगन में बहुत से

पुष्प खिले थे और इसी कारण वह नगर कुसुमपुर भी कहलाता था।

राजभवन के भीतर, प्रमदवन, बसन्त और कामदेव की पूजा की संहति दण्डी के ''दशकुमारचरित'' की पूर्वपीठिका के पांचवें, उच्छवास में देखी जा सकती है जहां वह अवन्तिसुंदरी और राजवाहन के विवाह की पीठिका बनाती है। इसके आगे भी मिथिला के राजकुमार, उपहारवर्मा द्वारा अपने पिता को विस्थापित करनेवाले, विकटवर्मा के विध्वंस का आयोजन, उसकी ही पत्नी, कल्पसुंदरी के माध्यम से महल की उद्यानरूपी रंगभूमि में ही संपन्न होता है।

रोम में पूजी जाने वाली प्रेम की देवी, वीनस, उद्यानों, वसन्त और उर्वरता की अधिष्ठात्री देवी भी थी। आम के बगीचे और वसन्त ऋतु के युग्म की कल्पना गोस्वामी तुलसीदास ने भी की है: ''रामचरित मानस'' रुपी सरोवर के चारों ओर संतों की सभा रूपी अमराई है और श्रद्धा वसन्तु ऋतु के समान है:

बुधस्वामी कृत ''बृहत्कथा श्लोकसंग्रह'' के सर्ग 12 में एक रोचक सूचना है: संभ्रांत पत्नी की पति से खटपट हो जाए तो उसके लिए शरण लेने के लिए उपयुक्त स्थानों में से एक घर की वाटिका है।

इसी सर्ग में मदनमंजुका के संपर्क से एक अशोक वृक्ष के पुष्पित–पल्लवित होने, अर्थात् दोहद क्रिया का मनोरम वर्णन है।

शूद्रक के नाटक ''मृच्छकटिकम्'' में वसन्तसेना का 8 चौक या कक्ष्याओं वाला भव्य वेश विदूषक मैत्रेय को कुबेर के भवन जैसा लगता है। हमारे लिए विशेष महत्व की बात इसमें यह है कि मैत्रेय को वसन्तसेना आठवें चौक में अवस्थित एक उद्यान में बैठी हुई मिलती है। चारुदत्त के घर में भी गृहोद्यान है : यह नाटक के पांचवें अंक के लिए रंगस्थली बनता है और इसी के, उपमार्ग पर खुलने वाले, बगल के दरवाजे पर गाड़ियां बदल जाने की महत्वपूर्ण घटना घटती है। ''रात का मेहमान'', चोर शर्विलक भी पहले सेंध लगाकर इस उद्यान में घुसता है और फिर चतु:शाल (बीच में आंगन और चारों ओर वराण्डों और कमरों वाला मुख्य भवन) में सेंध लगाता है। नाटक में मिलने वाले विवरण से, गृहोद्यान सहित, चारुदत्त के मकान का नक्शा कुछ यूं, समझ पड़ता है:

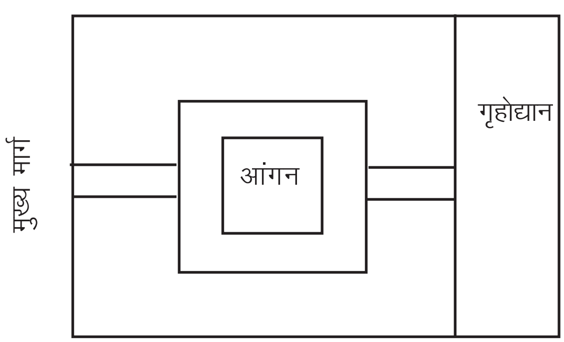

ऊपर, पति से खटपट होने पर **पत्नी के द्वारा गृहवाटिका को कोपभवन बनाने की बात आई है। उधर, इस्मत चुगताई** की प्रसिद्ध कहानी ''मुग़ल बच्चा'' में पति, काले मियां, सुहागरात में, पत्नी द्वारा हुक्म दिए जाने पर भी खुद घूंघट न उठाने पर, मुग़लिया तीहे में, जूतियां बग़ल में दबाए, पायीं बाग़ में कूदते हुए मिलते हैं: गृहवाटिका के लिए फारसी संज्ञा हैं 'पायीं बाग़'।

उचित होगा कि यहां हम विशेषत: गृहोद्यानों से जुड़ी कुछ ऐसी क्रीड़ाओं और परम्पराओं का भी जायज़ा लेते चलें जिनमें हमारे पुरखों का उत्कट वनस्पति प्रेम प्रतिबिंबित है। अभी दोहद संबंधों का उल्लेख हुआ। दोहद क्रिया में वसन्त में अशोक वृक्ष के पुष्पित न होने पर सजीसंवरी राजमहिषी बायें पैर से उस पर आघात करके उसे प्रचोदित करती थी। कालिदास के नाटक ''मालविकाग्निमित्र'' का तृतीय अंक प्रमदवन में रानी की आज्ञानुसार मालविका द्वारा यह क्रिया करने को समर्पित है। राजशेखर के सट्टक, ''कर्पूरमंजरी'' में दोहद का विस्तारित रुप सूचित है: कुरबक, तिलक और अशोक, क्रमशः कामिनियों के आलिंगन, दर्शन और प्रादप्रहार से खिलते हैं। हर्ष की ''रत्नावली'' नाटिका में दोहद का एक और रूप मिलता है: महाराज उदयन अपने द्वारा अंगीकार की हुई नवमालिका को श्रीखण्डदास नामक तपस्वी द्वारा दी गई औषधि से असमय पुष्पित करते हैं। इसी नाटिका में युवतियों द्वारा मुंह में मधु भरकर उसके कुल्ले से मौलसरी को सींचने पर वृक्ष द्वारा फूलों की वर्षा करने का प्रसंग है। ''मेघदूतम्'' में विरही यक्ष अलकापुरी में अपने गृहोद्यान में

बने क्रीड़ापर्वत की चर्चा संदेशवाहक मेघ से करते हुए उसे बताता है कि उस पर्वत पर कुरबक की बाड़ वाले माधवी लता के कुंज के समीवर्ती लाल अशोक एवं बकुल (मौलसरी) के वृक्ष हैंः अशोक को तो, यक्ष की तरह, यक्षिणी के बायें पैर की अभिलाषा रहती है जबकि दूसरा, बकुल, दोहद के बहाने, उसके मुख की मदिरा का कामी है।

भारतीय साहित्य और कला में शालभंजिका–तात्पर्य, स्त्री और वृक्ष के साहचर्य का एक और मनोरम प्रतीक रहा है। दोहद की तरह, शालभंजन भी स्त्रियों की, उपवन से जुड़ी, एक क्रीड़ा थीः खिले हुए साल वृक्ष के नीचे, एक हाथ से उसकी डाल झुकाकर, फूल चुनकर स्त्रियां परस्पर यह खेल खेलती थीं। बुद्ध को जन्म देते समय माया देवी लुम्बिनी उद्यान में इसी मुद्रा में खड़ी हुई थीं। धीरे–धीरे इस मुद्रा में खड़ी हुई स्त्री के लिए शालभंजिका शब्द रूढ़ हो गया। (''हर्षचरितः एक सांस्कृतिक अध्ययन'', वासुदेवशरण अग्रवाल, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, 1964, पृ. 61–2)।

प्राचीन साहित्य में पौधों को गोद लिए जाने और सन्तान के समान पाले–पोसे जाने के प्रसंग भी मिलते हैं। ''दशकुमारचरित'' के तृतीय उच्छवास में कल्पसुन्दरी द्वारा एक चम्पकलता को सन्तान के समान पालने–पोसने की सूचना है कालिदास के ''मेघदूतम्'' काव्य में यक्ष की पत्नी द्वारा पोषित एवं उसके द्वारा पुत्र के रुप में माने गए मन्दार का पल्लवित उल्लेख है। कालिदास के ही ''अभिज्ञान–शाकुन्तलम्'' नाटक में शकुन्तला का अपनी ''लता बहन'' माधवी से विदा लेने और ऋषि कण्व द्वारा उस लता का विवाह पड़ौसी आम से करने का विचार प्रकट करने का प्रसंग इस देश में मनुष्य के हरीतिमा के साथ के हरित साहचर्य का मधुर उदघाटनवंदन है। ''बृहत्कथाश्लोक संग्रह'' में भी रानी पद्मावती अपने पुत्रवत आम का माधवी लता के साथ होता विवाह देखती मिलती हैं (4.63)। पूरे उद्यान का विवाह, फिर, कूप से कराने की प्रथा भी रही है। (''प्राचीन भारतीय लोकधर्म'', वासुदेवशरण अग्रवाल, ज्ञानोदय ट्रस्ट अहमदाबाद, 1964, पृ 84)।

जैसे घरों के साथ वैसे ही मंदिरों के साथ भी उपवनों का अटूट गठजोड़ रहता आया है। मंदिरों को आवश्यक फलफूलादि अबाधित रूप से मिलते रहें, इस उद्देश्य से उद्यानों आदि के लिए भूमि दान में दिए जाने के बहुत से उल्लेख मिलते हैं। उदाहरणार्थ, दक्षिण के चिदंबरम आदि से संबंधित ऐसे दानपत्रों का विवरण जगदीश अय्यर की ''साउथ इंडियन श्राइन्स'' (एशियन एडुकेशनल सर्विसेज, नई दिल्ली, 1982) में देखा जा सकता है।

देवता के लिए फूलों के साथ–साथ ऐसे मंदिरोद्यान नाटककार महोदयों को कथा के लिए मंच भी वैसे ही प्रदान करते थे जैसे तैयार नाटकों को मंदिरों के प्रेक्षागृह। भवभूति के नाटक ''मालती माधव'' में माधव मदनोत्सव के लिए मकरंद उद्यान में जाता है और मालती का प्रथम दर्शन करता है जबकि इन दोनों की अगली भेंट का प्रबंध शिवमंदिर से लगे हुए कुसुमाकर उद्यान में किया जाता है।

अब तक जिन उद्यानों की चर्चा हमने की है, प्राचीन भारत में उनके अलावा भी सार्वजनिक उद्यानों आदि के पर्याप्त साक्ष्य उपलब्ध हैं। वाल्मीकि रामायण में अयोध्या के बारे में कहा गया है कि उस नगरी में चारों ओर उद्यान तथा आमों के बग़ीचे थे और साखू (साल) के वृक्ष करधनी की तरह उसे घेरे हुए थे। पहली शताब्दी ईसवी के बौद्ध ग्रंथ ''मिलिन्दपथहो'' (मिलिन्द प्रश्न) में तत्कालीन शाकल (आधुनिक स्यालकोट) के बारे में कहा गया है कि इसके चारों ओर एक परकोटा था, जिसमें द्वार और चौराहे, उद्यान एवं सरोवर मौजूद थे। 11वीं शताब्दी के कश्मीरी कवि, बिल्हण के ''विक्रमांकदेवचरित'' के 18वें सर्ग में वितस्ता के किनारे बसे प्रवरपुर (श्रीनगर) में नदी के किनारे–किनारे व नगर में अन्यत्र भी सुनियोजित ढंग से बने उद्यानों की चर्चा मिलती है। 11वीं शताब्दी के ही उत्तर भारत के प्रसिद्ध वास्तुग्रंथ, ''समरांगणसूत्रधार'' में नगर की रक्षार्थ बनायी गयी खाइयों के भीतरी तटों पर बगीचे लगाने का विधान मिलता है (10.21–24)।

''पद्मावत'' में जायसी ने सिंहल द्वीप के चारों ओर लगी घनी अमराइयों और उसकी बगीचियों (जिनमें भांति–भांति के फल लगे हैं) और फुलवारियों (जिनमें तरह तरह के फूल लगे हैं) का वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त भी पद्मावती के सखियों सहित वसंत पूजन आदि प्रसंगों में जायसी अपने अर्थगूढ़ काव्य भी बेल उद्यानों में रोपते और पल्लवित करते हैं।

हजारी प्रसाद जी के कथन को इसी परिप्रेक्ष्य में लेना होगाः **''यह नहीं समझना चाहिए कि बड़े आदमियों के अन्तःपुर**

में ही बाग–बगीचे और सरोवर हुआ करते थे। उन दिनों के किसी भी नगर का वर्णन देखिए तो बाग–बगीचों और सरोवरों के प्रति जनता का अनुराग प्रकट होता है।'' (''प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद'', पृ. 46)

इस कुसुमित्सुरभित उद्यान संभार का एक विशिष्ट भाग थे– नगर के बाहर अवस्थित बाह्योद्यान। कालिदास के ''मेघदूतम् में अलकापुरी के कुबेर के बाहरी उद्यान, वैभ्राज या चैत्ररथ की चर्चा मिलती है। ऐसे बाहरी उद्यानों का भी बड़ा वैभव प्रतिबिंबित है भारत के प्राचीन साहित्य में। कुछ प्राचीन नगरों के चारों ओर लगभग अकल्पनीय मात्रा में अक्सर बहुत बड़े–बड़े वनों–उपवनों की अवस्थिति की बात आई है। ''ललितविस्तर'' भावी बुद्ध के लिए कपिलवस्तु के गिर्द 500 उपवनों के आविर्भाव की सूचना देता है। अयोध्या और उज्जैन की भी ऐसी उपवन–समृद्धि के साहित्यिक साक्ष्य उपलब्ध हैं। (''प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद'', पृ. 46) पालि साहित्य में हजार–हजार वृक्षों वाले आम के बगीचों का उल्लेख है और उत्तर प्रदेश में कंपिल में ऐसा एक

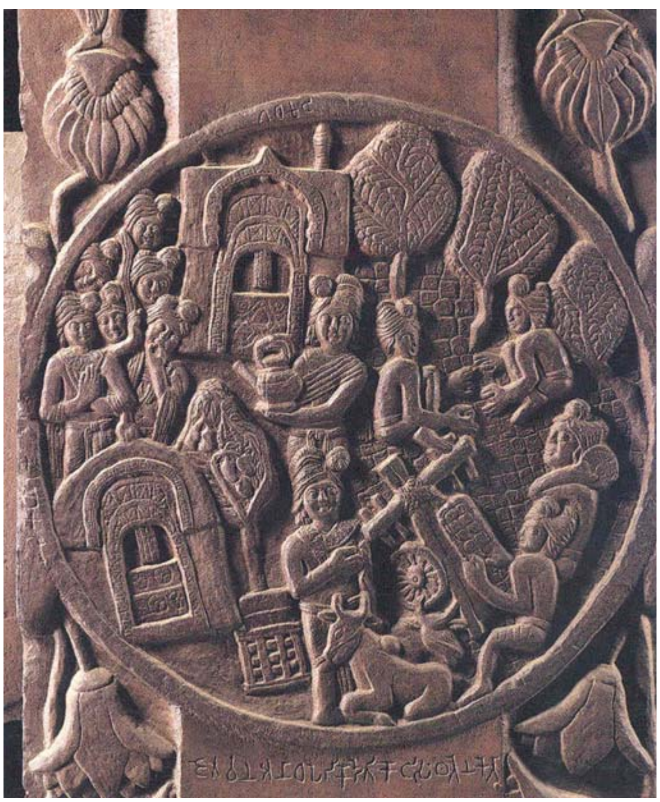

जेतवन उद्यान में बुद्ध

वन था। (''पाणिनीकालीन भारतवर्ष'', वासुदेवशरण अग्रवाल, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 1969, पृ. 48)

''मृच्छकटिकम्'' में उज्जैन नगर के पुराने उद्यान पुष्पकरण्डक की भूमिका भी महत्वपूर्ण है। वसन्तसेना को लेकर शकार की गाड़ी और आर्यक को लेकर चारुदत्त की गाड़ी वही पहुंचती हैं। ''कथासरित्सागर'' में मृगांकदत्त की कथा में भी उपस्थित है यह पुष्पकरण्डक। ''मृच्छकटिकम्'' के आरम्भ में एक अन्य उद्यान, कामदेवायतन, का महत्वपूर्ण उल्लेख हैः वसन्तसेना, चारुदत्त को वहीं देखकर उस पर आसक्त हुई है।

ऐसे उद्यमों की विशेष शोभा मदनोत्सव आदि के अवसर पर की जाने वाली उद्यानयात्राओं के दौरान होती थी।

उद्यानगमन ''कामसूत्रम'' में वर्णित 5 प्रकार के सामूहिक विनोदों में से एक था (4.14)। वात्स्यायन कहते हैं : ''प्रातःकाल वस्त्रालंकार धारण कर और घोड़े पर सवार होकर सेवकों और गणिकाओं को साथ लेकर उद्यान यात्रा के लिए जाना चाहिए। यह उद्यान यात्रा इतनी दूर की हो कि शाम तक घर वापस आ सके।'' (4.25)

ऐसी यात्राओं के उपलब्ध साहित्यिक विवरण जैसे ''बृहत्कथाश्लोक संग्रह'' में कौशाम्बी की नागवन यात्रा, वात्सयायन के विधान को पूर्णतः साकार करते लगते हैं। इसी ग्रंथ के चतुर्थ सर्ग में कौशाम्बी नरेश उदयन के मृगाजिन नामक उद्यान को जाने वाली वार्षिक उत्सव यात्रा में भाग लेने की कथा है। एक बौद्ध कथा में कुछ नवयुवक ऐसे आनंद विहार के लिए सपत्नीक निकलते हैं। एक के पत्नी नहीं थी सो उसने एक गणिका को साथ ले लिया। मार्ग में वह मालमत्ता लेकर रफूचक्कर हो गई सो उन्होंने मार्ग में मिले बुद्ध से भी पूछताछ की। उत्तर में बुद्ध ने कहा–क्या यह अच्छा न होगा कि आप लोग उस गणिका को खोजने की बजाए अपने आप को खोजें, और वे गणिकान्वेषण छोड़कर आत्मान्वेषण में लग गए। ऐसे खिलौना मृणशकट (टैराकोटा प्ले–कार्ट्स) मिले हैं जिनमें ऐसे ही पिकनिक मनाने जाते नर–नारी दिखाए गए हैं।

परिनिष्ठित और लोक, दोनों प्रकार के साहित्य के सर्जकों को बतौर रंगस्थली, बाग़ रास आते रहे हैं। कुछ उदाहरण हम दे चुके हैं : कुछ और यहां प्रस्तुत हैं।

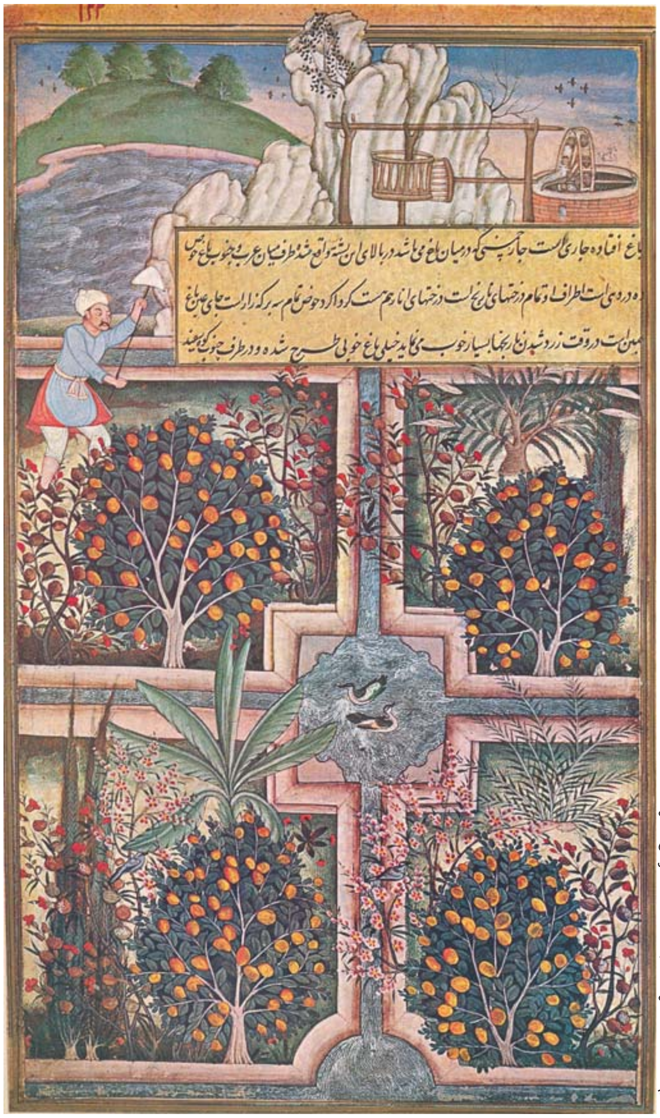

सौजन्य : राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली

चारबाग की तस्वीर बाबरनामा से

जानी चोर द्वारा अदली खां पठान की कैद से महकदे को मुक्त कराने का घटनाक्रम तो लगभग पूरी तरह खां के बाग़ से संचालित होता है। नरवरगढ़ तो नरवरगढ़, कथा के उत्साही विस्तारकों ने तो जानी चोर को इंद्र के बग़ीचे तक से पोप के फूल लाते दिखा दिया है।

उद्यानाधारित कतिपय विशिष्ट कथा–रूढ़ियों के संधान से पूर्व दो शब्द प्राचीन उद्यान परम्परा के परवर्ती संस्करणों के बारे में कुछ अंशों में यह परंपरा बाद तक भी चली। अपने एक लेख में उमेशचंद मिश्र ने कन्नौज के चारों ओर लगभग 40 वर्गमील के क्षेत्र में सैंकड़ों फूल–बाग़ों की उपस्थिति दर्शाई है। 1727 ई. में जयसिंह द्वारा स्थापित जयपुर और उससे पहले कछवाहों की पुरानी राजधानी आमेर भी बाग़ों के नगर थे और गोपाल नारायण बहुरा तथा चंद्रमणि सिंह द्वारा संपादित ''उपवन विनोद'' में तत्संबंधी जानकारी संक्षेप में उपलब्ध है। (पब्लिकेशन स्कीम, जयपुर, 2002) जयपुर का जयनिवास, आमेर–जयपुर के और कई बाग़ों की तरह, मुगल उद्यानों की परम्परा में है। मुगलों का उद्यान–प्रेम सर्वविदित है। आगरा सर करते ही बाबर ने वहां ''चारबाग़'' बनवाया। चारबाग़, चौकोर, चौखाना बाग़ को कहते थे; बाद में सभी तरह के अच्छे और बड़े बाग़ इस नाम से पुकारे जाने लगे। आगरे के बाग़ को ''हश्तबहिश्त'' (अष्टस्वर्ग उद्यान) कहा गया जो, एक बार फिर, मानव की कल्पना में, स्वर्ग और बाग़ के संश्लेष को दर्शाता है। बाबर ने और भी अनेक बाग़ बनवाये और वसीयत की कि उसकी समाधि काबुल के उसकी पसंद वाले बाग़ में खुले आसमान तले बने। बाद के मुग़लों में ख़ासतौर पर जहांगीर का उद्यान प्रेम प्रसिद्ध है। कश्मीर का प्रसिद्ध शालीमार बाग़ शायद उसकी बेग़म नूरजहां द्वारा संकल्पित था और उसमें चित्रित फिरदौसी की ये प्रसिद्ध पंक्तियां, ''अगर फिरदौस बररूए जमीअस्त, हमीअस्तो, हमीअस्तो, हमीअस्ता'' एक बार फिर बाग़ और स्वर्ग के सादृश्य तो रेखांकित करती है।

बाग़ खासतौर पर नगर के बाहर अवस्थित बाग़, सब तरह के यात्रियों और पाहुनों के लिए ठहरने के पसंदीदा और स्वीकृत स्थल रहे हैं। ''रामचरितमानस'' में जब विश्वामित्र, राम और लक्ष्मण जनकपुर जाते हैं तो नगर के बाहर आमों के अनुपम बाग़ में ठहरते हैं : देखि अनूप एक अंबराई। सब सुपास सबभांत सुहाई।। कौसिक कहेउ मोर मनु माना। इहां रहिअ रघुबीर सुनाना।।'' कथासरित्सागर'' में प्रतिष्ठानपुर पहुंचने पर गुणाढ्य तो नगर के बाहर एक बगीचे में टिक जाता है और अपने शिष्यों के हाथ ''बृहत्कथा'' ग्रंथ को राजा सातवाहन के पास भेजता है। राजस्थान के प्रसिद्ध गीत ''बिंद्यायक'' में रणथम्भौर के गणेश जी न्यौता पाकर विवाह में सम्मिलित होने के लिए आते हैं तो दूसरा बासा गांव के बाहर वाले बाग में करके सातवें में मढ़े में पहुंचते हैं। इसी तरह जब भाई, बहन को ओढ़ाने के लिए भात के वस्त्र लेकर आता है तो उसका दूसरा पड़ाव बाग़ में होता है:

''आज म्हारा बीरो जीबागां बस रह्या हरख्या छै माली जी लोग''।

बागों का ऐसा उपयोग सिर्फ साहित्य में ही वर्णित नहीं है, यह वास्तविक, सनदशुदा व्यवहार का भी हिस्सा रहा है। इर्वाइके लिखे फर्रुखाबाद, उत्तर प्रदेश के बंगश पठान नवाबों के वृतान्त में जिक्र आता है कि जब दिल्ली के बादशाह और अवध के नवाब के वजीर, शुजाउद्दौला ने पठानों पर चढ़ाई की तो उन्होंने माकनपुर के मदारबाड़ी नामक बाग में डेरा डाला था। इसी प्रकार जब दिल्ली के वजीर और उसके साथी मराठों और जाटों ने नवाब अहमद खां और उसके साथी रुहेलों को पीछे हटने पर मजबूर कर दिया तो अवलह पहुंचने पर अहमद खां ने शहर में अवस्थित एक बाग में डेरा डाला था। (''द् बंगश नवाब्स ऑफ फर्रुखाबाद'', जर्नल ऑफ द् एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल, पार्ट 1, नं. 2, 1879, पृ 106; 138) ''बाबरनामा'' में भी कूच करती सेनाओं के बागों में डेरा डालने के कई उल्लेख हैं।

बाग में किसी सत्पुरुष या महापुरुष के आगमन से सूखे बाग़ का हरा हो जाना एक सुपरिचित कथा–रुढ़ि रहा है। राजस्थान के उजीरा तेलीकृत चिड़ावी, ख्याल (लोकनाट्य) ''सीलो सतवन्ती'' में जोगी हो चुके मेहता के अग्रोहा में आने से उसके श्वसुर हरबंस का सूखा बाग़ हरा हो जाता है। रल्ह (राजसिंह) द्वारा 1695 ई. में रचित **''जिणदत्त चरिउ'' में जिणदत्त के दशपुर नगर में प्रवेश करने पर वहां का बाग हरा होने लगता है। इसी तरह, पूरण भगत के लौटने पर उसके पिता शालिवाहन का बाग हरा हो जाता है।** राजस्थान के लोकदेवता पाबूजी की गाथा में पाबू जी ''लंका'' से ऊंट लेकर आते हैं तो रास्ते में सोढों का सूखा हुआ उपवन पाबूजी के प्रवेश से हरा हो जाता है। मेवात के लोक महाभारत ''पण्डून का कड़ा'' में गुरु गोरखनाथ के आने से सूखा बाग़ हरा हो जाता है। **गोगा जी संबंधी कथा गीतों में भी गुरु गोरखनाथ के आगमन से राजा सिंझ्या का सूखा हुआ बाग़ हरा हो जाता है:** ''सूखा रे पड्या राजा सिंझ्या रा बाग़, पग री खड़ाउं जोगी खोलदी। सींचै सूखोड़ा बाग़, बाग़ां में बोल्या सूआ कोयली, बोलण तो लागा दादुर मोर, झोली तो टांगी सूखै लकड़ै में, हरिया हुआ राजा सिंझया रा बाग़''। इसके विपरीत, निपूता राजा (झेवर) बाग़ में जाता है तो बाग़ सूख जाता है।

गूजरों की ''बगड़ावत'' महागाथा में उल्लेख है कि बाध जी, बगड़ावत भाईयों के पिता, के जन्म लेते ही राजा का बाग लहराने लगा। राजस्थान के ही लोकदेवता तेजाजी संबंधी गाथा–गीत में यह अभिप्राय थोड़ी भिन्नता के साथ उपस्थित होता है: तेजाजी जलते हुए वन को बुझाने जाते हैं तो जिस जलते हुए शुष्क काष्ठ में अपनी घोड़ी को बांध जाते हैं वह उस घोड़ी की अलौकिक शक्ति के प्रभाव से हरा हो जाता है।

आगमन से बाग हरा होने की तरह बाग़ में आगन्तुक की किसी विशिष्ट गतिविधि से उसके आगमन की सूचना मिलने के उदाहरण भी मिलते हैं।

''बृहत्कथाश्लोकसंग्रह'' के पांचवें सर्ग में वशिष्ठ के आश्रम से लौटने पर बालक उदयन कौशाम्बी के मृगाजिन उद्यान में कमल के पुष्पों की पंखुड़ियों पर चित्र बनाता है और कुण्ड में तैरता है जिस पर बाग़ के रखवाले उदयन के पिता, कौशाम्बी के राजा को सूचित करते हैं। पंखुड़ियों पर नखों से चित्र बनाने की इस कला, जो आज भी कागज़ पर ऐसे चित्र बनाने की कला के रुप में कहीं कहीं मिलती है, का अधिक विस्तृत विवरण इसी ग्रंथ के नवम सर्ग के प्रारम्भ में मिलता है। ''वसुदेवहिण्डी'' में धम्मिल इस पत्रच्छेद्य कला में प्रवीण मिलता है। ''ललितविस्तार'' में दी गई 96 कलाओं की सूची में यह कला भी शामिल है। ''अभिज्ञानशाकुन्तलम्'' में दुष्यंत को शकुन्तला द्वारा नाखूनों से कमल के पत्ते पर लिखा प्रेमपत्र मिलता है (339)। राजशेखर की ''कर्पूरमंजरी'' में इस अभिप्राय का रूप–भेद उपस्थित है: नायिका कस्तूरी की स्याही से केतकी की पंखुड़ियों पर संदेश लिखती है।

वहां पत्रच्छेद्य बनता है आगमन सूचित होने का माध्यम तो यहां धूनी का उजास सम्पादित करता है यह कार्य: पाबूजी की राजस्थानी गाथा में उनकी मृत्यु के बाद उनका भतीजा रूपनाथ जायल के खींची जींदराज से बदला लेने के लिए जोगी के वेश में जाकर जींदराज के नौलखे बाग में धूणी जगाता है: तीन रोज तक तो कोई ध्यान नहीं देता लेकिन चौथे दिन उसकी बुआ, जींदराज की पत्नी, धूणी का उजास देखकर दासी के वेश में आकर रूपनाथ से मिलती है।

बाग़ में आना और ठहरना अनिष्ट और झगड़े–टंटे का

सौजन्यः शासकीय संग्रहालय, सौंख, मथुरा

यक्षी (शालमंजिका)

बायस भी बना है कथाओं में। इसका एक रूप जिद करके बाग में झूला झूलने के लिए आने में निहित है। ''आल्हखण्ड'' में आल्हा–ऊदल के देशनिकाले के बाद, चंद्रावली नौलखा बाग में झूलने की जिद करती है और यह जिद विपत्ति का कारण बनती है। गोगाजी संबंधी कथा–गीतों में भी ऐसी ही स्थिति मिलती हैः सास के मना करने पर भी गोगा की पत्नी, केलम दे, बाग में झूलने जाती है जहां गोगा जी के मौसेरे भाई उसे अपमानित करते हैं। इस पर युद्ध होता है, गोगा, भाईयों को मार डालते हैं और अपनी माँ से देश–निकाला पाते हैं।

इसी तरह बाग़ में जबर्दस्ती ठहरना और आगमन विज्ञापित करने या किसी और उद्देश्य से बाग को उजाड़ना भी कथाओं में आया है। यहां भी परिनिष्ठित और लोकसाहित्य में अभिप्राय–विनियम और साम्य देखा जा सकता है। **''रामचरितमानस''** में हनुमान जी पहले सीता मैया से आज्ञा लेकर अशोक वाटिका के फल खाते हैं और फिर, प्रकट में, ''वानर स्वभाव के कारण'' लेकिन वस्तुतः रावण का ध्यान खींचने के लिए वाटिका को उजाड़ते हैं। सत्यवादी राजा हरिश्चचंद्र की कथा में विश्वामित्र राजा के सत की परीक्षा का अपना अभियान वाराह का रूप धरकर राजा के बाग़ को उजाड़ने से शुरू करते हैं।

ऐसे महाकाव्यीय और पौराणिक प्रसंगों से लोक गाथाओं ने भी प्रभाव ग्रहण किया है। ब्रज प्रदेश की प्रसिद्ध गीत–गाथा ''ढोला'' में जब एक कष्टप्रद यात्रा के बाद ढोला का विश्वस्त ऊंट उसे लेकर नरवरगढ़ से पूगल पहुंचता है तो लगभग हनुमान जी वाले अंदाज में वहां के बाग़ का उद्धार करता है :

''करिहा ने अपनो किसब सम्हार्यो याकू भूख लगी बड़ी भारी। सरर्रई सरर सरारे मारे सूत लई सबरी फुलवारी।। नागर पान पेट भर खाये, कछु खाई केसर की क्यारी। माली रह्यो खेंच ढेंकुरी, पानी भरि रही घरवारी।'' इसके बाद थोड़ी सी गलतफहमी और फिर मालिन का जाकर मारु को ढोला के आगमन की खबर देना। (मटोल सिंह रचित ''ढोला'', दीपचन्द, हाथरस द्वारा प्रकाशित)।

पंजाब के राजा रिसालू संबंधी गाथाचक्र में राजा होडी से बदला लेने के लिए हिरण उसका बाग उजाड़ते हैं, क्रोधित होडी को कोकिला के पास ले आते हैं और इन दोनों के प्रेम का अंत

रिसालू के हाथों होडी की मृत्यु में होता है। इसी तरह रिसालू–अनूपदे के किस्से में रानी से मिलने का जुगाड़ करने के लिए राजा का तोता, रानी के बाग में उपद्रव करता है।

राजस्थान के धुर दक्षिणी अंचल, बागड़ की लोकप्रिय गीत–गाथा ''गलालैंग'' में नायक गुलाब सिंह आकर उदयपुर के गुलाब बाग में ठहरता है और माकूल ''नोटिस'' न लिए जाने पर अपने औद्धत्य में चंदन के वृक्ष उजाड़ता है जिस पर मालिन महाराणा को सूचित करती है।

उधर, तेजाजी बारह वर्ष बाद ससुराल जाते हैं तो गांव के बाग पर रुकते हैं। माली की लड़की द्वार नहीं खोलती तो उनकी दिव्य घोड़ी बाग का कोट डांक कर तेजाजी को भीतर पहुंचाती है और ''रीत'' के मुताबिक बाग के मरवा–मोगरे खूंद डालती है :

''हरी हरी दोवां खावै नै रे घोड़ी म्हारी,
तोडो तो मरोडो सूडयो केरहो,
घोड़ी नै तो ढाब राखै रे गेलाती भाया,
म्हारी बाई जी को पाल्यो–पोस्यो,
तोड़ गाल्यो मरवो–मोगरो.......

लेकिन प्रकरण का अंत सुखद हैः शिकायत लेकर आयी माली की बेटी द्वारा दिए विवरण से बाई जी जान जाती हैं कि आगन्तुक 12 वर्ष में बगदा (लौटा) उनका पति है। पौधों को गोद लेने संबंधी जो चर्चा हम कर आये हैं उसी के प्रकाश में देखी जानी चाहिए यहां बाई जी के पाले–पोसे मरवा–मोगरे की बात। सुनने चलें तो कितनी अनुगूंजें नहीं मिलेंगी लोक और ''शास्त्र'' की परस्पर एक दूसरे में और कितनी बार न होगा यह तय करना मुश्किल कि मूल ध्वनि कौन सी है और अनुगूंज कौन सी, या कि मामला स्वतंत्र रुप से दोनों साजों पर एक ही राग छिड़ने का है।

''बगड़ावत'' में झगड़ा बाग़ में जबर्दस्ती ठहरने से शुरू होता है और कथा के विकास में भी बाग़ बतौर रंगभूमि महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। बगड़ावत भाई राण पहुंचते हैं तो सलाह होती हैः डेरा कहां डालें। कहा जाता है कि रेत के टीबे पर डालोगे डेरा तो यूं ही, अलक्षित पड़े रहोगे, कोई मान–मनुहार नहीं करेगा। चलो, राजा का नौलखा बाग़ उजाड़ें और उसमें ही डेरा डालें। माली–मालिन जाकर राजा के दरबार में हाय–तौबा मचाते हैं। इस बार तो बात बिगड़ कर फिर बन जाती है। लेकिन बाद में जैमती और राजा के विवाह के समय बगड़ावतों और राजा के बीच युद्ध होते–होते बचता है। बगड़ावत एक बार फिर बाग़ में डेरा डालते हैं और वहीं से जैमती भोज की कटार मंगाकर उसके साथ गुप्त रुप से फेरे ले लेती है। बगड़ावत भाई छः महीने बाद आकर जैमती को साथ ले जाने का वचन देकर लौट जाते हैं। छः महीने बाद बगड़ावत लौटते हैं तो एक बार फिर बाग़ में डेरा डालते हैं। जैमती बाग में जाकर बगड़ावतों से मिलती है और वे उसे बदनौर ले जाते हैं और यूं सज जाता है विधान युद्ध का और बगड़ावतों के मरण का यानी जैमती–रूपी शक्ति की मनोरथ लीला की पूर्ति का।

नायक का नायिका को प्राप्त करने के उद्यम के सिलसिले में बाग में ठहरना और फिर इसी उद्यम के भाग के रुप में नायिका को फूलों की माला, गजरे इत्यादि भेजना कई कथाओं की केन्द्रीय वस्तु रहा है। माला सिर्फ माली ही नहीं बनाते थेः यह एक कला थी। ''ललितविस्तर'' में दी गई 96 शिल्प–कलाओं की सूची में माला गूंथना सम्मिलित था। ''कामसूत्रम'' की 64 कलाओं की सूची में भी शामिल था विभिन्न प्रकार से मालायें गूंथना। भवभूति के नाटक ''मालती माधव'' में माधव जो माला गूंथता है वह नाटक का केन्द्रीय सूत्र बन कर उभरती है। ''कथा–सरित्सागर'' में वीणा बजाने के अलावा, उदयन माला बनाने में भी उस्ताद है : वह वासवदत्ता को अम्लान माला गूंथने और तिलक बनाने की कलायें सिखाता है, और बाद में वासवदत्ता के बनाए माला–तिलक देखकर सोच में पड़ जाता है कि यदि उसको बताये अनुसार वासवदत्ता अब जीवित नहीं है तो दूसरा कौन पैदा हो गया उन्हें बनाने वाला! राजकुमार कुस संबंधी जातक कथा में वह प्रभावती को पुनः पाने के लिए जो उद्योग करता है उनमें माली बनकर सुंदर हार बनाना सम्मिलित है।

अब, लोक वाङ्.गमय भी भरा पड़ा है इस अभिप्राय से : नायक आकर बाग में ठहरता है, मालिन के हाथ नायिका को अपने बनाये बहुत कलात्मक हार–गजरे भेजता है, देखकर नायिका बनाने वाले/वाली से मिलने की जिद करती है और मजबूरन मालिन स्त्री–वेश में नायक को वहां ले जाती है। (नंदराम कृत राजस्थानी लोकनाट्य ''ख्याल केसर गुलाब'' से)।

''निहालदे'' में भी महकदे से मिलने का डौल बैठाने के लिए जानी, मालिन के हाथ अपना बनाया हार भेजता है। मुरलीधर जी के सांगीत ''नौटंकी शाहजादी'' में फूलसिंह पंजाबी को उसकी भाभी ताना मारती है तो वह (फूलसिंह) नौटंकी को ब्याहने की ठानकर मुलतान जाकर नौटंकी के नौलखे बाग में ठहरता है। यहां मुरलीधर ने इस बाग का जो वर्णन किया है वह सांगीत (नौटंकी) की कविताई और छंद–विधान का एक अच्छा नमूना पेश करता है: उसे भी नजर से गुजारते चलें :

दोहा : नौटंकी के बाग की, उपमा कही ना जाय। लगे विटपसुन्दर सकल, रितु बसन्त लुभियाय।।

चौबोला : रितुवसन्त लुभियाय चहूंदिश खिलरही केसरि क्यारी। विविध भांति रहे फूल सघन द्रुम भूमि चूमि रही डारी।। शीतल मन्दसुगन्ध पवन है काम जगावन हारी। नन्दन वन जिमि दिपत अमियपुर तिमि भूपर छविकारी।।

कड़ा : प्यारेजीगुल मंहदीगुल गुलाबास गुलतुर्रा प्यारा। गुलसोसनगुलकलन्द गेंदा खिला हजारा।।

दुबोलाः नस्तख निवाडा नाफरमानी नरगिस नजर लड़ाते हैं। गुल चोबचीन चांदनी चमेली चंपा चित्त चुराते हैं।।

गजल : बूंटे हर एक किस्म के रोशों पै लगे हैं।। अंजीर सेब आडू शाखों पै फवे हैं।। नाना तरह की बेलें फूली फली घनी। बिल्लौर की हैं क्यारी कमनीय सोबनी। चातक चकोर कीर है मिठ बोलनी मैना। कोयल की कूक प्यारी रस के भरे बैना।। करते हैं शोर मोर नचे मनके भावने। करते किलोल सुन्दर लगते सुहावने।।

चौपाई : वापी कूप तड़ाक सुहाये। निर्मल जल तिन में बह पाये।। कंचन थार विचित्र बनावा। विविध भांति रचना करवावा फूले कमल मध्य जलपावन। गुंजत मधुप पुंज मन भावन।। जलके जीव तहां बहुतेरे। क्रीड़ा करत मराल घनेरे।।

दुबोला : शुचि सरिता तहां बहे पावन, ताके तट आश्रम शिवजी का। रमणीक भूमि कहे मुरलीधर, तहां मंदिर है अद्‌भुत नीका।।

फूलों से जुड़े कुछ और अभिप्राय भी दृष्टव्य हैं। यदि सेज पर बिछे फूल न कुम्हलाएं तो समझो कि पौढ़ने वाला पुरुष था, कुम्हलाएं तो स्त्री। परदेस जाते पति की प्रिया एक खिला हुआ फूल देती है : इधर वह सन्मार्गी रहेगी उधर फूल ताजा रहेगा।

यह लोक का ''क्लैसिकल'' पहलू है। मिला देखिए इसे संस्कृत साहित्य में मिलने वाले बागों के विवरणों से।

अस्तु, फूलसिंह, मालिन के हाथ हार–गजरों में जवाहरात गूंथकर नौटंकी को भेजता है और उसके द्वारा तलब किए जाने पर मालिन की रिश्ते की बहू के रुप में नौटंकी का सानिध्य प्राप्त करता है। इसके उलट, विक्रमादित्य और चौबोली की राजस्थानी लोककथा में साहूकार के लड़के की बहू हार गूंथती है और राजा उससे मिलने की हठ करता है।

प्रहलादी राम के राजस्थानी ख्याल (लोकनाट्‌य) में लोक के एक और अभिप्राय के दर्शन होते है : सन्नारियां फूलों में तुलती हैं और भारी हो जाना विचलन का सूचक है। रिसालू, सुहाग कंवर बनकर रसकमला के महल में प्रवेश कर जाता है तो मालिन रसकमला के पिता पर अपना संदेह जाहिर करती है: महल में केतकी, भंवरे से इश्क लगा कर उमग उठी है और उसकी कलियां भारी हो गई हैं। उस्ताद मुरलीधर की ''नौटंकी शाहजादी'' में यह ताड़ने और चुगली खाने का काम बांदी करती है : ''और दिनों की तोल रही ना यह क्या सबब हुआ री, मन के मन चढ़ गए तौउ पल्ला होता है भारी।'' इस संगीत में तो श्रेष्ठ पुरुष के भी फूलों में तुलने की बात आई है: नौटंकी कहती है—

''मो लायक वर ना मिलौ, जा दुनिया में कोय
जो नर फूलों में तुले, सो ब्याहेगा मोय।।''

''लीजैण्डस ऑफ द् पंजाब'' के भाग 2 में टैम्पल ने चंद्रभान–चांदकिरण की कथा भी दी है: चांदकिरण भी फूलों से तोली जाती है और जब दूसरे पलड़े में आम दिनों से ज्यादा फूल चढ़ते हैं तो माली ताड़ जाता है और चांदकिरण के पिता, चंद्रभान से जाकर संदेह जताता है कि राजकुमारी किसी पुरुष के संसर्ग में आ गई है। टैम्पल इस सिलसिले में ''पंचफूला रानी'' का हवाला देते हैं जिसका वजन,

उसके सन्मार्गी रहने तक, मात्र 5 फूलों के बराबर होता था। उधर, अपनी कहानी ''छुईमुई'' में इस्मत चुगताई ने एक लद्धड़ कोमलांगी को पंचफुल्ला रानी कहा है। बाग़ से जुड़े इस भंवर–केतकी प्रसंग का समापन सूफी कवि दाऊद के प्रेमाख्यान ''चांदायन'' में मिलने वाले इस वर्णन के साथ किया जा सकता है :

''राय की बारी (राजा की बालिकारुपी वाटिका) में (वह) भ्रमर प्रविष्ट हो गया और वह पुष्प वाटिका के पुष्पों और कलिकाओं (प्रेयसी के अंगों) का रस लेने लगा ..... ''

फूलों से जुड़े कुछ और अभिप्राय भी दृष्टव्य हैं। यदि सेज पर बिछे फूल न कुम्हलाएं तो समझो कि पौढ़ने वाला पुरुष था, कुम्हलाएं तो स्त्री। परदेस जाते पति की प्रिया एक खिला हुआ फूल देती है : इधर वह सन्मार्गी रहेगी उधर फूल ताजा रहेगा।

''मेघदूतम्'' में यक्षप्रिया फूलों को गिनकर हिसाब रख रही है कि प्रिय के प्रवास के कितने दिन बीते, कितने शेष रहे .....

बाग़ों का इतना महत्व था तो लाजिमी था कि माली और मालिन भी महत्वपूर्ण बनते। ''मेघदूत एक पुरानी कहानी'' में हजारों प्रसाद जी ने इस क़यास का भी उल्लेख किया है : निष्कासित यक्ष कुबेर का माली था और यह सजा उसे इसलिए मिली थी कि उसकी गफलत से इंद्र का ऐरावत आकर कुबेर का बाग ढूंस गया था। (गौर किया होगा आपने कि बाग़ उजाड़ने का प्रसंग यहां स्वर्ग में भी उपस्थित है।)

नायिकायें अक्सर नायक की तुलना माली से करती मिलती हैं : राजस्थान के एक ख्याल में नायिका की नायक से अरदास हैः

''तुम माली मैं केवड़ास जी सींचो चित मन जाय
दिल का धोखा भेंट दोस जी बिन सींच्या कुम्हलाय''

यह वही भाव है जो 'निहालदे'' में उसके द्वारा सुलतान को भेजे गए एक परवाने में व्यक्त हो चुका हैः

''बाग़ लगा कै हे बागां का माली उठा गया, कोन्या हे कहिए बी सींचनहार''

राजस्थान–हरियाणा के रब्यालिये, अलीवक्ष के खेल में विरहिन निहालदे की यह पीर यूं व्यक्त हुई है :

''घर आओ भंवर थारो बाग चढ़ा परवान ....

राजस्थान में जैसलमेर में सुने एक गीत में मालिन की इज्जत –अफजाई उसे ''बागों का श्रंगार'' बताकर की गई है। मालिन का वसन्त लेकर आना एक मुहावरे के रुप में इस्तेमाल हुआ है :

''माह (माघमहीना) में लगी ठंड, घर नाहीं कंत, लेके वसंत, आई घर मालन,

मैं कैसे पूजौं सखी, नहीं घर साजन''। (''अलाबख्श की बारामासी'', श्रीधर–शिवलाल, मुंबई 1909) ।

जैसा हम देख चुके हैं ''निहालदे सुल्तान'' में महकदे को अदली खां की कैद से छुड़ाने के उपक्रम में जानी चोर वहां के बाग में डेरा डालता है और मालिन को मौसी बनाकर अपना मनोरथ सिद्ध करता है। उधर ''कथासारित्सागर'' में शक्तिवेग, कनकनगरी के उद्यान में पहुंचकर दो मालिनों की सहायता से राजकुमारी चंद्रप्रभा से मिलने का डौल बैठाता है। इस प्रकार के लगभग सनातन अभिप्रायों का बारम्बार उपयोग लोक में परम्पराओं की निरन्तरता को तो इंगित करता ही है। लोक और ''शास्त्र'' के बीच की कल्पित खाई को भी पाटता है।

लोक वाड.गमय में माली–मालिन के महत्व के इस प्रकरण का अंत भी हम दाऊद के ''चांदायन'' में से लिए एक सरस प्रसंग के साथ कर सकते हैं : यहां माली, नायक लोरिक के लौट आने की सूचना लोरिक की पत्नी मैना को बड़ी चतुराई से और बिना इस जानकारी को सार्वजनिक किये यूं देता है : वह गांव में घर–घर फूल बांटता है और फिर मैना के न चाहते हुए भी एक माला उसके गले में डाल देता है :– मैना फूलों में पति की सुवास पहचान कर उसके प्रत्यावर्तन की बात जान जाती है–

''कहंसि न मारी कम हुत आवा। फूल बास मइं लोरिक पावा।
जानउं अस तूं लोर पठावा। सपनंइ मांझ जाउ देखिउं आवा।
लागि बास मोर हिया जुड़ाना। अइस फूल पिउ लोरिक आना।''

विजय वर्मा

''अनहद'' 101/47,
मीरा मार्ग, मानसरोवर,
जयपुर–302021, राजस्थान

हिन्दी–उर्दू का अद्वैत

प्रो. महावीर सरन जैन

रोमानिया की राजधानी 'बुकारेस्त' (रोमानियन भाषा में उच्चारण 'बुकुरेशित', भारत में अंग्रेजी के अनुकरण पर 'बुखारेस्ट') में अक्टूबर 1985 ई. में हमने पाकिस्तानी राजदूतावास के प्रभारी राजदूत (शार्ज दै अफ़ैअर्स) मिस्टर एस.वाई. नक्वी को बिदाई दी। वे प्रथम सचिव–स्तर के राजनयिक थे। इसके थोड़े दिनों बाद ही बुकारेस्त में 'इंण्डो–रोमानियन ज्वाइंट कमीशन' की बैठक हुई जिसमें भाग लेने के लिए भारत से मंत्री एवं अधिकारीगण आए। इस उपलक्ष्य में भारत के तत्कालीन राजदूत, श्री हरदेव भल्ला ने अपने आवास पर स्वागत–समारोह का आयोजन किया तथा इसमें उन्होंने रोमानिया में नवागत पाकिस्तानी राजदूत श्री रब्बानी को भी आमंत्रित किया। भल्ला साहब ने मेरा एवं रब्बानी साहब का परिचय कराया। रब्बानी साहब ने मुझसे कहा, ''प्रोफेसर साहब! आप बुकारेस्त यूनिवर्सिटी में हिंदी के प्रोफेसर हैं। हम भी पाकिस्तान से उर्दू के प्रोफेसर को यहां बुलाना चाहते हैं। इस बारे में हमें तरक़ीब बताइएगा।''

मैंने उत्तर दिया, ''आप उर्दू के किसी प्रोफेसर को बुलाना चाहते हैं– यह मेरे लिए खुशी की बात है, मगर जब तक वे नहीं आते तब तक आप मुझे ही उर्दू का भी प्रोफेसर मान सकते हैं क्योंकि मैं हिंदी एवं उर्दू को एक ही जबान मानता हूं।''

मेरी इस बात को सुनकर वे चौंक पड़े और उन्होंने प्रतिवाद किया, ''ये आप क्या कह रहे हैं? दोनों ज़बानें तो जुदा–जुदा हैं।''

मैंने कहा, ''ज़बानें जुदा–जुदा नहीं हैं, हिन्दी–उर्दू एक ही ज़बान की दो स्टाइलें हैं।''

उन्होंने कहा, ''हरगिज़ नहीं, हम यह नहीं मानते।''

मेरे मन में यह भाव आया कि मेरे द्वारा राजनयिक वातावरण की औपचारिकताओं में विघ्न नहीं पड़ना चाहिए। मैंने अत्यंत विनम्र स्वरों में उनसे निवेदन किया, ''बेहतर हो, हम लोग अलग बैठकर आराम से इस मुद्दे पर बातचीत करें।''

मेरा यह प्रस्ताव उन्हें पसंद आया। हम दोनों एक सोफे पर बैठ गए। मैंने वार्ता आरंभ की, ''हिंदी मुसलमानों का दिया हुआ लफ्ज़ है।''

इसको सुनकर उन्होंने कुछ ऐसा भाव प्रकट किया, जैसे मैं उनको बनाने का प्रयास कर रहा हूं। इसके पहले कि वे कुछ कह पाते, मैंने गंभीर होकर कहा, ''देखिए आप एक देश के एम्बेसडर साहब हैं, हमारे मेहमान हुए हैं। मगर जरा आप यह भी सोचिए कि मैं भी एक प्रोफेसर हूं। मैं एकेडेमिक बात कह रहा हूं। किसी जजबात में रहकर कोई बात नहीं कह रहा हूं। मेरा इस मुद्दे पर जो नज़रिया है, मैंने जो पढ़ा–लिखा है, सोचा है, उसे आपके सामने रखने की कोशिश कर रहा हूं।''

मेरी बात सुनने के बाद वे आराम से बैठ गए। मैंने उन्हें विस्तारपूर्वक बतलाया कि ईरान की प्राचीन भाषा अवेस्ता में 'स' ध्वनि नहीं बोली जाती थी। 'स' को 'ह्' रूप में बोला जाता था। जैसे संस्कृत के 'असुर' शब्द को वहाँ 'अहुर' कहा जाता था। अफगानिस्तान के बाद सिन्धु नदी के इस पार हिन्दुस्तान के पूरे इलाके को प्राचीन फ़ारसी साहित्य में भी 'हिन्द', 'हिंदुश' के नामों से पुकारा गया है तथा यहां की किसी भी वस्तु, भाषा, विचार को 'एडजेक्टिव' के रूप में 'हिन्दीक' कहा गया है जिसका मतलब है 'हिंद का'। यही 'हिन्दीक' शब्द अरबी से होता हुआ ग्रीक में 'इंदीक', 'इंदिका', लैटिन में 'इंदिया' तथा अंग्रेजी में 'इंडिया' बन गया। अरबी एवं फारसी साहित्य में हिन्दी में बोली जाने वाली ज़बानों के लिए 'ज़बान–ए–हिन्दी', लफ्ज़ का प्रयोग हुआ है। भारत आने के बाद मुसलमानों ने 'जबान–ए–हिंदी', 'हिंदी जुबान' अथवा 'हिंदी' का प्रयोग दिल्ली–आगरा के चारों ओर बोली जाने वाली भाषा के अर्थ में किया। भारत के गैर–मुस्लिम लोग तो इस क्षेत्र में बोले जाने

वाले भाषा–रूप को 'भाखा' नाम से पुकारते थे, 'हिन्दी' नाम से नहीं। इसी कारण मैंने यह कहा था कि 'हिन्दी' मुसलमानों का दिया हुआ लफ़्ज़ है।

जिस समय मुसलमानों का यहां आना शुरू हुआ उस समय भारत के इस हिस्से में साहित्य–रचना शौरसेनी अपभ्रंश में होती थी। बाद में डिंगल साहित्य रचा गया। मुगलों के काल में अवधी तथा ब्रज में साहित्य लिखा गया। आधुनिक हिन्दी साहित्य की जो जुबान है, उस जुबान 'हिन्दवी' को आधार बनाकर रचना करने वालों में सबसे पहले रचनाकार का नाम अमीर खुसरो है जिनका समय 1253 ई. से 1325 ई. के बीच माना जाता है। ये फारसी के भी विद्वान थे तथा इन्होंने फारसी में भी रचनाएं लिखीं मगर 'हिन्दवी' में रचना करने वाले ये प्रथम रचनाकार थे। यदि आपको यकीन न हो तो मैं इनकी अनेक पहेलयाँ सुना सकता हूं।

रब्बानी साहब कुछ नहीं बोले। मैंने खुसरों की दो रचनाएं सुनाईं–

(1) क्या जानूं वह कैसा है। जैसा देखा वैसा है।

(2) एक नार न अचरज किया। सांप मारि पिंजड़े में दिया।

रब्बानी साहब ने कहा कि इन्हें तो उर्दू कहा जा सकता है। मैंने कहा कि नाम में क्या रखा है, आप चाहे हिन्दी कहें, हिन्दवी कहें, उर्दू कहें– एक ही तो बात है। मगर अमीर खुसरो ने इसे 'हिन्दवी' कहा है। एक जगह उन्होंने लिखा है जिसका भाव है कि मैं हिन्दुस्तानी तुर्क हूं, हिन्दवी में जवाब देता हूं। (उनकी मूल पंक्ति इस प्रकार है: 'तुर्क हिन्तुस्तानियम हिन्दवी गोयम जवाब')

उर्दू– इसके बाद हमारी बातचीत उर्दू के मतलब तथा उसके जन्म की तरफ मुड़ी। 'उर्दू' मूलतः तुर्की लफ़्ज़ है जिसके मायने होते हैं : छावनी, लश्कर। 'मुअल्ला' अरबी लफ़्ज़ है जिसके मायने होते हैं: सबसे बढ़िया। शाही पड़ाव, शाही छावनी, शाही लश्कर के लिए पहले 'उर्दू–ए–मुअल्ला' शब्द का प्रयोग आरम्भ हुआ। बाद में बादशाही सेना के पड़ावों, छावनियों तथा बाजारों (लश्कर बाजारों) में हिन्दवी अथवा देहलवी का जो भाषा रूप बोला जाता था उसे 'ज़बाने–उर्दू–ए–मुअल्ला' कहा जाने लगा। बाद को जब यह जुबान फैली तो 'मुअल्ला' शब्द हट गया तथा 'जबाने उर्दू' रह गया। 'ज़बाने उर्दू' के मतलब 'उर्दू की जुबान' या अंग्रेजी में 'लैंग्वेज ऑव उर्दू'। बाद को इसी को संक्षेप में उर्दू कहा जाने लगा।

जनता के द्वारा जो भाषा बोली जाती थी, उसको किस प्रकार दो भिन्न भाषाओं के रूप में प्रदर्शित करने के लिए षड्यंत्र रचा गया तथा एक को मुसलमानों की भाषा तथा दूसरी को हिन्दुओं की भाषा कहा गया। एक ही भाषा की दो स्टाइलें विकसित कराकर उनको भिन्न भाषाओं के रूप में प्रचारित–प्रसारित करने तथा तदनंतर उन्हें भिन्न धर्मों के साथ जोड़ देने की गहरी साजिश रची गई।

उर्दू में साहित्य–रचना बाद में आरम्भ हुई। उर्दू–साहित्य के इतिहासकार वली औरंगाबादी (रचनाकाल 1700 ई. के बाद) की उर्दू का प्रथम शायर मानते हैं। आधुनिक साहित्यिक हिन्दी का इतिहास लिखने वाले इनको खड़ी बोली की 'दक्खिनी हिन्दी' का एक कवि मानते हैं। शाहजहाँ ने अपनी राजधानी, आगरा के स्थान पर, दिल्ली बनाई और अपने नाम पर सन् 1648 ई. में 'शाहजहांनाबाद' आबाद किया, लाल किला बनाया। ऐसा मालूम होता है कि इसके बाद से राजदरबारों में फारसी के साथ–साथ 'ज़बाने –उर्दू–ए–मुअल्ला' में भी रचनाएं होने लगी। यह प्रमाण मिलता है कि शाहजहां के समय में पंडित चन्द्रभान बिरहमन ने बाजारों में बोली जाने वाली जनभाषा को आधार बनाकर फारसी शैली में रचनाएं कीं। ये फारसी लिपि जानते थे। अपनी रचनाओं को इन्होंने फारसी लिपि में लिखा। धीरे–धीरे दिल्ली के शाहजहांनाबाद की उर्दू–ए–मुअल्ला का महत्व बढ़ने लगा।

उर्दू के शायर मीर साहब (1712–1810 ई.) ने एक जगह लिखा है–

"दर फ़ने रेखता कि शेरस्त बतौर शेर फारसी व जबाने उर्दू–ए–मोअल्ला शाहजहांनाबाद देहली।"

ज़बान तथा स्क्रिप्ट – रब्बानी साहब ने कहा कि कम से कम

'स्क्रिप्ट' का अन्तर तो आप भी मानते हैं। मैंने कहा कि स्क्रिप्ट (लिपि) का भेद रहा है क्योंकि बादशाही दरबारों की भाषा फ़ारसी थी तथा लिपि भी फ़ारसी थी। उन्होंने अपनी रचनाओं को जनता तक पहुंचाने के लिए भाषा तो जनता की अपना ली, मगर उन्हें फारसी लिपि में लिखते रहे।

मगर ज़बान (भाषा) अलग चीज़ है, स्क्रिप्ट (लिपि) अलग चीज। ज़बान है जो बोली जाती है, लिपि है जिसमें उसे लिखा जाता है। एक ज़बान को एक से अधिक लिपियों मे लिखा जा सकता है तथा एक ही स्क्रिप्ट (लिपि) में एक से अधिक ज़बानें लिखी जा सकती हैं। रोमन लिपि में यूरोप की कितनी भाषाएं लिखीं जाती हैं। रोमन स्क्रिप्ट तो एक ही है, उसी एक स्क्रिप्ट में कितनी भाषाएं लिखी जाती हैं। हिन्दी के बहुत से कवियो ंने अपनी रचनाएं फारसी लिपि में लिखीं मगर उनकी रचनाएं फारसी भाषा की नहीं, हिन्दी की हैं। सन् 1928 ई. में जब तुर्कों ने अरबी के स्थान पर रोमन स्क्रिप्ट में लिखना स्वीकार किया, तो उनकी ज़बान नहीं बदल गयी, तब भी वे उसी प्रकार बोलते रहे जैसे पहले बोला करते थे।

इसके बाद मैंने यह स्पष्ट किया कि 18वीं सदी के अन्त तक हिन्दी, हिन्दवी, उर्दू, रेखता, देहलवी, हिन्दुस्तानी आदि शब्दों का ''सिनानिम'' (समानार्थी) रूप में प्रयोग होता रहा। मैं आपको उदाहरण दे सकता हूं जिससे यह बात साफ़ हो जाएगी। नासिख, सौदा, मीर तथा आतिश ने अपने शेरों को एकाधिक बार हिन्दी शेर कहा है तथा ग़ालिब ने अपने ख़तों में हिन्दी, उर्दू तथा रेखता का कई जगहों पर सिनानिम (समानार्थी) रूप में प्रयोग किया है।

अंग्रेज तथा हिन्दी और उर्दू का अलगाव – रब्बानी साहब ने जानना चाहा कि जो कुछ मैंने कहा है वह यदि सही है तो फिर हिन्दी एवं उर्दू को अलग–अलग ज़ुबान क्यों माना जाने लगा।

इसके लिए मैंने अंग्रेजों की हिन्दुओं एवं मुसलमानों में 'फूट डालो और राज्य करो' वाली नीति का ब्यौरा दिया। इस बारे में उन्होंने अपनी रज़ामंदी प्रकट की। इसके बाद काम आसान हो गया। मैंने कहा जैसे पालिटिक्स की अलग तरह की ज़बान होती है उसी प्रकार ज़बान की पालिटिक्स भी होती है जिसे अंग्रेजी में Glottopolitics कहते हैं। अंग्रेजों ने कलकत्ता में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना की। इसका उद्देश्य भारत में आने वाले अंग्रेज कर्मचारियों को देशी भाषाओं का ज्ञान कराना प्रतिपादित किया गया। उद्देश्य तो बहुत अच्छा था। मेरा सवाल है कि 19वीं सदी में ईसाई मिशनरियों ने उत्तर भारत में ईसाई धर्म के प्रचार–प्रसार के लिए बाइबिल के अनुवादों में जिस सरल एवं जनसुलभ भाषा–रूप को अपनाया, फोर्ट विलियम कॉलेज में अंग्रेज कर्मचारियों को सिखाने के लिए उस भाषा–रूप में भाषा–पाठ्य सामग्री का निर्माण क्यों नहीं किया गया? फोर्ट विलियम के डाइरेक्टर गिलक्राइस्ट ने लल्लूलाल को 'प्रेमसागर' के लिखते समय 'यामनी' (मुसलमानी) भाषा छोड़ दिल्ली–आगरे की खड़ी बोली में कहने की हिदायत क्यों दी? उन्होंने सदल मिश्र से यह क्यों ठहराया और उन्हें यह आज्ञा क्यों दी कि वे अध्यात्म–रामायण की रचना ऐसी बोली में करें जिसमें अरबी–फारसी के शब्द न आने पावें। सबसे पहले गिल क्राइस्ट ने हिन्दी तथा 'उर्दू' का भेद नहीं किया। सन् 1804 ई. में उन्होंने 'हिन्दुस्तानी' एवं 'खरी बोली' का अंतर बतलाते हुए कहा कि खरी बोली में किसी भी अरबी एवं फारसी शब्द का प्रयोग नहीं होता। जनता तो अरबी–फारसी शब्दों का प्रयोग अंग्रेजों के आने के पहले भी करती थी, उनके ज़माने में भी करती थी और आज भी करती है। मगर गिलक्राइस्ट के सिर पर तो भाषा के शुद्धिकरण की चिन्ता सवार थी। वे खरी, शुद्ध, बिना, मिलावट

मगर ज़बान (भाषा) अलग चीज़ है, स्क्रिप्ट (लिपि) अलग चीज। ज़बान है जो बोली जाती है, लिपि है जिसमें उसे लिखा जाता है। एक ज़बान को एक से अधिक लिपियों मे लिखा जा सकता है तथा एक ही स्क्रिप्ट (लिपि) में एक से अधिक ज़बानें लिखी जा सकती हैं। रोमन लिपि में यूरोप की कितनी भाषाएं लिखीं जाती हैं। रोमन स्क्रिप्ट तो एक ही है, उसी एक स्क्रिप्ट में कितनी भाषाएं लिखी जाती हैं। हिन्दी के बहुत से कवियो ंने अपनी रचनाएं फारसी लिपि में लिखीं मगर उनकी रचनाएं फारसी भाषा की नहीं, हिन्दी की हैं।

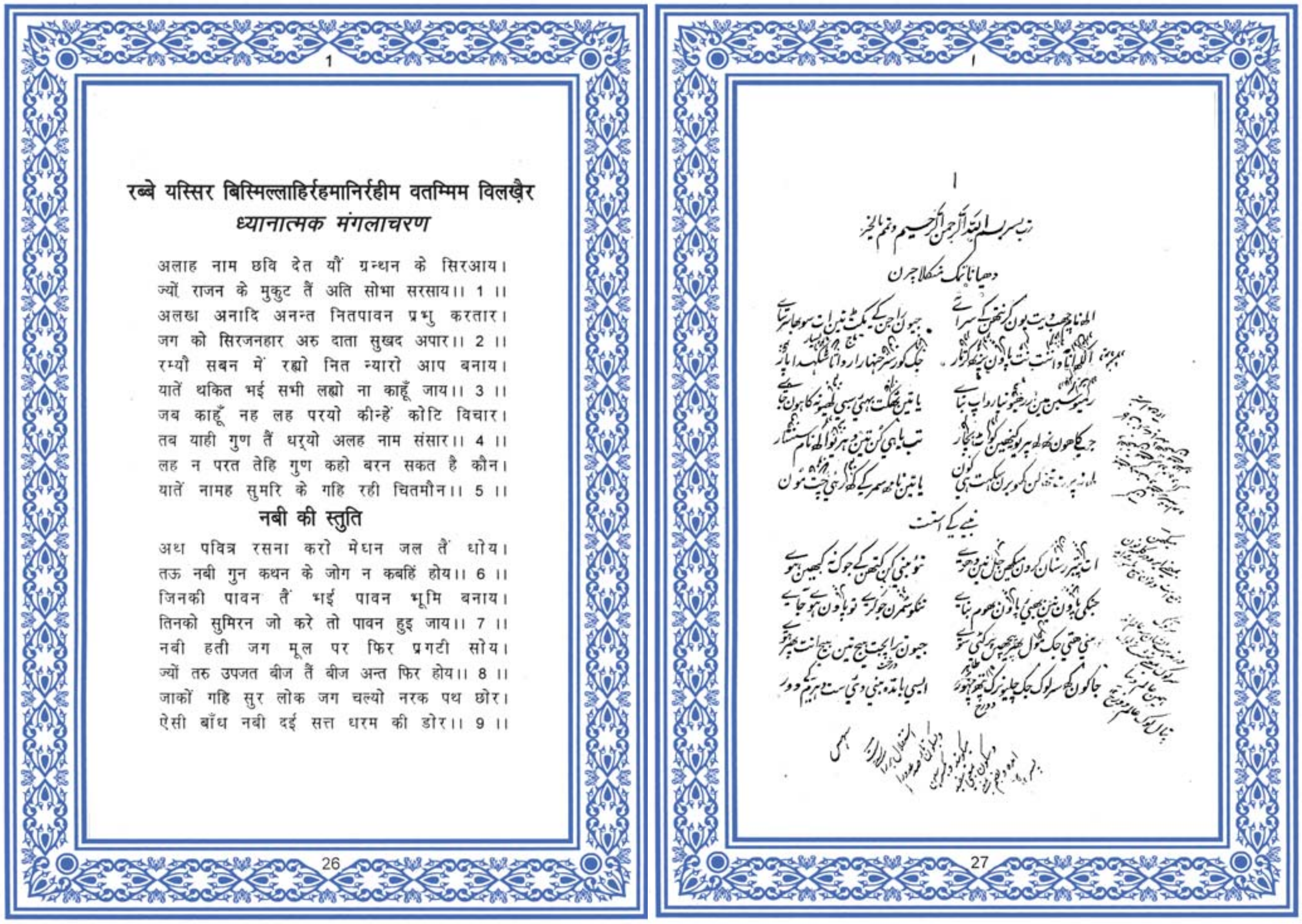
1

रब्बे यस्सिर बिस्मिल्लाहिर्रहमानिर्रहीम वतम्मिम विलख़ैर

ध्यानात्मक मंगलाचरण

अलाह नाम छवि देत यौं ग्रन्थन के सिरआय।
ज्यों राजन के मुकुट तैं अति सोभा सरसाय।। 1 ।।
अलख अनादि अनन्त नितपावन प्रभु करतार।
जग को सिरजनहार अरु दाता सुखद अपार।। 2 ।।
रम्यौ सबन में रह्यो नित न्यारो आप बनाय।
यातें थकित भई सभी लह्यो ना काहूँ जाय।। 3 ।।
जब काहूँ नह लह परयो कीन्हें कोटि विचार।
तब याही गुण तैं धर्‌यो अलह नाम संसार।। 4 ।।
लह न परत तेहि गुण कहो बरन सकत है कौन।
यातें नामह सुमरि के गहि रही चितमौन।। 5 ।।

नबी की स्तुति

अथ पवित्र रसना करो मेधन जल तैं धोय।
तऊ नबी गुन कथन के जोग न कबहिं होय।। 6 ।।
जिनकी पावन तैं भई पावन भूमि बनाय।
तिनको सुमिरन जो करे तो पावन हुइ जाय।। 7 ।।
नबी हती जग मूल पर फिर प्रगटी सोय।
ज्यों तरु उपजत बीज तैं बीज अन्त फिर होय।। 8 ।।
जाकों गहि सुर लोक जग चल्यो नरक पथ छोर।
ऐसी बाँध नबी दई सत्त धरम की डोर।। 9 ।।

26

1

27

सौजन्यः रामपुर रजा लाइब्रेरी रामपुर

सैयद गुलाम नबी रसलीन बिलग्रामी की रसप्रबोध में से

की, खालिस तथा विशुद्ध भाषा का निर्माण कराने में लग गए। 1804 ई. में जो अंतर 'हिन्दुस्तानी' एवं 'खरी बोली' में प्रतिपादित किया गया था उसे सन् 1812 ई. में 'हिन्दुस्तानी–रेख्ता' एवं 'हिन्दी' का भेद बतलाया गया। सन् 1812 ई. में फोर्ट विलियम कॉलेज के वार्षिक विवरण में कैप्टन टेलर ने यह भेद बतलाते हुए कहा :

''मैं केवल हिन्दुस्तानी या रेख्ता का जिक्र कर रहा हूं जो फ़ारसी लिपि में लिखी जाती है। मैं हिन्दी का जिक्र नहीं कर रहा हूं जिसकी अपनी लिपि है तथा जिसमें अरबी–फारसी शब्दों का प्रयोग नहीं होता।''

मैंने केवल इशारा किया है कि

जनता के द्वारा जो भाषा बोली जाती थी, उसको किस प्रकार दो भिन्न भाषाओं के रूप में प्रदर्शित करने के लिए षड्यंत्र रचा गया तथा एक को मुसलमानों की भाषा तथा दूसरी को हिन्दुओं की भाषा कहा गया। एक ही भाषा की दो स्टाइलें विकसित कराकर उनको भिन्न भाषाओं के रूप में प्रचारित–प्रसारित करने तथा तदनंतर उन्हें भिन्न धर्मों के साथ जोड़ देने की गहरी साजिश रची गई।

उर्दू को इस्लाम धर्म या मुसलमानों के साथ जोड़ दिया गया। ग्रियर्सन तक ने कहा कि 'उर्दू' इस्लाम के साथ दूर–दूर तक फैली।

रब्बानी साहब ने बतलाया कि हम भी उर्दू को मुसलमानों की ज़बान मानते हैं तथा पाकिस्तान में उर्दू को अपने वतन की तहज़ीब एवं पहचान की ज़बान माना जाता है।

भाषा एवं धर्म– मैंने सवाल उठाया कि क्या धर्म की कोई भाषा होती है। मैंने यह स्थापना की कि धर्म की भाषा नहीं होती, किसी धर्म के ग्रंथों की भाषा अवश्य होती है। इस दृष्टि से इस्लाम के धर्मग्रंथ पवित्र 'क़ुरान' की ज़बान अरबी है। मुसलमानों की कोई भाषा नहीं है, मुसलमानों के इस्लाम धर्म की 'क़ुरान–ए–शरीफ़' की भाषा अरबी है। इसी प्रकार ईसाइयों की कोई भाषा नहीं है, ईसाइयों के धर्म–ग्रंथ 'बाइबिल' (ओल्ड टेस्टामेण्ट) की भाषा हिब्रू है। अरबी एवं हिब्रू दोनों ही 'सामी' या सेमेटिक परिवार की भाषाएं हैं। इस्लाम धर्म एवं ईसाई धर्म के अनुयायी संसार के अलग–अलग मुल्कों में रहते हैं तथा जहां रहते हैं वहां की भाषा बोलते हैं। भारत में केरल के मुसलमान मलयालम बोलते हैं, तमिलनाडु के मुसलमान तमिल तथा पश्चिम बंगाल के मुसलमान बंगला। बंगलादेश में भी जो मुसलमान रहते हैं वे उर्दू का नहीं, अपितु बंगला भाषा का प्रयोग करते हैं।

हिन्दी एवं उर्दू की भाषिक एकता के संबंध में मैंने रब्बानी साहब से यह प्रश्न किया कि क्या आप इस बात से सहमत हैं कि यदि दो लैंग्वेज भिन्न होती हैं, तो एक भाषा के वाक्य का हम दूसरी भाषा में अनुवाद या तर्जुमा कर सकते हैं। उन्होंने सहमति व्यक्त की। मैंने कहा कि मैं हिन्दी के कुछ जुमले बोल रहा हूं, आप मुझे यह बतलाने की कृपा करें कि उर्दू में इनका अनुवाद किस प्रकार होगा।

1. मैं रोजाना जाता हूं।

2. मुझे चार रोटियां खानी हैं।

3. हिन्दुस्तान और पाकिस्तान की धरती के पानी तथा आकाश की हवा में क्या फर्क है?

उन्होंने ठहाका लगाया और कहा कि प्रोफेसर साहब आप तो उर्दू बोल रहे हैं और मुझसे कह रहे हैं कि मैं इनका उर्दू में ट्रान्सलेशन कर दूँ। आप हिन्दी में बोलिए तो मैं ट्रान्सलेशन करने की कोशिश करूँ।

अन्त में, मैंने रब्बानी साहब से कहा कि मैं भाषाविज्ञान का भी विद्यार्थी हूँ तथा मैंने भाषाविज्ञान में पढ़ा है कि भिन्न भाषा–भाषी व्यक्ति परस्पर बातचीत नहीं कर सकते, विचारों का आदान–प्रदान नहीं कर सकते । जैसे यदि मुझे फ्रेंच भाषा नही आती तथा फ्रेंच भाषी व्यक्ति को मेरी भाषा नहीं आती, तो यदि वह फेंच बोलेगा तो मैं उसकी बात नहीं समझ पाऊंगा तथा मैं हिन्दी में बोलूंगा तो वह मेरी बात नहीं समझ पाएगा। दोनों के बीच संकेतों, मुख–मुद्राओं, भावभंगिमाओं के माध्यम से भले ही भावों का आदान–प्रदान हो जाए मगर भाषा के द्वारा विचारों का आदान–प्रदान नहीं हो पाएगा। मैंने प्रश्न किया कि हम लोग इतनी देर से बातचीत कर रहे हैं, मैं तो आपकी बातें पूरी तरह से समझ सका हूं, आप मेरी बात समझ सके हैं या नहीं? रब्बानी साहब ने कहा, ''बात समझने में तो मुझे भी दिक्कत नहीं हुई। अलबत्ता कुछ अल्फाज़ मेरी समझ में नहीं आए थे जिन्हें आपने अंग्रेजी में ट्रान्सलेट कर दिया।'' मैंने कहा, ''रब्बानी साहब, आप कहते हैं कि आपको हिन्दी नहीं आती, आप कह रहे हैं कि इतनी देर तक आप उर्दू में बोले। मैं कह सकता हूं कि मुझे उर्दू नहीं आती, मैं कहता हूं कि इतनी देर तक मैं हिन्दी में बोला। मगर हम दोनों इतनी देर तक बातचीत करते रहे और एक दूसरे की बात को समझते भी रहे। इसलिए मैं कहता हूं कि हिन्दी तथा उर्दू अलग–अलग ज़ुबान नहीं है।''

इसके बाद मेरी रब्बानी साहब से अनेक बार मुलाकातें हुई। भाषा एवं जाति, भाषा एवं धर्म तथा भाषा एवं संस्कृति– जैसे विषयों पर उनके साथ विचार–विमर्श हुआ। रब्बानी साहब ने बतलाया कि इस्लाम की पैदाइश तो अरब में ही हुई। बाद को जब यह ईरान में फैला तो पर्शियन कल्चर का इस पर प्रभाव पड़ा। जब इस्लाम मज़हब हिन्दुस्तान आया तो इसका प्रभाव हिन्दुस्तान पर पड़ा।

मैंने कहा, ''रब्बानी साहब जैसे मैं मज़हब तथा भाषा (ज़बान) का संबंध नहीं मानता, वैसे ही जाति तथा भाषा, मज़हब तथा जाति, तथा मज़हब एवं कल्चर का भी अटूट संबंध नहीं मानता। हमें इनका फ़र्क पहचानना चाहिए।''

जाति तथा भाषा – एक जाति के लोग प्रायः एक भाषा बोलते हैं, इस कारण जाति और भाषा का संबंध मान लिया जाता है। अमेरिका में 'श्वेत' जाति अलग है, 'नीग्रो' अलग है। वहाँ लाखों नीग्रो अंग्रेजी भाषा बोलते हैं। अंग्रेजी बोलने के कारण इन नीग्रो लोगों को श्वेत जाति का नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार जर्मनी में दो जातियाँ रहती हैं (1) नार्डिक (2) आल्पाइन। मगर दोनों जातियां जर्मन भाषा बोलती हैं आप रोमानिया को ही देख लीजिए। यहां रोमानियन, माग्यार (हंगेरियन) जर्मन, जिप्सी, उक्रेनियन, सेब्रेनियन, यहूदी, तुर्क अनेक जातियों के लोग रहते हैं मगर सब रोमानियन भाषा बोलते हैं।

जाति तथा धर्म — सामान्य व्यवहार में हम धर्म को जाति से जोड़ने की भूल करते आए हैं : हिन्दू जाति, मुस्लिम जाति, ईसाई जाति। वैज्ञानिक दृष्टि से इस तरह की बातें भ्रामक हैं। अंग्रेज जाति, रूसी जाति, मग्यार जाति, चैक जाति— ये अलग—अलग जातियां हैं। ये सभी ईसाई धर्म को मानती हैं। भारत एवं पाकिस्तान में भी 'ईसाई' रहते हैं। क्या इन्हें इंग्लैंड के ईसाइयों की अंग्रेज़ जाति का माना जा सकता है?

धर्म एवं संस्कृति — धर्म को संस्कृति के साथ जोड़ना भी ठीक नहीं है, हिन्दू संस्कृति, मुस्लिम संस्कृति, ईसाई संस्कृति, बौद्ध संस्कृति— जैसे शब्दों का प्रयोग होता है मगर ये प्रयोग अवैज्ञानिक है। बौद्ध धर्म का प्रचार—प्रसार तिब्बत, लंका, जापान तीनों देशों में है। धर्म की दृष्टि से तीनों देश बौद्ध धर्म को मानते हैं। मगर तीनों देशों की भाषाएं अलग हैं, संस्कृतियाँ अलग हैं।

अंग्रेज लोगों ने भारत पर शासन किया। अंग्रेजी भाषा का प्रभाव भारत की भाषाओं पर पड़ा। यूरोपीय कल्चर ने हिन्दुस्तान की संस्कृति को प्रभावित किया। यह कहना अवैज्ञानिक है कि ईसाई भाषा ने हमारी भाषाओं को प्रभावित किया या ईसाई कल्चर से हमारी कल्चर प्रभावित हुई।

इण्डोनेशिया, इराक, ईरान तथा सूडान ये चारों देश इस्लाम धर्म को मानते हैं। धर्म की दृष्टि से ये चारों मुस्लिम देश हैं। मगर इनकी भाषाएं अलग हैं। इनकी कल्चर अलग हैं।

इण्डोनेशिया में आस्ट्रिोनेशियन परिवार की इण्डोनेशियन—बहासा तथा जावी आदि भाषाएं बोली जाती हैं तथा यहां जावा—सुमात्रा—बोर्नियो आदि द्वीपों का कल्चर है।

इराक में सामी या सेमेटिक परिवार की अरबी तथा कुर्दिश भाषाएं बोली जाती हैं। इराक मासोपोटामिया कल्चर का वंशधर है।

ईरान में इण्डो—यूरोपियन परिवार की 'इण्डो—ईरानियन' शाखा की फ़ारसी (पर्शियन) भाषा बोली जाती है तथा इसका ईरानी या पर्शियन कल्चर है।

मैंने संदर्भ से यह भी बतलाना उचित समझा कि फ़ारसी की प्राचीन भाषा का नाम 'अवेस्ता' था जिसमें जोरोस्ट्रियन (अवेस्ता में 'ज़रथुस्त्र') धर्म ग्रंथ की रचना हुई थी।

सूडान में अफ्रीका महाद्वीप की संस्कृति है तथा वहां अफ्रीकन परिवार की डिन्का, नूबा आदि भाषाएं बोली जाती हैं।

भारत एवं इस्लामी संस्कृति

रब्बानी साहब ने कहा कि उन्होंने अनेक किताबें पढ़ी हैं जिनमें हिन्दुस्तान का कल्चर पर इस्लामी कल्चर का असर साफ—साफ दिखलाया गया है। उन्होंने डॉक्टर ताराचंद की किताब ''इन्फ्लुयेन्सिस ऑफ इस्लाम ऑन इण्डियन कल्चर'' का नाम लिया। उन्होंने बतलाया कि प्रोफेसर हुमायूँ कबीर ने भी 'अवर हेरिटेज़' नामक किताब में यही बात कही है। उन्होंने अन्य बहुत से विद्वानों के नाम तथा उनकी किताबों के नाम लिए जो मुझे इस समय याद नहीं है। मैंने कहा कि आपकी बात सही है। अंग्रेजों ने हमारे पूरे समाज को हिन्दू एवं मुसलमान— इन दो भागों में बांटकर देखा तथा दिखाया। मैंने कहा कि इस बारे में दो बातें हैं—

1— किसी मज़हब के असूलों का प्रभाव दूसरे मज़हबों पर पड़ता है या पड़ सकता है या किसी देश या जाति के लोगों के सोचने के ढंग को भी प्रभावित कर सकता है, मगर भाषाएं तो भाषाओं से प्रभावित होती हैं तथा संस्कृतियाँ संस्कृतियों से प्रभावित होती हैं। हमारी भाषाओं पर अंग्रेजी भाषा का प्रभाव पड़ा, हमारा कल्चर यूरोपीय कल्चर से प्रभावित हुआ, न कि हमारी भाषाएं एवं हमारा कल्चर 'ईसाई मज़हब' से प्रभावित हुए।

2— हिन्दुस्तान में एक ही देश, एक ही जुबान तथा एक ही जाति के मुसलमान नहीं आए। सबसे पहले यहां अरब लोग आए। अरब सौदागर, फ़कीर, दरवेश सातवीं शताब्दी से आने आरंभ हो गए थे तथा आठवीं शताब्दी (711—713 ई.) में अरब लोगों ने सिन्ध एवं मुलतान पर कब्जा कर लिया। इसके बाद तुर्की के तुर्क तथा अफ़गानिस्तान के पठान लोगों ने आक्रमण किया तथा यहां शासन किया। शहाबुद्दीन गौरी (1175—1206) के आक्रमण से लेकर गुलामवंश (1206—1290), खिलजीवंश (1290—1320), तुगलक वंश (1320—1412), सैयद वंश (1414—1451) तथा लोदीवंश (1451—1526) के शासनकाल तक हिन्दुस्तान में तुर्क एवं पठान जाति के लोग आए तथा तुर्की एवं पश्तो भाषाओं तथा तुर्क—कल्चर तथा पश्तो—कल्चर का प्रभाव पड़ा।

मुगल वंश की नींव डालने वाले बाबर का संबंध यद्यपि मंगोल जाति से कहा जाता है और बाबर ने अपने को मंगोल बादशाह 'चंगेज़ खां' का वंशज कहा है और मंगोल का ही रूप

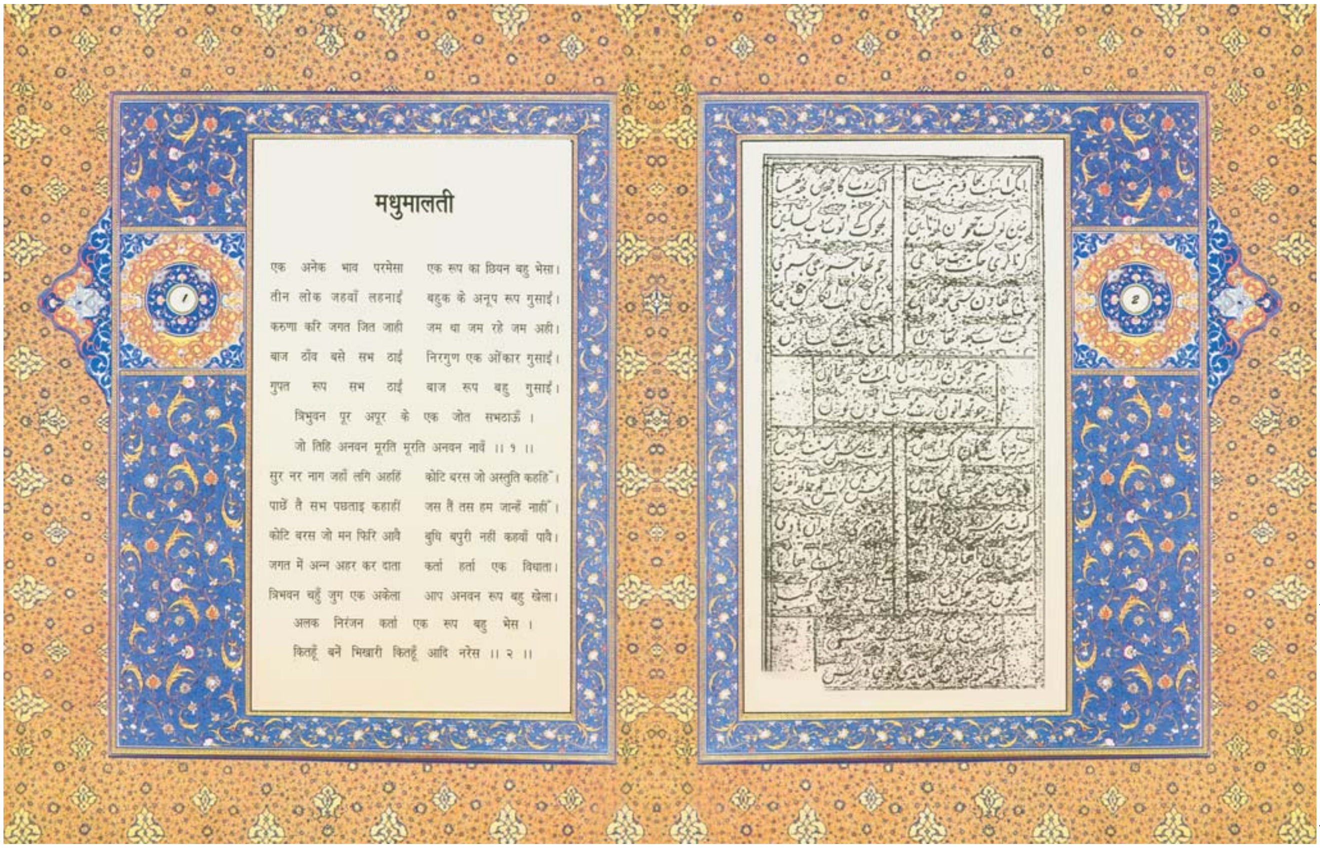

सौजन्यः रामपुर रज़ा लाइब्रेरी रामपुर

'मुगल' हो गया, मगर बाबर का जन्म मध्य एशिया क्षेत्र के अंतर्गत फरगाना में हुआ था। मंगोल एवं तुर्की दोनों जातियों का वंशज बाबर वहीं की एक छोटी सी रियासत का मालिक था। उज़्बेक लोगों के द्वारा खदेड़े जाने के बाद बाबर ने अफ़गानिस्तान पर कब्जा किया तथा बाद में 1526 ई. में भारत पर आक्रमण किया। बाबर की सेना में मध्य एशिया के उज़्बेक एवं ताज़िक जातियों के लोग थे तथा अफ़गानिस्तान के पठान लोग थे।

बाबर का उत्तराधिकारी हुमायूँ जब अफ़गान नेता शेरखां (बादशाह शेरशाह) से युद्ध में पराजित हो गया तो उसने 1540 ई. में 'ईरान' में जाकर शरण ली। 15 वर्षों के बाद 1555 ई. में हुमायूँ ने भारत पर पुनः आक्रमण कर अपना खोया हुआ राज्य प्राप्त किया। 15 वर्षों तक ईरान में रहने के कारण उसके साथ ईरानी दरबारी सामन्त एवं सिपहसालार आए। हुमायूँ, अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ, औरंगजेब आदि मुगल बादशाह यद्यपि ईरानी जाति के नहीं थे, 'मुगल' थे (तत्वतः मंगोल एवं तुर्की जातियों के रक्त मिश्रण के वंशधर) फिर भी इन सबके दरबार की भाषा फारसी थी तथा इनके शासनकाल में पर्शियन कल्चर का हिन्दुस्तान की कल्चर पर अधिक प्रभाव पड़ा।

इस्लाम धर्मावलंबी अनेक जातियों की भाषाओं– संस्कृतियों का प्रभाव

इस प्रकार जिसको आप इस्लाम संस्कृति का प्रभाव कहते हैं या समझते हैं वह इस्लाम धर्म को मानने वाली विभिन्न जातियों की संस्कृतियों के प्रभाव के लिए अंग्रेजों द्वारा दिया हुआ एक नाम है, लफ़ज़ है। अरबी, तुर्की, उज़्बेकी, ताज़िकी, अफगानी या पठानी, पर्शियन या ईरानी अनेक जातियों की भाषाओं एवं संस्कृतियों का हमारी भाषाओं पर तथा हिन्दुस्तान के कल्चर पर प्रभाव पड़ा है।

जीवन के जिस क्षेत्र में हमने संस्कृति के जिस तत्व को ग्रहण किया तो उसके वाचक शब्द को भी अपना लिया। तुर्की

से कालीन (क़ालीन) और गलीचा (गालीचः), अरबी से कुर्सी तथा फारसी से मेज़, तख्त (तख़्त) तथा तख़्ता शब्द आए। फ़ारसी से जाम तथा अरबी से सुराही तथा साकी (साक़ी) शब्दों का आदान हुआ। कंगूरा (फ़ारसी–कंगूरः), गुंबद, बुर्जी (अरबी–बुर्ज) तथा मीनार आदि का चलन हमारी स्थापत्यकला पर अरबी–फारसी कल्चर के प्रभाव को बताता है। कव्वाली (फारसी–कव्वाली), गजल (अरबी–गज़ल) तथा कई रुबाई शब्दों से हम सब परिचित हैं क्योंकि उत्तर भारत में कव्वाल लोग कव्वाली गाते हैं तथा अन्य संगीतज्ञ ग़ज़ल एवं रुबाई पढ़ते हैं। जब भारत के वातावरण में शहनाई गूँजने लगी तो अरबी शब्द 'शहनाई' भी बोला जाने लगा। मृदंग और पखावज के स्थान पर जब संगत करने के लिए तबले का प्रयोग बढ़ा तो तबला (अरबी–तब्लः) शब्द हमारी भाषाओं का अंग बन गया। धोती एवं उत्तरीय के स्थान पर जब पहनावा बदला तो कमीज (अरबी–कमीस, तुर्की–कमाश), पाजामा (फारसी–पाजामः), चादर, दस्ताना (फारसी–दस्तानः), मोजा (फारसी–मोजः), शब्द प्रचलित हो गए।

जब क़ाबुल और कंधार (अफगानिस्तान) तथा बुखारा एवं समरकंद प्रदेश (उज़्बेकिस्तान) से भारत में मेवों तथा फलों का आयात बढ़ा तो भारत की भाषाओं में अंजीर, किशमिश, पिस्ता, बादाम, मुनक्का आदि मेवों तथा आलू बुखारा, खरबूजा, खुबानी (फारसी–ख़ूबानी), तरबूज, नाशपाती, सेब आदि फलों के नाम–शब्द भी आ गए। मुस्लिम–शासन के दौरान मध्य एशिया और ईरानी अमीरों के रीतिरिवाजों के अनुकरण पर भारत के सामन्त भी बड़ी–बड़ी दावतें देने लगे थे। यहां की दावतों में गुलाबजामुन, गज्जक, बर्फी, बालूशाही, हलवा–जैसी मिठाइयां परोसी जाने लगीं। खाने के साथ अचार का तथा पान का साथ गुलकंद का प्रयोग होने लगा। गर्मियों में शरबत, मुरब्बा, कुल्फी का प्रचलन हो गया। निरामिष में पुलाव तथा सामिष में कबाब एवं कीमा

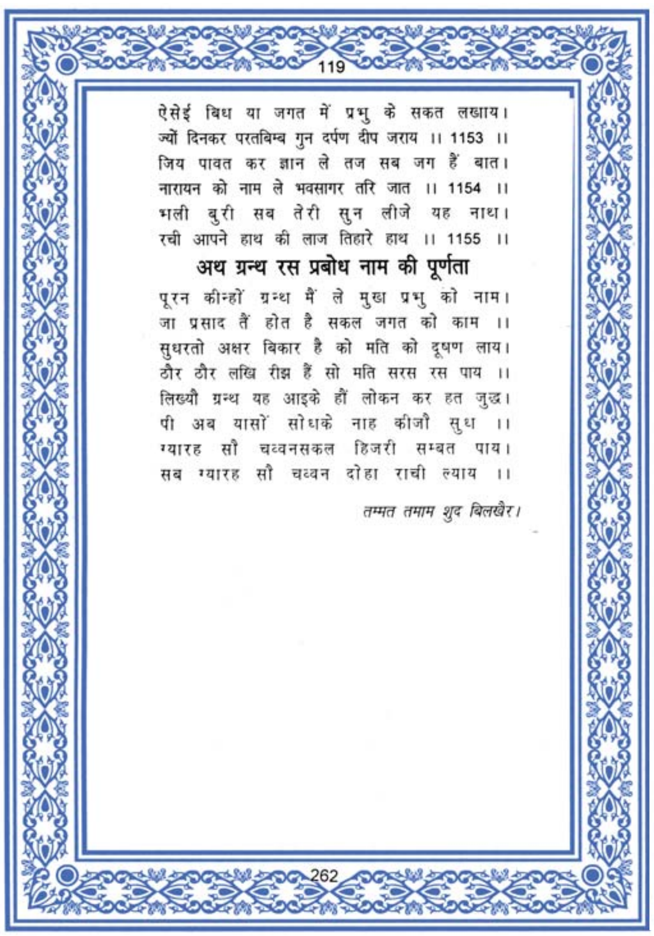

119

ऐसेई बिध या जगत में प्रभु के सकत लखाय।
ज्यों दिनकर परतबिम्ब गुन दर्पण दीप जराय ।। 1153 ।।
जिय पावत कर ज्ञान ले तज सब जग हैं बात।
नारायन को नाम ले भवसागर तरि जात ।। 1154 ।।
भली बुरी सब तेरी सुन लीजे यह नाथ।
रची आपने हाथ की लाज तिहारे हाथ ।। 1155 ।।

अथ ग्रन्थ रस प्रबोध नाम की पूर्णता

पूरन कीन्हों ग्रन्थ मैं ले मुख प्रभु को नाम।
जा प्रसाद तैं होत है सकल जगत को काम ।।
सुधरतो अक्षर बिकार है को मति को दूषण लाय।
ठौर ठौर लखि रीझ हैं सो मति सरस रस पाय ।।
लिख्यौ ग्रन्थ यह आइके हौं लोकन कर हत जुद्ध।
पी अब यासों सोधके नाह कीजौ सुध ।।
ग्यारह सौ चव्वनसकल हिजरी सम्बत पाय।
सब ग्यारह सौ चव्वन दोहा राची ल्याय ।।

तम्मत तमाम शुद बिलखैर।

262

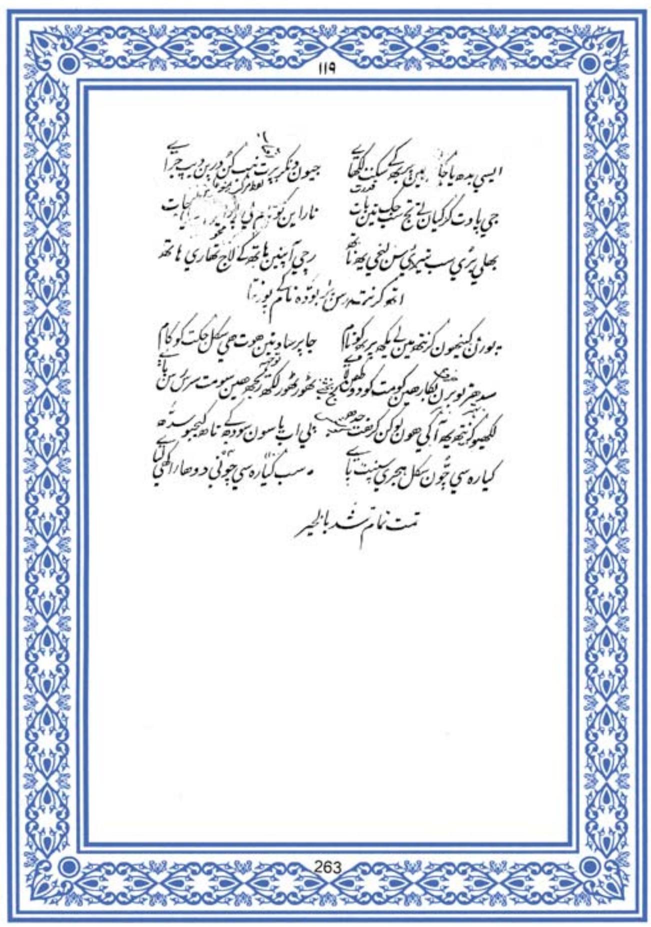

263

सौजन्यः रामपुर रजा लाइब्रेरी रामपुर

सैयद गुलाम नबी रसलीन बिलग्रामी की रसप्रबोध में से

दावत के अभिन्न अंग बन गए। श्रृंगार–प्रसाधन तथा मनोरंजन के नए उपादान आए तो उनके साथ उनके शब्द भी आए। खस का इत्र, साबुन, खिजाब, सुर्मा, ताश आदि शब्दों का प्रयोग इसका प्रमाण है। कागज़, कागज़ात, कागज़ी, जैसे अरबी शब्दों से यह संकेत मिलता है कि संभवतः अरब के लोगों ने भारत में कागज बनाने का प्रचार किया। मीनाकारी, नक़्काशी, कसीदाकारी, रफ़ूगीरी– जैसे शब्दों से कला–कौशल के क्षेत्र में शब्दों से जुड़ी जुबानों के क्षेत्रों की कल्चर के प्रभाव की जानकारी मिलती है।

बोलचाल की भाषा तथा साहित्यिक भाषा का अन्तर

रब्बानी साहब ने जानना चाहा कि उन्हें मुझसे बातें करते समय तो कोई खास फर्क नहीं मालूम पड़ता मगर जब वे हिन्दी की कविता सुनते हैं तो बहुत फर्क मालूम पड़ता है।

मैंने रब्बानी साहब को बोलचाल की भाषा तथा साहित्यिक भाषा (लिटरेरी लैंग्वेज) का अन्तर बतलाया। मैंने रेखांकित किया कि किसी भाषा को हम उसके 'ग्रामर' से पहचानते हैं। मैं डवदकंल को डंतामज जाऊंगा– यह जुमला हिन्दी–उर्दू का कहलाएगा। इसका कारण यह है कि इसका ग्रामर हिन्दी–उर्दू का है, इसमें भले ही अल्फाज़ अंग्रेजी के अधिक हैं।

शब्द भाषा में आते रहते हैं, जाते रहते हैं। जब जीवन बदलता है, कल्चर बदलता है, तो शब्द भी बदल जाते हैं। ग्रामर के बदलने की रफ़्तार बहुत धीमी होती है। इसी कारण कोई भाषा उसके व्याकरण से पहचानी जाती है।

मुस्लिम शासन के दौरान तुर्की, अरबी, फ़ारसी, उज़्बेकी, ताज़िकी, पश्तो आदि भाषाओं के शब्द किस प्रकार हिन्दुस्तान की भाषाओं में आकर घुलमिल गए– इस बारे में हमने अलग–अलग अवसरों पर विचार–विमर्श किया। उर्दू बोलने वाले भले ही अरबी–फ़ारसी शब्दों का अधिक प्रयोग करते हों मगर भारत की भाषाओं में घुलमिल जाने वाले शब्दों का सभी लोग प्रयोग करते हैं। मूल शब्दों के पहले या बाद में जुड़कर उनका अर्थ बदलने वाले तुर्की, अरबी, फारसी के 'प्रिफ़िक्सिस' (उपसर्गों) एवं 'सफिक्सिस' (प्रत्ययों) का भी हिन्दी की सभी उपभाषाओं एवं बोलियों में बोलने वाले तथा साहित्य–रचना करने वाले प्रयोग करते हैं। बदचलन, बावजूद, बाकायदा, बेईमान, बेशक आदि शब्दों का सभी प्रयोग करते हैं जिनमें 'बद–', 'बा–', 'बे–' उपसर्ग हैं। इसी प्रकार पानदान, पीकदान, जादूगर, बाजीगर, सौदागर, जेलखाना, कारखाना, इलाहाबाद, हैदराबाद, अहमदाबाद आदि शब्दों में '–दान', '–गर', '–खाना', '–आबाद' प्रत्यय हैं। क्रिया की कुछ धातुओं का भी सभी प्रयोग करते हैं। खरीदना, गुज़रना, वसूलना, आदि धातुओं का हिन्दी–साहित्य में भी प्रयोग होता है तथा उर्दू–साहित्य में भी। इस प्रकार जो प्रभाव पड़ा है वह शब्दों, उपसर्गों, प्रत्ययों, धातुओं पर पड़ा है। उर्दू पर अधिक, शेष भाषा–रूपों पर कम।

मगर अरबी, फारसी तथा तुर्की के व्याकरण को हमारी भाषाओं ने ग्रहण नहीं किया। हिन्दी–उर्दू के 'ग्रामर' में कोई अन्तर नहीं है। अपवादस्वरूप संबंधकारक चिन्ह तथा बहुवचन प्रत्यय को छोड़कर। हिन्दी की उपभाषाओं, बोलियों, व्यवहारिक हिन्दी, मानक हिन्दी में बोला जाता है– 'गालिब का दीवान'। उर्दू की ठेठ स्टाइल में कहा जाएगा –'दीवाने गालिब'। अब दैनिक हिन्दी समाचार–पत्रों में इस प्रकार के प्रयोग धड़ल्ले से हो रहे हैं।, हिन्दी में 'मकान' का अविकारी कारक बहुवचन वाक्य में 'मकान' ही बोला जाएगा। 'उसके तीन मकान'। उर्दू में 'मकान' में '–आत' जोड़कर बहुवचन प्रयोग किया जाता है– 'मकानात'। विकारी कारक बहुवचन वाक्य में प्रयोग होने पर हिन्दी–उर्दू में '–ओं' जोड़कर 'मकानों' ही बोला जाएगा। 'मकानों को गिरा दो' – यह प्रयोग हिन्दी में भी होता है तथा उर्दू में भी। कुछ शब्दों का प्रयोग हिन्दी में स्त्रीलिंग में तथा उर्दू में पुल्लिंग में होता है। हिन्दी में 'ताज़ी खबरें' तथा उर्दू में 'ताजा ख़बरें'। इस प्रकार का अन्तर 'पश्चिमी– हिन्दी' तथा पूर्वी –हिन्दी' की उपभाषाओं में कई शब्दों के प्रयोग में मिलता है। इनको छोड़कर हिन्दी–उर्दू का ग्रामर एक है। चूंकि इनका ग्रामर एक है इस कारण हिन्दी–उर्दू भाषा की दृष्टि से एक है। इसलिए बोलचाल में दोनों में फर्क नहीं मालूम पड़ता।

'साहित्यिक भाषा' में भाषा के अलावा अन्य बहुत से तत्व होते हैं। साहित्य में कथानक होता है, वहां किसी की किसी से उपमा (सिमिली) दी जाती है, अलंकृत शैली (ऑरनेट स्टाइल) होती है, प्रतीक रूप में (सिम्बॉलिक) वर्णन होता है, छंद (मीटर) होते हैं। प्रत्येक देश के साहित्य की अपनी परम्परा होती है, कथा, कथानक, कथानक–रूढ़ियों, अलंकार–योजना, प्रतीक–योजना, बिम्ब–योजना, छंद–विधान की विशेषताएं होती हैं।

एक भाषा–रूप से 'हिन्दी–उर्दू' की दो साहित्यिक शैलियां (स्टाइल्स) विकसित हुई। एक शैली 'आधुनिक हिन्दी साहित्य'

कहलाती है जिसमें भारतीय प्रतीकों, उपमानों, बिम्बों, छंदों तथा संस्कृत की तत्सम एवं भारत के जनसमाज में प्रचलित शब्दों का प्रयोग होता है तथा जो देवनागरी लिपि में लिखी जाती है। 'उर्दू' स्टाइल के अदबकारों ने अरबी एवं फारसी साहित्य में प्रचलित प्रतीकों, उपमानों, बिम्बों, छंदों का अधिक प्रयोग किया। जब अरबी–फारसी अदब की परंपरा के अनुरूप या उससे प्रभावित होकर साहित्य लिखा जाता है तो रचना में अरबी साहित्य तथा फारसी साहित्य में प्रयुक्त होने वाले शब्दों का बहुल प्रयोग तो होता ही है, उसके साथ–साथ शैलीगत उपादानों तथा लय और छंद में भी अन्तर हो जाता है जिससे रचना की जमीन और आसमान बदले–बदले नजर आने लगते हैं। यदि कथानक रामायण और महाभारत पर आधारित होते हैं तो 'रचना–वातावरण' एक प्रकार का होता है, यदि कथानक 'लैला–मजनूं', 'युसुफ–जुलेखा', 'शीरी–फरहाद' की कथाओं पर आधारित होते हैं तो 'रचना–वातावरण' दूसरे प्रकार का होता है।

उपमा 'कमल' से या चांद से दी जाती है तो पेड़ की एक शाखा पर जिस रंग या खुशबू वाले फूल खिलते हैं, उससे भिन्न रंग और खुशबू वाले फूल पेड़ की दूसरी शाखा पर तब खिलने लगते हैं जब उपमान 'आबे जमजम', 'कोहेनूर', 'शमा', 'बुलबुल' आदि हो जाते हैं। बोलचाल में तो 'हिन्दी–उर्दू' बोलने वाले सभी लोग रोटी, पानी, कपड़ा, मकान, हवा, दूध, दही, दिन, रात, हाथ, पैर, कमर, प्यार, नींद, सपना आदि शब्दों का समान रूप से प्रयोग करते हैं; मगर जब 'चांद उगा' के लिए एक शैली' के साहित्यकार 'चन्द उदित हुआ' तथा दूसरी शैली के अदबकार 'माहताब उरुज हो गया'' लिखने लगते हैं तो एक ही भाषा–धारा दो भिन्न प्रवाहों में बहती हुई दिखाई पड़ने लगती है। जब साहित्य की भिन्न परम्पराओं से प्रभावित एवं प्रेरित होकर लिखा जाता है तो पानी की उन धाराओं में अलग–अलग शैलियों के भिन्न रंग मिलकर उन धाराओं को अलग–अलग रंगों का पानी बना देते हैं।

एक भाषा–रूप से 'हिन्दी–उर्दू' की दो साहित्यिक शैलियां (स्टाइल्स) विकसित हुई। एक शैली 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' कहलाती है जिसमें भारतीय प्रतीकों, उपमानों, बिम्बों, छंदों तथा संस्कृत की तत्सम एवं भारत के जनसमाज में प्रचलित शब्दों का प्रयोग होता है तथा जो देवनागरी लिपि में लिखी जाती है। 'उर्दू' स्टाइल के अदबकारों ने अरबी एवं फारसी साहित्य में प्रचलित प्रतीकों, उपमानों, बिम्बों, छंदों का अधिक प्रयोग किया।

रब्बानी साहब मेरे सारे संकेत समझ गए। उन्होंने मुझे सूचना दी कि मैं जिस जमीन और आसमान की बात कर रहा हूं तथा अदब को अरबी और फारसी के अदब से जोड़कर उसी स्टाइल की जो खूबियां बता रहा हूं उससे वे इन्कार करते हैं, उस पर एतबार नहीं कर सकते। उन्होंने बताया कि आपके मुल्क के उर्दू के अदब में भले ही ये खूबियां मिलती हों, मगर पाकिस्तान के अदबकार अरबी–फारसी के मुकाबले अपनी धरती पर बोले जाने वाले अल्फाज़ों का प्रयोग करते हैं तथा हमारे अदब में ईरान या अरब की जमीन और आसमान नहीं, पाकिस्तान की जमीन और आसमान हैं।

बाद में उन्होंने मुझे अपने राजदूतावास में बुलाकर पाकिस्तानी उर्दू के साहित्यकारों की रचनाएं सुनाईं। पाकिस्तानी फिल्मों तथा टीवी सीरियल्स के कैसेट देखने के लिए दिए। रचनाएं सुनकर तथा कैसेट देखकर–सुनकर रब्बानी साहब की बात की पुष्टि हुई। मैं यहां इतना अवश्य कह सकता हूँ कि पाकिस्तान में भाषा और साहित्य दोनों धरातलों पर जिस उर्दू भाषा का विकास हो रहा है वह अपनी प्रकृति में भारत में सन् 1960 के बाद हिन्दी कथा–साहित्य में प्रयुक्त होने वाली भाषा के अधिक निकट है।

बाद में जब भी भारत, पाकिस्तान तथा बंगलादेश के राजनयिकों की बैठकें जमती थीं तो सबसे पहले रब्बानी साहब प्रस्ताव रखते थे कि भाई अपनी धरती की उस बोली में बोलेंगे जो हम सबको मिलाती है। हम अंग्रेजी में क्यों बोलें?

प्रो. महावीर सरन जैन
123, हरिएन्कलेव,
चांदपुर रोड,
बुलन्द शहर–203001
उत्तर प्रदेश

प्रो. के. सी. यादव

संदर्भ : 1857 की क्रांति की डेढ़सौवीं वर्षगांठ

1857 की क्रांति का एक विलुप्त अध्याय : राव राजा तुलाराम

1857 की क्रांति पर जितना लिखा गया है उतना शायद ही किसी अन्य विषय पर लिखा गया हो। लेकिन इतना होने के बावजूद भी जब हम क्रांति–विषयक–साहित्य पर गहरी दृष्टि डालते हैं तो वहां क्रांति के बहुत से अनछुए पहलू दिखलाई पड़ते हैं। कितने ही महत्वपूर्ण अध्याय अभी भी छूटे हुए हैं। ऐसे ही एक बहुत ही रोचक, पर विलुप्त, अध्याय की तरफ हाल में ही एक प्रसिद्ध रूसी भारतविद प्रो. अलैक्सी रायकोव ने हमारा ध्यान आकर्षित किया है, जिस का हम यहां संक्षेप में विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं।

यह विलुप्त अध्याय, जैसा कि इस लेख के शीर्षक से ही विदित होता है, 1857 के एक प्रचण्ड योद्धा, राव राजा तुलाराम के, क्रांति की विफलता के बाद, रूस की सहायता से हारी हुई बाजी को सफल करने के प्रयासों की कहानी पर आधारित है।

राव राजा तुलाराम हरियाणा के रेवाड़ी के एक छोटे से ठिकाने के सरदार थे। 10 मई 1857 को क्रांति का बिगुल बजते ही वह समरांगण में कूद पड़े और अपने यहां से अंग्रेजी राज के सब चिन्ह मिटा डाले। दिल्ली सम्राट बादशाह बहादुरशाह के झण्डे के तले खड़े हो कर उन्होंने क्रांति का संदेश दूर–दूर तक पहुंचाया। दिल्ली में लड़ रहे क्रांतिकारियों की तन–मन–धन से भरपूर सहायता की।

20 सितम्बर 1857 के दिन दिल्ली पर पुनः अंग्रेजों का कब्जा हो गया। दिल्ली के आस–पास सब राजा–नवाबों ने हाथ तुरंत खड़े कर दिए, परन्तु तुलाराम ने नहीं। वह फिर भी शत्रु को चुनौती देता रहा। अंग्रेजों को यह बहुत खटका और उन्होंने नवम्बर 1857 को कर्नल जेरार्ड के नेतृत्व में उन्हें परास्त करने के लिए एक सना भेजी। राव तुलाराम ने हरियाणा के कुछ क्रांतिकारियों में और राजस्थान के एक प्रबल बागी दस्ते–जोधपुर लिजिन–को साथ लेकर नारनौल के स्थान पर इस लश्कर से जबरदस्त युद्ध किया। कर्नल मालेसन अपनी पुस्तक ''म्युटिनी'' में कहते हैं कि बागियों से हमारी ऐसी भयंकर मुठभेड़ 1857 में कहीं भी नहीं हुई। कर्नल जेरार्ड इस युद्ध में मारा गया। परन्तु अंग्रेजी तोपों ने युद्ध का फैसला अंग्रेजों के हक में लिख दिया।

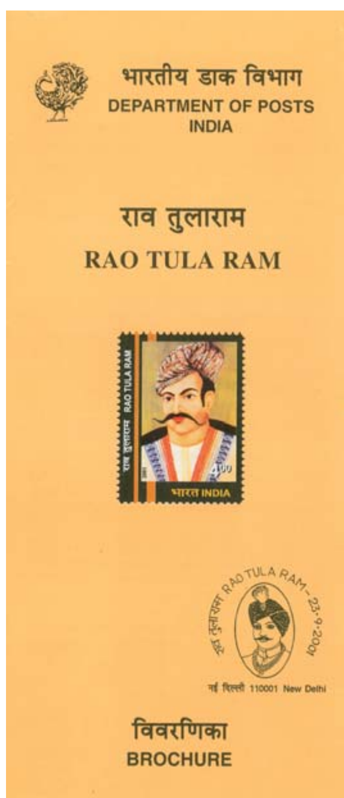

इसके बाद राव राजा मध्य प्रदेश चले गए। वहां तात्या टोपे के साथ मिल कर अंग्रेजों से युद्ध करते रहे। टोपे की हार के बाद जब उन्हें फांसी हो गई तो राव राजा राजस्थान के राजाओं को उकसाने के लिए उन से मिले। पर वे इस काम के लिए तैयार नहीं हुए– वे उस समय अंग्रेज का पूरी तरह से साथ दे रहे थे। लेकिन उन्होंने जयपुर, जोधपुर और बीकानेर के राजाओं को इस बात के लिए राजी कर लिया कि यदि वह विदेशी सहायता से अंग्रेजों पर आक्रमण करते हैं तो वे अन्दर से उनकी मदद करेंगे।

राव राजा का विदेश गमन

विजयी अंग्रेजों की चौकस आंखों में धूल झोंकते हुए राव राजा 1859 के आखरी दिनों में पानी के जहाज द्वारा बम्बई से ईरान के लिए जाने में सफल हुए। वह ईरान के

शाह से मिले और मदद की दरख्वास्त की। शाह ने पूरी हमदर्दी जताई पर कोई ठोस मदद देने की असमर्थता प्रकट की।

तदोपरांत राव राजा अपने मुख्य उद्देश्य की तरफ बढ़े। उनकी योजना रूस के ज़ार से मिलने की थी। ईरान के विदेश मंत्री की सलाह से वह रश्त पहुंचे। उस समय इस शहर में अधिकांश देशों के राजदूत रहते थे। रूस का राजदूत और रूस के कुछ सैनिक अधिकारी भी वहां थे। उन लोगों से राव राजा ने अच्छे संबंध बना लिए। रूसी राजदूत से ज़ार से मिलवाने की बात की। वह राजी हो गया और राव राजा को सब बातें लिखित में देने के लिए कहा।

राव राजा ने रूसी राजदूत को एक विस्तृत नोट और राजस्थान के तीन राजाओं के पत्र थमा दिए। राजदूत ने ये सब दस्तावेज रूस के बादशाह (जार) के पास पिट्सवर्ग भिजवा दिए। राव राजा के नोट्स पर 5 दिसम्बर 1810 की तारीख पड़ी हुई है। अतः यह विकट सर्दी का मौसम था और सब जगह बर्फ

से अटी पड़ी थीं। कोई मार्ग खुले नहीं थे। इसलिए रूसी राजदूत ने राव राजा को गर्मियों तक इंतजार करने की सलाह दी।

अफगानिस्तान में राव राजा ने समय का सदुपयोग करने हेतु अफगानिस्तान जाने का मन बनाया। कुछ रुकावटें आईं पर अंततः वह अफगानिस्तान पहुंच गये। वहां के अमीर से खूब बातें हुईं। मदद मांगी गई। उन्होंने खूब हमदर्दी जताई पर सीधी मदद करने में उन्होंने भी अपनी विवशता भी दर्शा दी।

राव राजा ने रश्त स्थित रुसी राजदूत से संबंध साधा, जार से उत्तर मंगाने की ताकीद की। वहां से कुछ जवाब भी आया, पर इसी समय वज्रपात हो गया। काबुल के स्थान पर स्वतंत्रता के उस प्रचण्ड पुजारी का अचानक, 23 सितम्बर 1863 को, देहान्त हो गया। वह उस समय 38 वर्ष के थे।

रूसी सहायता का 'ग्रांड प्लान'

विगत दिनों जब रूस के अभिलेखागार खुले तो वहां के भारतीय इतिहास के प्रखर विशेषज्ञ प्रो. अलैक्सी रायकोव को

राव राजा तुला राम के ये सब दस्तावेज सोवियत अभिलेखागार में मिले। उन्होंने इनके विशेष महत्व को आंकते हुए, एक विस्तृत नोट लिखा जिस का सार यह है।

''अब तक हम यह मानते थे कि भारत को रूस की सहायता से स्वतंत्र कराने के लिए सबसे पहले हमारे यहां जो मिशन आया वह महाराजा कश्मीर द्वारा 1865 में भेजा गया मिशन था। लेकिन अब एक आज तक अनजाने मिशन के बारे में पता चला है। यह मिशन 1857–58 की क्रांति के बाद भारत से 1859 में चला था। यह राव राजा तुलाराम (रेवाड़ी) का मिशन था।''

यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि राव राजा तुला राम के ये दस्तावेज हैं क्या? जैसा कि पहले कह चुके हैं, इनमें एक राव राजा का भारत की स्थिति पर अंग्रेजों के कुशासन पर विस्तृत

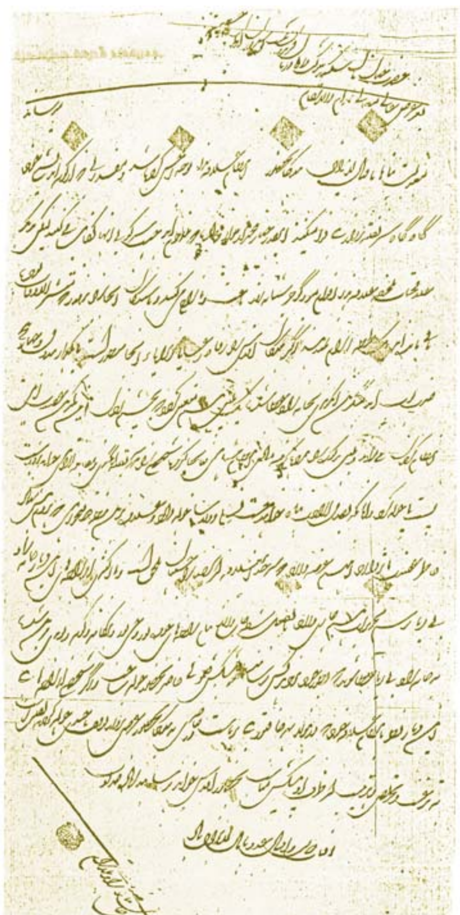

राव राजा तुलाराम का बादशाह बहादुरशाह जफर के नाम पत्र

वारूदखाने का प्रवेश द्वार

नोट है और तीन पत्र हैं– ये जयपुर, जोधपुर और बीकानेर के शासकों के–जार के नाम है। इनमें लिखा है कि ''राव राजा तुलाराम उनके अपने आदमी हैं और वह स्वयं उनकी बातें ज़ार को बताएंगे''। प्रो. रायकोव कहते हैं कि ''इन दस्तावेजों से भारत–रूस संबंधों के एक अज्ञात अध्याय का पता चला है।'' यह दस्तावेज इसलिए भी महत्वपूर्ण है कि यह भारत के 19वीं शती के इतिहास की सब से महत्वपूर्ण घटना अर्थात् 1857 की क्रांति, से इनका संबंध है। राव राजा के नोट्स का तो बहुत ही बड़ा ऐतिहासिक महत्व है। इतिहासकारों के लिए इसमें ऐसी बहुमूल्य जानकारी भरी पड़ी है जिसका अब तक हमें पता नहीं है। राव राजा ने यहां बताया है कि 1857 की क्रांति पूरी तरह से सुनियोजित थी।''

दस्तावेजों का महत्व

उपरोक्त विवरण से पता चलता है कि राव राजा तुलाराम द्वारा रूस के जार को भेजे गए दस्तावेज हमारे इतिहास के बहुमूल्य स्रोत हैं– विशेषतः 1857 की क्रांति के विषय में। हमें इस महान धरोहर को तुरंत इतिहासकारों को उपलब्ध कराना चाहिए जिससे कि 1857 की क्रांति के 150वें वर्ष में क्रांति के अछूते पहलुओं से भी परदा उठ सके।

प्रो. के. सी. यादव

85, सेक्टर.–23, गुड़गांव

हरियाणा

दूरवाक्–9868350600

अरुण कुमार

सन्दर्भ : 1857 की डेढ़ सौवीं वर्षगांठ

लोक साहित्य और अट्ठारह सौ सत्तावन

भारत में लोक साहित्य के अध्ययन और उस पर चर्चा की शुरूआत ब्रिटिश सरकार के प्रारंभिक वर्षों में हुई। 19वीं शताब्दी के मध्य कई ब्रिटिश अधिकारी प्रखंडों और जिलों में नियुक्त हुए। उस समय तक लोक साहित्य उनके लिए अपरिचित तो नहीं था लेकिन भारत में वे इसके संकलन के काम को कोई महत्व नही ंदे रहे थे। 19वीं शती के उत्तरार्द्ध में भारतेन्दु हरिशचन्द्र के नाटकों, खास कर अंधेर नगरी, में लोक भाषाओं की शब्दावली का मजेदार प्रयोग और अस्सी के दशक में जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन द्वारा कुछ जातियों के लोक साहित्य के संकलन से इसे एक दिशा जरूर मिली। विचारणीय है कि 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के लगभग बीस वर्षों बाद उत्तर भारत की भाषाओं भोजपुरी, अवधी, ब्रज आदि में प्रचलित लोकगीतों से इस संग्राम के महत्व का पता चलता है। 1858–59 की अवधि में इस संग्राम पर कार्ल मार्क्स के कई महत्त्वपूर्ण निबंध छपे। 1857 के एक–दो वर्ष बाद सर सैयद अहमद ने 'असबाब ए बगावते हिन्द' (उर्दू) लिखा। मार्क्स पहले चिन्तक थे जिन्होंने 1857 के विद्रोह को प्रथम स्वतंत्रता संग्राम कहा और सर सैयद अहमद पहले सुधारक थे जो 1857 के इस विद्रोह से पूरी तरह असहमत थे। बाद के दौर में आर.सी. मजुमदार के 'सिपाही विद्रोह' वाली संज्ञा आजादी के बाद तक चर्चित और मान्य रही जब तक कि प्रसिद्ध आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा की पुस्तक '1857 की राज्य क्रान्ति' नहीं आयी। जो मान्यता लोक साहित्य की रही, उससे इतिहासकारों की असहमति का एक कारण राज्य के प्रति उनकी निष्ठा रहा हो लेकिन साहित्य को इतिहास की वस्तु न समझना और उसे ग्रहण न करना भी एक कारण रहा है। लोक साहित्य और इतिहास के संदेश के बीच की असंगति कोई भुलाने वाली नहीं है। ग्रियर्सन के प्रयास से लोक साहित्य के अध्ययन के प्रति रुचि बढ़ी थी। ग्रियर्सन ने जिन गीतों का संकलन किया, उनमें रिवाजों के गीत ही लोकप्रिय थे। किसी घटना के कुछेक वर्षों बाद लोक में किसी कविता या गीत लोकप्रिय होने का क्या कारण रहा होगा? फिर उससे जो संदेश निर्गत होता है, वह इतिहासकारों और अन्य विचारकों की खोज से भिन्न होता है।

उसके कुछ वर्षों पहले से लोक साहित्य का अध्ययन होने लगा था। जेकब ग्रिम जर्मन विद्वान (1812) थे जिनके दिशा–निर्देश पर यूरोप के कई देशों में लोक साहित्य के अध्ययन के लिए समितियां बनी। 19वीं शती के मध्य बारह जिल्दों में गोल्डन बाउ (लोक साहित्य का संकलन) आया। 80 के दशक में ब्रिटिश विद्वान टेम्पल भारत में काम कर रहे थे। 1884 में प्रकाशित उनकी पुस्तक 'लीजेंड्स ऑव पंजाब' लोक साहित्य अध्ययन में एक सार्थक कदम है। उन्हीं दिनों जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन कलकत्ता (1876) आये। वे वहां डिप्टी मैजिस्ट्रेट थे। बाद में वे कलकत्ता विश्वविद्यालय के फेलों भी हुए। मैथिली के महाकवि विद्यापीठ ठाकुर और भोलन झा की कविताओं और उनके जीवनवृत पर लिखा 'मान बोधस हरिवंस' (हरिवंश का मैथिली अनुवाद) के समस्त दोहे की प्रति जोगियारा (दरभंगा/बिहार) के बाबू श्रीनारायण सिन्हा के पास थी। ग्रियर्सन ने उनसे सम्पर्क किया। उन्हें इसकी प्रति मिली। ग्रियर्सन ने भोजपुरी के लोक गीतों का संग्रह भी किया।[2] लोक साहित्य के संकलन में यूरोपीय विद्वानों

की रूचि उल्लेखनीय रही है। परंतु, रोमन लिपि में संकलित इनके लोक–साहित्य की लोकप्रियता भी सीमित रही है क्योंकि इनका संकलित साहित्य भारतीय भाषाओं की ध्वनियों की अभिव्यक्ति में असमर्थ रहा है।

1857 की पृष्ठभूमि पर एक ही किस्म का लोक साहित्य हरियाणवी से लेकर भोजपुरी तक में मिलता है। राय की मानें तो लोक साहित्य केवल प्राग्इतिहास (प्री हिस्ट्री) है लेकिन हिन्दी के साहित्यकारों की मानें तो वह प्राग इतिहास से लेकर आधुनिक जीवन की चिरन्तन सरिता है। इसलिए लोक साहित्य के संकलन को चिरन्तक धारा, एक बड़ी परम्परा की अनेक इकाइयों के रूप में देखने की जरूरत है। 1857 के विद्रोह का लोक साहित्य भी किसी स्थान–विशेष का नहीं है। वह पूरे देश की अमूल्य निधि है।

प्रश्न है समसामयिक समस्याओं पर आधारित लोकगीतों की उपेक्षा क्यों? केवल इस कारण कि इससे शासक का चरित्र भी सामने आयेगा। ग्रियर्सन ने मूल और अनुवाद दोनों को सहज, सम्प्रेष्य और बिल्कुल रचनात्मक रूप दिया है। 1878–90 तक के ग्रियर्सन के रचना काल में लोक गीतों और लोक कथाओं का संग्रह ही अधिक हुआ है। बंगाल एशियाटिक (कलकत्ता) में उनके कुछ लोक साहित्य विषयक लेखों की कुछ फिल्में मौजूद हैं। उसकी प्रिंट कॉपी बेहतर हाल में नहीं है। इसके पढ़ने पर उनकी मेहनत का पता चलता है। रंगपुर उड़ीसा राज्य का एक जिला है। ग्रियर्सन ने 1882 में वहां की जनता में प्रचलित धार्मिक लोक कथा और गीतों का संकलन किया था। मूल हिन्दी में है और हर दोहे का शब्दशः अंग्रेजी अनुवाद है। कथा के रूप में संकलित एक लोक गीत है, किष्टेर जन्माष्टमी। इस लोकगीत में राजा उग्रसेन, नारद, वासुदेव और देवकी की कथा है। ग्रियर्सन ने इस लोक गीत का भाषिक–संरचनागत–विश्लेषण किया है, विशेषकर इसके स्वर और व्यंजन का। भाषाओं के संरचनागत विश्लेषण की दृष्टि से इस लेख का महत्व है। उन्होंने लिखा है, मैं इस माध्यम (लोक साहित्य संकलन) से रंगपुर की इस विचित्र बोली का व्याकरण प्रस्तुत करता हूं जिसमें संकलित लोकगीतों के कुछ नमूने उदाहरणस्वरूप लिए गए है। जिस इलाके में कृष्ण से संबंधित लोक साहित्य संकलित है (रंगपुर) वह बॉर्डर इलाका रहा है। उत्तर में भूटान और पूर्व में असम का जनजातीय क्षेत्र है, यहां की भाषिक संरचना दूसरी जगहों से भिन्न रही होगी। इन जगहों को केवल दुर्गम भू–खंड समझकर यहां प्रचलित सामाजिक महत्त्व के लोक साहित्य के न होने का पूर्वानुमान कर लेना उचित नहीं होगा। निष्कर्ष है कि कभी–कभी छोटे दायरे या स्तर पर राष्ट्रीयता की बात आती है और यह (रंगपुर) क्षेत्र भी इससे वंचित नहीं रहा है।

लेकिन अंग्रेजों के शासन में अमीर और गरीब सब के लिए एक कानून बना। इस निष्कर्ष तक आने के पहले उन्हें रंगपुर इलाके में हुए मुगलों के आक्रमण और हिन्दू समुदाय पर उसके प्रभाव तथा सामाजिक संतुलन में आये बिगाड़ का विस्तृत ब्यौरा देना पड़ा है। शोधकार्य के प्रति निष्ठा और निरंतर सजगता में ग्रियर्सन की कोई तुलना नहीं है। जिस इलाके में गये, वहां के लोक साहित्य का संकलन किया, वहां की सामाजिक संरचना का अध्ययन किया, वहां की बोली का संरचनागत विश्लेषण किया, लेकिन दृष्टि वही रही जिसका उल्लेख उनके रंगपुर वाले लेख में हुआ है। लोक साहित्य के अध्ययन के क्रम में इसका विशेष महत्व है। लोक में प्रचलित साहित्य का संकलन होना चाहिए, दृष्टि क्या है? लोक में अगर कृष्ण की कथा संकलित है तो ब्रिटिश राज के उत्पीड़न की कथा भी संकलित है। लोक में गालियां भी हैं, पवित्र प्रेम के धागे भी हैं, उत्पीड़न की विरही धाराएं भी हैं।

कुमाऊं और गढ़वाल का इलाका दुर्गम रहा है। 1857 और 1900 के बीच वहां के रास्ते कठिन और थकान पैदा करने वाले थे। कुछ भाषाविदों का मानना है कि कुमाऊंनी और गढ़वाली में दूसरी भाषाओं की शब्दावली का अनुपात कम है। इसका कारण भौगोलिक रहा है। कुमाऊंनी में लिखित साहित्य बहुत पुराना नहीं है। लोक साहित्य के अध्येता डॉ. त्रिलोचन पांडेय (कुमाऊं का लोक साहित्य) के अनुसार लगभग 19वीं शती से इसकी शुरूआत हुई। पांडेय जी ने लिखा है कि कत्यूरीचंद के शासन (850–1050 ई.) काल में संस्कृत का बोलबाला था। बाहर से आये लोग अपनी–अपनी भाषा लेकर ज़रूर आये लेकिन संस्कृत के आगे उनकी स्थिति कमजोर रही। कुमाऊंनी के कवि लोकरत्न पंत (गुमानी पंत के नाम से लोकप्रिय) का समय 1790 ई. (काशी) का है। उनके पूर्वज महाराष्ट्री ब्राह्मण थे। वे यायावरी कवि थे। उनकी एक कविता है :

दिन दिन खजाना का भार बोकण ले
शिव शिव चुलि में बाल ने एक कैका
तदपि न तेरो मुल्क लै छाड़ि भाजा
इति वदति गुमानी धन्य गोर्खालि राजा।[6]

कवि गोरखा शासन (1790–1815) के प्राचीन वर्षों का गवाह था, जिनका राज्य–विस्तार नेपाल से लेकर गढ़वाल, देहरादून, शिमला और कांगड़ा तक था। 1815 ई. में गोरखा–अंग्रेज युद्ध के बाद यह पूरा क्षेत्र अंग्रेजी सरकार के कब्जे में आ गया। गुमानी पंत उनके (गोरखा) अत्याचारों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि नित्य राज्य के राजकोष का बोझ उठाते–उठाते किसी की चोटी में एक बाल भी नहीं रह गया। फिर भी लोग राज्य को छोड़कर नहीं भागे। गोरखावली राजा, तुम धन्य हो। इस कविता का बिम्ब विधान यथार्थपरक है, बिल्कुल जमीन से जुड़ा हुआ। हिन्दी कविता में ऐसा शब्द चित्र छायावादी दौर में ही आया है। छायावाद के एक स्तंभ सुमित्रा नन्दन पंत कुमाऊं के निवासी थे। उनकी कविताओं में गतिशील बिम्बों का विधान मिलता है। गुमानी और उनके बाद के कवि कृष्ण पांडे, शिवदत्त सती से पंत के काव्य का तुलनात्मक अध्ययन स्वतंत्र चिन्तन का विषय है।

गोरखाओं के अत्याचार के बाद अंग्रेजी शासन में भी कुमाऊं के निवासियों में संतोष की लहर नहीं थी। वहां के कमिश्नर ट्रेल ने गांव की जमीन का नया बंदोबस्त किया। कुमाऊंनी के दूसरे कवि कृष्ण पांडे (1800 ई.) अंग्रेजी सरकार का पुरजोर विरोध कर रहे थे। वे अल्मोड़ा के निवासी थे। वहां के गांवों में उनका बहुत आदर–सम्मान था। कमिश्नर ट्रेल कृष्ण पांडे का सम्मान करते थे। वहां की अंग्रेजी सरकार में इतना दम–खम नहीं था कि कुमाऊं के बुद्धिजीवियों के खिलाफ कोई कार्रवाई करते। कृष्ण पांडे के मृत्यु–वर्ष की पक्की जानकारी नहीं है। त्रिलोचन पांडेय की पुस्तक (कुमाऊं का लोक साहित्य) में कुमाऊंनी के दूसरे कवि शिवदत्त सती (1908–10) की चर्चा है। 1800 के बाद सीधे 1908 में पांडेय जी ने लिखा है कि कृष्ण पांडे ने गोरखा शासन के पचीस वर्ष देखे थे। 1815 के बाद अंग्रेजी सरकार में भी वे थे और 1857 के पहले तक थे। उनकी प्रसिद्ध कविता 'कृष्ण पांडे का कलियुग' 1901ई. के जर्नल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी में छपी थी। उनकी एक कविता का भावार्थ है, विलायती कपड़े के कोट बना लिए और ऋण लेकर घर की हानि कराई,

विलैंति कपड़ाक बणाया कोट, रीणा करी बेर घर कुड़ि चोट

तत्कालीन समाज में उधार में अनाज लेने पर ब्याज की दर तिगुनी हो जाती थी। कृष्ण पांडे लिखते हैं :

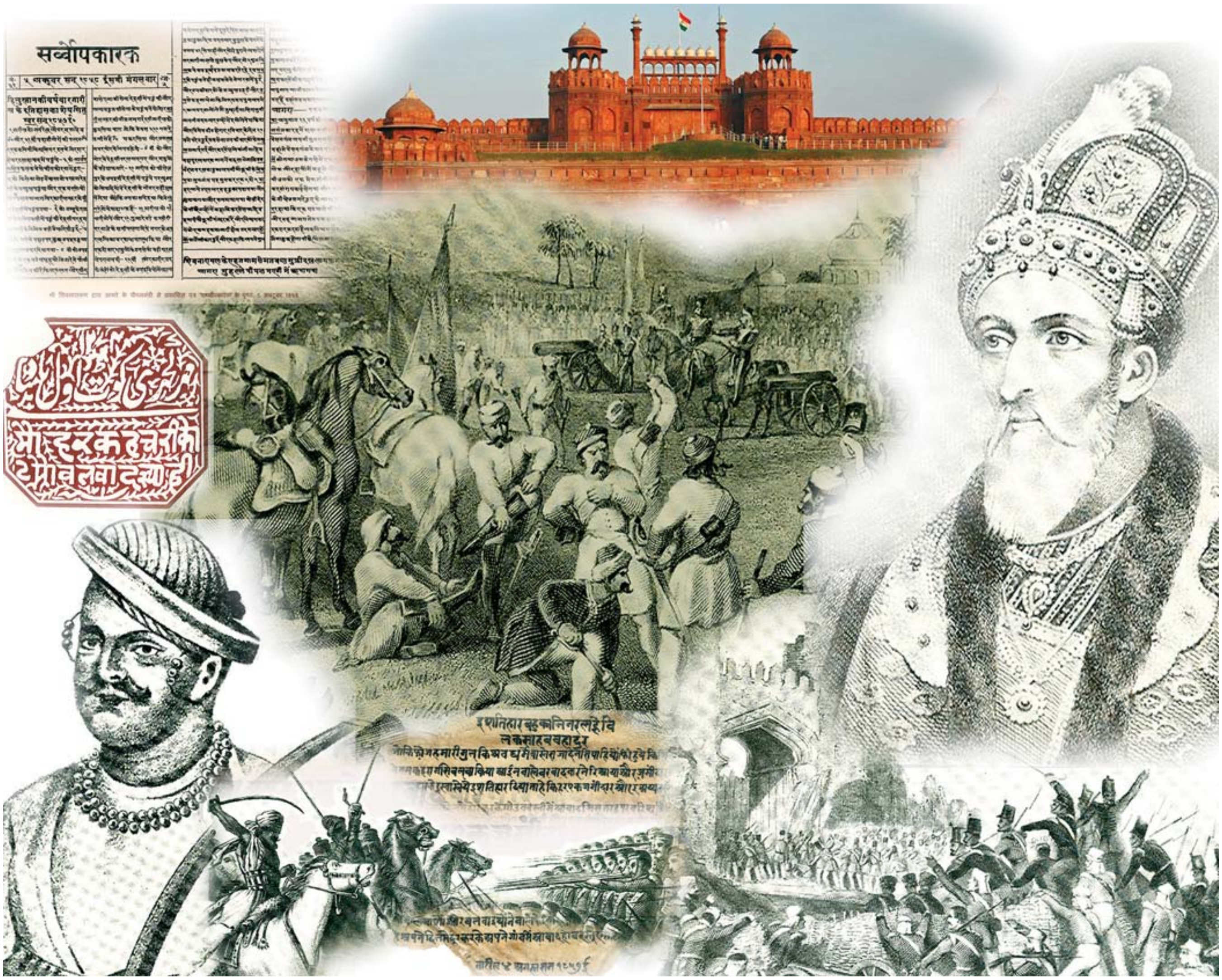

द्विमाणो धान में धनुलि ऐं छ, एक माण मडुवा मनुलि ऐं छ

माण धान की नाप है। एक माण आधा सेर/आधा किलो के बराबर होता है। कविता का अर्थ है, दो माण धान में एक उच्च जाति की कन्या आती है तथा एक मांण मडुवा में निम्न जाति की। भाषा विज्ञान में कुमाऊं और गढ़वाली को मध्य पहाड़ी भाषाओं के अंतर्गत रखा गया है और दुर्गम क्षेत्र होने के कारण बाहरी भाषिक परिवेश से अलग–थलग का क्षेत्र भी बताया गया है। 1857 के पहले हिन्दी प्रदेश के किसी भी इलाके में किसानों की दुर्दशा पराकाष्ठा पर थी। बिहार और उत्तर प्रदेश का समतलीय क्षेत्र अंग्रेजी राज के कब्जे में पहले आ चुका था। भूमि का नया बंदोबस्त पहले लागू हो चुका था। पहाड़ी क्षेत्रों में विशेषकर कुमाऊं और गढ़वाल में, गोरखा, शासन के अत्याचार के बाद अंग्रेजी सरकार में भी खुशहाली नहीं थी।

जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने लोक साहित्य के संकलन का काम 1880 से प्रारम्भ किया था। 1790 से 1857 के बीच कुमाऊंनी का साहित्य प्रकाशित हो चुका था, भले किसी अंग्रेज विद्वान के रिकार्ड में यह दर्ज नहीं हो। बिहार के गीतों के संकलन के संदर्भ में कवि रामनरेश त्रिपाठी का अनुभव है, बिहार की स्त्रियों में गीत लिखने की प्रथा है, जो युक्त प्रांत में मेरे

दिखने में बहुत कम आयी''। हिन्दी प्रदेश में कम पढ़ी–लिखी स्त्रियों में भी कविता–कहानी लिखने का चलन था। मध्य पहाड़ी क्षेत्रों मे 18वीं शती के समय में प्रकाशित साहित्य उपलब्ध थे जिनमें समाज की विषमताओं का सदा जीवंत चित्र मिलता है। इसके बावजूद मानव विज्ञान के विद्वानों और खासकर अंग्रेज विद्वानों ने लोक साहित्य को केवल संस्कार साहित्य समझा। लोक वार्ता में जो कुछ प्रचलित है, वह लोक साहित्य है। वह वर्तमान का भी हो सकता है, अतीत का भी। 1857 के संदर्भ में लोक साहित्य की अपेक्षा बाकी संदर्भों के लिए लोक साहित्य बिना किसी तारीख का है, इसलिए इस आधार पर इतिहास–लेखन संभव ही नहीं बल्कि अप्रामाणिक है। लोक में 1857 की आत्मा बसी हुई है, रग–रग में 1857 है। अब इतिहासकार इसे झुठला कर किसी षडयंत्र का नाम दें, जमींदारों का विद्रोह कह दें, यह उनके मन की मात है लोक के मन की नहीं। लोक के हर निर्णय को सही ठहराना अनुचित है, लेकिन जहां समाज यथार्थ है वहां इतिहासकार सरकारी–गैरसरकारी दस्तावेज खंगालते जाएं। लोक नहीं मिला तो 1857 के युद्ध को कुछ और नाम दे दिया। 1857 को स्वतंत्रता संग्राम नहीं मानने वालों ने भी ब्रिटिश राज में टैक्स के प्रकोप की चर्चा की है। यदा–कदा टैक्स की मार का उल्लेख भी वे करते हैं, लेकिन उसके आगे–पीछे ऐसी चहारदीवारी डाल देते हैं कि पाठक ब्रिटिश राज में उत्पीड़न के बदले दुःख–दर्द का कोई दूसरा कारण समझ ले। जैसे, 1857 के तात्कालिक कारण के रूप में मंगल पांडेय का विद्रोह (10 मई) समझ लिया जाता है। अंग्रेज इतिहासकार विंसेंट स्मिथ की किताब 'दि ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इंडिया' भाग एक का तीसरा संस्करण 1951 में प्रकाशित हुआ। 1925 में इसका पहला संस्करण छपा था। इस किताब के एक अध्याय का शीर्षक है, 'द पीपुल एंड द गवर्नमेंट–दि विलेज, दि लैंड एंड ट्रेड।' विसेंट स्मिथ ने ब्रिटिश राज के पहले की जमींदारी व्यवस्था (पृ. 630–40) का विवरण दिया है। उनके अनुसार उत्तर भारत में आनुवांशिक जमींदारी प्रथा थी। जमींदार सरकार और कृषक के बीच एजेंट की भूमिका में था। ये ज़मीन के मालिक नहीं थे लेकिन करों की उगाही करने वाले (टैक्स कलेक्टर्स) थे। साल में एक बार उनकी राशि तय हो जाती थी और वे कृषकों से मनमाना टैक्स वसूल करने के लिए स्वतंत्र थे। किसानों से टैक्स लेने वाले की व्यथा उस समय के लोक साहित्य में प्रकट हुई है। प्रो. सत्येन्द्र के संकलन में एक कहावत संकलित हैः

सर्व्वोपकारक

नं. ३२ | ५ अक्टूबर सन् १८५८ ईसवी मंगलवार | अं. २

हिन्दुस्तानकीवर्षवारतारीख के इतिहासका शेषसितम्बर सन् १८५७ ई०

शिवनारायणकेएहतमामसेमतबअ मुफ़ीदख़लायक़ शहर आगरा मुहल्ले पीपलमण्डी में छापागया

श्री शिवनारायण द्वारा आगरे के पीपलमंडी से प्रकाशित पत्र 'सर्व्बोपकारक' के पृष्ठ, 5 अक्टूबर 1858

अम्बा, नीबू, वानिया, गर दाबे रस देंय।
कायथ, कौवा, करहटा, मुर्दा हू सों लेंय।

आम, नीबू और बनिया गला दबाने ही से रस देते हैं। कायस्थ, कौआ और किलहटा (एक पक्षी) तो मुर्दा से भी रस ले लेते हैं। विसेंट स्मिथ और अन्य अंग्रेज विद्वानों को लोक–साहित्य संकलन से बहुत मदद मिली होगी, भले वे लोक साहित्य का नाम न लें, क्योंकि लोक साहित्य से ज्यादा विश्वसनीय उनके इतिहास विषयक दस्तावेज होंगे। उस अध्याय में विसेंट स्मिथ ब्रिटिश सरकार द्वारा लागू स्थानीय बंदोबस्त (परमानेंट सेट्लमेंट / 1793) के महत्व को रेखांकित करते हैं। इस निष्कर्ष तक आने के लिए उन्हें राज पूर्व भारत के आर्थिक ढांचे के भीतर झांकना ही पड़ता है। मोरलैंड (इंडिया ऑफ्टर दि डेथ ऑफ अकबर) यह काम बहुत पहले कर चुके थे। विसेंट स्मिथ ने मोरलैंड की स्थापना को हाथों–हाथ लिया। मोरलैंड ने बहुत ब्यौरेवार तरीके से कृषि और गैर कृषि उत्पादों का विश्लेषण किया है। उनके विष्लेशण में खास है उत्पादों और उनके कमजोर का बाजार। विदित है कि अकबर और शाहजहां के

समय में खेती का पर्याप्त विकास हुआ था। मोरलैंड ने भी लिखा है कि नहरों के कारण ही वह संभव हुआ है, जिन पर आज यह क्षेत्र निर्भर है। ऐसा लगता है कि पहले मोटे अनाज, दालें और तिलहन यहां की मुख्य पैदावार थे, लेकिन नहरों के फलस्वरूप इस क्षेत्र में उपजाऊपन का कुछ अन्दाजा इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि यहां अकबर की राजस्व की मांग प्रति बीघा 20 से 30 दाम तक थी। यह विवरण आगरा सूबे का है। राजस्व अधिक था फसल का पचास प्रतिशत भी। पहले अध्याय (देश और लोग) में ही मोरलैंड का निष्कर्ष है कि मुगल साम्राज्य में जमींदारों की ही तूती बोलती थी। जो जमींदार मुगलों को राजस्व देता था, वह स्पष्टतः पराधीन था और अगर वह अपनी प्रभुसत्ता स्थापित करना चाहता था, तो सबसे पहले राजस्व देने से या तो खुल्लमखुल्ला इनकार कर देता था या राजस्व बन्द कर देता था। राजस्व देना बंद करने के और भी कारण हो सकते थे और यह संभव है कि राजपूताना, मध्य भारत और छोटा नागपुर में बहुत से सरदारों और कबीलों की स्थिति ऐसी रही हो कि जिसे आजकल के संवैधानिक विधिवेत्ता विधान विरुद्ध मानें।'' मोरलैंड की इस स्थापना के पीछे इतिहास के कई निष्कर्ष छिपे हैं, उनमें एक है, 1857 के विद्रोह को जमींदारों का विद्रोह और इसलिए महज सिपाही विद्रोह मान लेना।

1857 का यह संग्राम कार्लमार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स के लेखों में प्रतिपादित हुआ है। उनके लेखों का संकलन मार्क्सवादी लेनिनवादी संस्थान (मास्को) से 1957 में प्रकाशित हुआ। उनकी किताब का शीर्षक ही है, ''दि फर्स्ट इंडियन वार ऑफ इंडिपेंडेंस 1857–58''। यह किताब न्यूयॉर्क डेली ट्रिब्यून में लिखे उनके निबंधों का संकलन है। ये निबंध 1853 से 1858 के बीच के हैं। संयोगवश अंग्रेजी में यह किताब इस संग्राम की पहली शती के एक वर्ष बाद छपी है। रजनी पाम दत्त की किताब ''इंडिया टुडे'' 1940 में आयी थी। उसमें भारत के संबंध में मार्क्स और एंगेल्स की स्थापनाओं की विस्तृत चर्चा के बाद भारतीयों के बीच 1857 की चर्चा फिर होने लगी। पहली शती पूरा होने पर एस.एन. सेन की किताब भी छपी थी। मार्क्स और एंगेल्स की इस किताब में मार्क्स का वह निबंध (दि फ्यूचर रिजल्ट्स ऑफ दि ब्रिटिश रूल इन इंडिया) भी संकलित है, जिसे उन्होंने 1853 में लिखा था। उनका प्रिय टर्म है, ''रीजेनरेटिंग दि एनिहिलेशन आफ दि ओल्ड एशियाटिक सोसायटी'' यानि पुराने एशियाई समाज के विनाश का पुनः प्रारंभ। और यह इसलिए कि इसके एवज में पश्चिमी समाज की भौतिक उपलब्धियों की आधारशिला रखी जाए। कईयों ने इसका यह मतलब लगाया कि एक तरफ विनाश और दूसरी तरफ सृजन या रचना।

रजनी पाम दत्त (आज का भारत) की किताब के एक उप अध्याय का शीर्षक है, ''भारत की ग्रामीण अर्थव्यवस्था का छिन्न–भिन्न हो जाना' और दूसरे उप अध्याय का शीर्षक है, ''भारत में ब्रिटिश शासन की 'पुनुरुज्जीवनकारी' भूमिका।'' पहले शीर्षक की स्थापना है कि भारत में ब्रिटिश पूंजीवाद के आने के वाद विध्वंस के साथ–साथ विकास का मार्ग प्रशस्त नहीं हुआ। ''उसकी (भारतीयों की) पुरानी दुनिया उजड़ ही चुकी थी पर नयी दुनिया का कहीं पता नहीं था'' (पृ. 111)। दूसरे शीर्षक की स्थापना है कि भारत में रेल, सड़क और सिंचाई के साधनों का विकास हुआ, जिससे दुनिया के नक्शे पर यह देश 'उत्पादक देश' के रूप में विकसित हो सका। भारत के विकास के लिए रेल की आवश्यकता से इनकार नहीं किया जा सकता और इस सत्य को कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स ने बखूबी रेखांकित किया है। ध्यान रहे कि इस संकलन में भारत विषयक मार्क्स और एंगेल्स के दोनों लेख (भारत में ब्रिटिश राज और भारत में ब्रिटिश राज के भावी परिणाम) जून और जुलाई 1853 के हैं जो न्यूयॉर्क डेली ट्रिब्यून में छपे हैं। 1857 के विद्रोह के चार वर्ष पहले ये लेख छपे। 1857 में मार्क्स और एंगेल्स के वही विचार नहीं रह गये थे। मतलब यह है कि औद्योगिक विकास के बावजूद भारत विदेशी हुकूमत को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था। दूसरी बात यह कि अगर रेल नहीं आयी होती तो भारत का औद्योगिक विकास होता, यह संदेश मार्क्स और

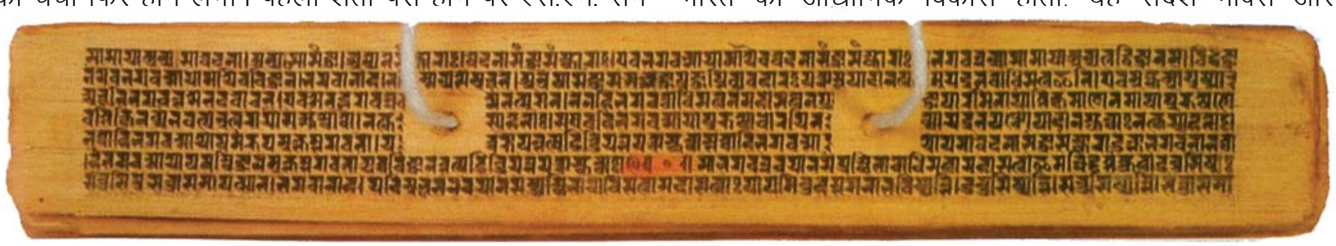

एंगेल्स की 1857 वाली पुस्तक से अभिव्यक्त होता है। ''भारत में ब्रिटिश राज के भावी परिणाम'' शीर्षक वाले लेख में कार्ल मार्क्स और एंगेल्स ने लिखा है (पृ. 260), ''जहां उन्होंने फ्रांस की क्रांति का विरोध अपने पवित्र धर्म की रक्षा के बहाने किया, वहीं क्या उन्होंने उसी समय भारत में ईसाइयत के प्रचार की मनाही नहीं कर दी? और क्या उन्होंने उन यात्रियों से, जो उड़ीसा और बंगाल के मन्दिरों में जाते थे, पैसा ऐंठने की खातिर हत्या और वेश्यावृत्ति के व्यापार को नहीं अपनाया जो जगन्नाथ के मंदिर में चल रहा था? ये लोग हैं, जो अपने आपको ''सम्पत्ति, व्यवस्था, परिवार तथा धर्म'' के रक्षक बतलाते हैं।'' 1853 के दोनों लेखों में भारत में ब्रिटिश राज की भौतिक परिस्थितियों के निर्माण का उल्लेख हुआ है। इसका यह अर्थ नहीं है कि इन परिस्थितियों के कारण 1857 के स्वतंत्रता संग्राम की अहमियत नहीं थी।

तमिल के लोक साहित्य में एक कविता है, ''एन्जिनु वंडिकलाम/इस पुरमम सूच्चियामम्।'' लेखक एस.एम.एल. लक्ष्मणन के हिन्दी अनुवाद में एक जगह 'गोरे' और दूसरी जगह 'गोरे साहब' शब्द आये हैं: इंजन गाड़ियां/दोनों तरफ से खुली हुई/बैलों के बिना चलती/गोरे आदमियों की स्वचालित गाड़ियां/गोरे साहबों की इंजन गाड़ियां।'' गाड़ी चाहे जितनी अच्छी हो, है तो वह गोरों की। उनकी मर्जी के बिना एक डग भी नहीं चल सकती है। तमिल का यह लोक गीत जनता के नाम संदेश है। रेल उनके लिए नहीं है, जिनके लिए है, वह पूरे देश के शासक हैं। 1857 के पहले तमिल जनता में अंग्रेजी सरकार के प्रति गहरा रोष था। तेलुगु में चंदामामा को लेकर जो गीत प्रचलित है, उसमें बैल गाड़ी की चर्चा है। छत्तीसगढ़ी, मैथिली, भोजपुरी, अवधी आदि भाषाओं में चंदा मामा को लेकर लोकगीत है लेकिन उनमें रेल या गाड़ी का उल्लेख नहीं है। तेलुगु का गीत है, चंदा मामा रावे (आओ) बंडि मीदा रावे (बैल गाड़ी पर चढ़कर आओं) बैलगाड़ी से चंदा मामा के धीमे–धीमे आने का सौन्दर्य दीर्घजीवी है। वह बहुत देर तक प्रतीक्षा भी करवायेगा और उतनी ही देर तक चंदा मामा उसके करीब भी रहेगा। रेल से चंदा मामा आयेंगे, जल्दी आयेंगे और तुरंत फुर्र हो जायेंगे। रेल के प्रति गुस्सा भी अपने किस्म का है। पंजाबी का एक लोकगीत है, टुट्टजे रेल गाड्डिये/मेरे यार नूं पिछ्छे छड्ड आयी (हे रेलगाड़ी, ईश्वर करे तू टूट जाय/तू मेरे प्रीतम को पीछे छोड़ आयी है)। यह ठीक है कि रेल के विकास को लेकर भारतीय समाज की एकसी प्रतिक्रिया नहीं थी लेकिन एक बात प्रचलित थी कि रेल उनके लिए नहीं है, यह गोरे साहबों के लिए है। जो चीज साहबों के लिए हो, वह 1857 के विद्रोह में भले कुछ के लिए सहयोगी साबित हुई हो, लेकिन इससे भारत की जनता इतनी प्रभावित नहीं थी कि वह संग्राम को छोड़कर रेल के पीछे भागती–फिरती।

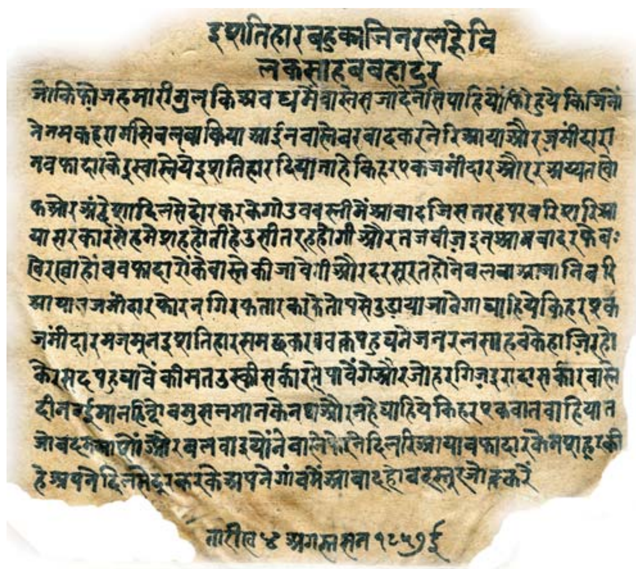
इश्तिहार बहुक्म जिनरल ... लिके साहब बहादुर

तारीख ४ अगस्त सन १८५७ ई

यूरोप के बाहर विज्ञान में क्या कुछ हो रहा था, या उस समाज का तकनीक चिन्तन क्या था, इससे अवगत होने की जरूरत यूरोप को नहीं थी लेकिन भारतीय उपमहाद्वीप को थी और अब भी है। यूरोप की अपेक्षा भारत में चिकित्सा विज्ञान अधिक विकसित था। औषधिमूलक पेड़–पौधों के ज्ञान का भंडार था। मध्यकाल में लगभग 13वीं शताब्दी में यहां चर्खा, करघा और तकली लोकप्रिय हुए। यह केवल यहीं की बात नहीं थी। अरब में भी चर्खा का चलन था। इरफान हबीब के एक लेख में अरबी के दो शब्द आए हैं, नदफ और मिन्दफ। ये दोनों शब्द रूई धुनने के अर्थ में हैं। मिन्दफ लकड़ी का एक ऐसा औजार था जिससे धुनिया रूई को कोमल बनाने के लिए अपनी कमान तांत पर चोट करता था। यूरोप में चर्खा बहुत बाद में आया। यह अलग प्रश्न है कि कपड़ा के क्षेत्र में इंगलैंड आगे बढ़ गया। क्यों बढ़ गया और कैसे बढ़ गया? किसका माल लूटकर बढ़ा? और एवज में इंगलैंड के बाहर के उपनिवेशों की जनता को क्या दिया?

अंग्रेज सरकार जब आयी थी तो बड़े–बड़े जमींदार मोटर और हाथी खरीदने के लिए किसानों पर मोटौना और हथौना टैक्स लगाते थे। वे किसानों के टैक्स से ही अपने बच्चों को पढ़ने के लिए विदेश भेजते थे। शहर का बाजार मिल जाने के बाद वे अपना अनाज शहर भेजा करते थे। शहरों का विकास कृषि के अतिरिक्त उत्पाद का बाजार बनता है। ब्रिटिश काल में शहर ज्यादा परोपजीवी हुए थे। हस्तकरघा और चर्खा उद्योगों का चलन काफी था। गांव के किसान सूत कात कर या कपड़ा बुनकर बिक्री के लिए शहर आया करते थे। शहर उन्हें बड़ा बाजार दे रहा था। देखा जाए तो ब्रिटिश राज के पहले किसान और शिल्पकार बेहतर स्थिति में थे। ब्रिटिश राज के जमाने मे चर्खा टूटा, करघा टूटा, तकली उजड़ी। भारत के बाजार में विदेशी माल का बाजार समृद्ध हुआ। रेल आती या नहीं आती, भौतिक परिस्थितियों में जन–साधारण की भूमिका हो सकती थी। यह भूमिका भारत की जनता तय करती। 1857 के विद्रोह की व्यापकता में यह बात अंतर्निहित थी। शायद ही ऐसा कोई विद्रोह होगा जो पंजाब से लेकर बिहार तक समान गति से फैला हो।

भारत के लोक साहित्य में करघा और चर्खा का अपना महत्त्व रहा है। लोक की मिट्टी में ये चीज़ें रची–बसी थी। राजस्थानी का एक लोक गीत है, चाल रे चरखला, हाथ रे चरखला/ताकू तेरो सोवणो, लाल गुलाबी माल माल/चरकूँ–चरकूँ फिरे घेरणी, मधरो चाल/चाल रे चरखला गुड्डी तेरी राँग रंगीली, तकली, चककरदार/रोखो वण्यो दकड़ो तेरो कूकड़िये री लार। चाल रे चरखला।[18]

मुग़ल साम्राज्य के पतन के समय भी चर्खे का महत्त्व कम नहीं हुआ था। 1857 का महत्त्व महज इस मानी में नहीं था कि वह सिपाहियों का विद्रोह था या वह तात्कालिक विद्रोह था या वह मुसलमानों का विद्रोह था। विद्रोह के पीछे रीढ़ के टूट जाने का शहीद, अहसास था। इसलिए हरियाणवी में एक कहावत प्रचलित थी, ''आठ फिरंगी, नौ घोड़ा। लड़े जाट के दो छोरा।'' जाटों के यहां ऐसे पुराने जूते मिलते हैं, जो दूसरों के थे जिनसे उन्होंने अपने शत्रुओं को 1857 में पीटा था। इसी पृष्ठभूमि में एक मुहावरा है, ''सत्तावाणियां जूता।''[18] सत्तावन के विद्रोह से अपने देश में अपने राज की आशा फूटी थी।

रजनी पाम दत्त ईस्ट इंडिया कम्पनी के समय के भारतीय समाज की पीड़ा से अवगत थे। उनके अनुसार (112) 18वीं सदी में ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारत को जमकर लूटा। इसके साथ ही उसने सिंचाई और सार्वजनिक निर्माण कार्यों की पूरी तरह उपेक्षा की। भारतीय मालों पर सीधे प्रतिबंध लगाकर या उसके आयात पर भारी चुंगी लगाकर इंगलैंड और पूरे यूरोप में उसे जाने से रोका। कुछेक स्थलों पर ब्रिटिश सरकार के महकमे से प्रचारित झूठ या अफवाहों का भी जिक्र हुआ है। यह चर्चा रही है कि 1857 का संग्राम केवल हिन्दी प्रदेश तक ही सिमटा रहा, पंजाब और बंगाल का इलाका शामिल नहीं था। 13 अक्तूबर 1857 को छपे लेख में कोल्हापुर (महाराष्ट्र) में विद्रोह की चिनगारी (13 सितंबर) फूटी। 'दि रिवोल्ट इन इंडिया' शीर्षक से छपे इस लेख में यह खबर भी है कि बम्बई नेटिव इंफैंट्री की 27वीं टुकड़ी में भारी विद्रोह फूटा लेकिन ब्रिटिश सैनिकों द्वारा उनकी पराजय की मनगढ़ंत खबर पूरे महाराष्ट्र में फैल गयी। बंबई नेटिव आर्मी में 43,048 सैनिक थे और वहां केवल दो यूरोपियन रेजिमेंट्स थे। यह चिंगारी नागपुर, औरंगाबाद और हैदराबाद में भी फैली। बंबई नेटिव आर्मी की कुल संख्या यूरोपीय सैनिकों की संख्या से बहुत कम थी। आग 13 सिंतबर को भड़की। ब्रिटिश मीडिया तंत्र के मुताबिक तुरंत बुझ भी गयी। अगर ऐसा हुआ होता, तब नागपुर, औरंगाबाद और हैदराबाद में विद्रोह की आग नहीं फैलती।

बिहार से लेकर महाराष्ट्र तक 1857 की क्रान्ति असाधारण थी। कुछ जमींदारों और उनके अमलों के असहयोग के कारण ब्रिटिश सरकार को जीत हासिल हुई थी। कूटनीति विद्या में अंग्रेज आगे थे। इसलिए उन्होंने पटाने–रिझाने का काम भी कुशलता से किया। मेरठ में (9 मई, 1857) विद्रोह की शुरूआत इसी तरह हुई। 9 मई को मेरठ के अंग्रेज अधिकारी लेफ्टिनेंट गफ को सूचना मिली कि अगले दिन देशी और अश्व सेना दोनों विद्रोह करेंगी। 10 मई को मेरठ के सदर बाजार की वेश्या सोफी को विद्रोह के होने की सूचना मिली। सेफी ने अपनी मां मेहरी को सूचना दी। उससे यह सूचना जीनत को मिली। उसने स्मिथ के बंगले पर रहने वाली नौकरानी गुलाबजान को खबर दी। गुलाबजान ने स्मिथ को बतलाया। स्मिथ को विश्वास नहीं हुआ। पामर की किताब में विद्रोह के प्रारंभ होने का पूरा ब्यौरा आया है। आश्चर्य यह कि विद्रोह के पूर्व नियोजित होने की सूचना को

ब्रिटिश सेना के हर बड़े अधिकारी ने सिरे से नकारा है। वहां के जनरल हेविट ने अपने प्रतिवेदन में स्पष्ट लिखा है कि यह विद्रोह पूर्वविमर्शित नहीं था। हैरत यह कि ब्रिटिश सैनिकों के रसोईघर के नौकरों को विद्रोह की सूचना थी। पामर के विवरण से स्पष्ट है कि ब्रिटिश सैन्य अधिकारियों को भावी विद्रोह की सूचना पर विश्वास नहीं हो रहा था। दुनिया का इनता बड़ा सेना तंत्र और उसका जासूसी विभाग इतना कमजोर! विश्वास नहीं होता है। पामर के विवरण का आधार सैन्य अधिकारियों का विवरण है। मेरठ में विद्रोह की शुरूआत होने के ब्यौरे में कई जातियों (कसाई, पल्लेदार, खटीक, जुलाहा, चमार, लोघे, कुंजड़े, घसियारे/पृ.173) का उल्लेख हुआ है और उन्हें बाजारू बदमाश, हत्यारा और गृहदाही (पृ. 93) कहा गया है। पिछड़ी जातियों की बड़ी तायदाद इस विद्रोह में हिस्सा ले रही थी, जो अंग्रेजों की नज़र में बाजारू बदमाश थे। अंग्रेज अधिकारियों के विवरण में विद्रोह के बिल्कुल तात्कालिक होने का निष्कर्ष मिलता है, जिसे कुछ भारतीय इतिहासकारों ने भी मान लिया। जो बाजारू बदमाश विद्रोह कर रहे थे, जनता में, जनता के साहित्य में उनकी छवि वही नहीं थी।

लोक साहित्य इतिहास लिखने के स्रोतों में बिल्कुल अकेला और अप्रतिम है जो इतिहासकारों की पूरी ज्ञान सम्पदा को धकियाते हुए आगे निकल जाता है। अंग्रेजों के रिकार्ड्स जो कहानी कहते हैं, लोक साहित्य उससे भिन्न धरातल और कथा प्रस्तुत करता है।

अंग्रेजों के सैनिक अधिकारियों ने विद्रोह को तात्कालिक और विद्रोहियों को बदमाश और गुंडा कहा। जो प्रतिवेदन वे लिखते थे, डायरी लिखते थे, अपने दैनिक रिकार्ड तैयार करते थे, उसमें उसके दूरगामी असर को सामने रखते थे, क्योंकि उनके लिखे हुए पर ही इतिहास लिखा जाता था।

1857 के सिपाहियों का भी अपना सूचना तंत्र था। भले वह ब्रिटिश राज से कमजोर हो, लेकिन उसकी सांगठनिक एकजुटता अद्वितीय थी। कहीं से गद्दारी की बू नहीं और हर सिपाही एक–दूसरे के इतना बावस्ता कि मंजिल के अलावा उसे कुछ भी पता नहीं। पामर की किताब का पहला अध्याय 'चपातियाँ' शीर्षक से है। 1857 के सिपाहियों ने एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुंचने के लिए रोटी या चपाती को हथियार बनाया। ब्रिटिश राज को इसकी जानकारी नहीं थी। चपातियों के वाहकों को चपाती के अलावा किसी का ज्ञान नहीं था। उनका काम केवल चपाती पहुंचाना था।

संभव है। 25 नवंबर तक लखनऊ में युद्ध होता रहा। सिकन्दराबाग (लखनऊ) की हार के बाद भी अवधवासी निराश नहीं हुए थे। बेगम हजरत महल ने जनरल आउद्रम को संदेश भेजा, "तुम अंग्रेजों से मैदाने जंग में फिर मुलाकात होगी। मैं हुई तो अपनी तकदीर पर नाज करूंगी, नहीं तो कोई हजरत महल ज़रूर होगीं जब तक गुलामी है, हिन्दुस्तान में हज़रत महल और रानी लक्ष्मीबाई पैदा होती रहेगी।" बेगम हज़रत महल की मृत्यु अप्रैल, 1879 में नेपाल में हुई। विलायत ज़ाफरी ने लखनऊ से नेपाल तक की पैदल यात्रा (1852) की थी। बेगम की मज़ार पर गये थे। बेगम का अंग्रेजों के नाम आह्वान उन्हीं की किताब में संकलित है। रोटी के खेल से उपजे इस महासंग्राम की भावना अवध की मिट्टी में थी।

जुल्म का ऐसा नापाक मंज़र इतिहास में कहीं नहीं मिलेगा। शायद हिटलर भी उसके आगे शर्मसार हो जाए। इस जुल्म में भारतीयों के हर विश्वास को कुचल देने की भावना निहित थी। बहादुरशाह जफर का शासन लाल किले से पालम तक का रह गया था। परंतु उस छोटे से इलाके में उनके काम–काज की कीर्ति थी। लाल किला में रक्षा बंधन का त्यौहार बड़े धूम–धाम से मनाया जाता था। फूलवालों की सैर में ज़फर खुद शामिल होते थे। जोगमाया का मंदिर और बख़्तियार शाह की दरगाह के बीच हिन्दू और मुसलमान पंखे बदला करते थे। बहादुर शाह ज़फर ने अपने इलाके में गो हत्या पर सख्त पाबंदी लगा रखी

सौजन्यः राष्ट्रीय अभिलेखागार

थी। विलायत जाफरी (पृ. 2–3) ने लिखा है कि दिल्ली जीतने के बाद अंग्रेजों ने मुस्लिम क्रान्तिकारियों को सूअर की खाल और हिन्दू क्रान्तिकारियों को गाय की खाल में सिलाई कर जलाया। बहादुरशाह जफर पर मुकदमा 27 जनवरी, 1858 को चला और 9 मार्च 1858 को उसे देश निकाला की सजा सुनायी गयी। उन्हें रंगून भेज दिया जहां 17 नवंबर, 1862 को उनकी मृत्यु हो गयी। जिस जगह उन्हें बंदी बनाया गया, उन्हें कागज–कलम भी नसीब नहीं था। वे कोयले से बन्दीगृह की दीवार पर शेर लिखते थे। उनका यह शेर बहुत मशहूर हुआ, ''है कितना बदनसीब ज़फर दफ़न के लिए/दो गज जमीं भी न मिली कुएं यार में।'' बहादुरशाह ज़फर के साथ उनके दो बेटों को भी बन्दी बनाया गया। दिल्ली गेट पर मेजर हडसन ने ज़फर के दोनों बेटों मिर्जा मुगल और मिर्जा अकबर सुल्तान का सरक़लम कर दिया। दोनों बेटों के धड़ दिल्ली गेट के बाहर लटका दिए गए। अंग्रेजों ने यहां के विश्वास, यहां की भावना, अपनी मिट्टी से प्यार करने के जज़्बे को ठंडा करने की कोशिश की थी। पूरे देश को निर्लज्ज करने की चौतरफा साजिश रची गयी।

सत्तावन के सिपाही अंग्रेजों की इस साजिश को समझते थे। वे अंग्रेजों के अत्याचार के आगे झुके नहीं। कई सिपाही साधु–संन्यासी बनकर एक इलाके से दूसरे इलाके तक घूमते रहे। उन्होंने अंग्रेजों से हार नहीं मानी। राणा बनी माधव के बारे में प्रचलित है कि वे बैसवाड़ी के इलाके में साधु बनकर घूमते थे। लाल कंचननाथ शाहदेव दक्षिण बिहार (अब झारखंड) के सिपाही थे। साधु बन गये थे। एक जगह भिक्षाटन करने गये। उनकी पत्नी उन्हें पहचान गयी। सिपाहियों की सूचना का चमत्कार देखें कि अप्रैल से लेकर नवंबर, 1857 तक पूरे झारखंड यानि दक्षिण बिहार में 1857 का संग्राम जारी रहा। अक्तूबर में मेजर इंग्लिश ने सरकार को पत्र लिखा कि वह विद्रोहियों को परास्त करने में कामयाब हुआ है, परंतु अब भी उसके चारों ओर सिपाहियों और लुटेरों से भरा जंगल है। मैं इस योग्य नहीं हूं कि इतने सामान और घायलों के साथ वापस आ सकूं। इसलिए एक सौ आदमी भेजने की कृपा करें। पांडेय तारकेशवरनाथ राय के इस लेख में ओल्ड हजारीबाग रिकार्ड्स के आधार पर जुलाई से अक्तूबर तक का सिलसिलेबार विवरण आया है। उसे देखने से समस्त भारतीय समाज के एकजुट होने की भावना का पता चलता है। विद्रोह की चिंगारी ऐसे समय में तेज हुई जब भारत के दूसरे हिस्सों के विद्रोही कमजोर पड़ रहे थे। विद्रोह की शुरूआत लगभग अपने नियत समय में हो चुकी थी और चौतरफा विद्रोह हुआ। जुलाई 1857 में आठवीं देशी पैदल सेना ने विद्रोह किया। अगस्त में डोरंडा छावनी (रांची) ने बगावत की। अक्तूबर में रांची विद्रोहियों के हाथ तक में आ गया। ठाकुर विश्वनाथ शाही इसके नेता बने और गणपत राय सेनापति। अक्तूबर तक विद्रोही वीरकुंवर सिंह और उनके भाई जगतपाल सिंह से संबंध स्थापित कर चुके थे। पांडे गणपत राय (जन्म/1809) को 1 अप्रैल 1858 को फांसी दी गयी थी। नगपुरिया/नागपुरी (भारतीय आर्यभाषा परिवार की एक बोली जो उस समय तक रांची और हजारीबाग में बोली जाती थी) के कवि बुलूराम ने फांसी के समय का आंखों देखा हाल अपने गीत में पिरोया है। गीत कुछ लम्बा है, पांडेय गनपत राय नवछत्तर जनम पाय।

हरषत नागपूरे ....
ऊप से हुकूम आयल, फांसी में देल चढ़ाय
बोलत बात, मुसकत मुंह परे ....

यहां के आदिवासियों में पांडेय गणपति राय बहुत लोकप्रिय थे। उस समय तक अंग्रेज सरकार आदिवासी इलाके के रूप में इस पूरे क्षेत्र की पहचान नहीं कर सकती थी। 1858 के बाद हिन्दू–मुस्लिम एकजुटता में भेद करने वाले कीटाणुओं के उदय के साथ आदिवासी और गैर आदिवासी के भेदक कीटाणु भी उदित हुए। बिरसा मुंडा (1872–1901) के जीवनीकार कुमार सुरेश सिंह इस क्षेत्र के अनेक छोटे–छोटे विद्रोहों (चुआड़, कोल, भूमिज, संतालज आदि) की अंतिम परिणति के रूप में 1857 के संग्राम को स्वतः स्फूर्त विद्रोह के रूप में देखते हैं। उनके अनुसार सिपाही विद्रोह में चेरों और गोंड के जमींदारों ने भी हिस्सा लिया और वह पहले चरण का विद्रोह था जिसमें आदिवासी जमींदार और गैर आदिवासी शामिल थे। यह बड़ी बात थी। पहाड़ी क्षेत्रों में बाहर से आये और शोषक की लूट–खसोट नीति से इनकार नहीं किया जा सकता है लेकिन उनकी व्यवस्था से निबटना बाद की रणनीति होती जब अंग्रेज यहां से चले जाते।

अरुण कुमार
हिन्दी विभाग
आर.एल.एस.वाई.,
कॉलेज, रांची–834001

डा. दरख्शां ताजवर

संदर्भः 1857 की डेढ़सौवीं वर्षगांठ

बहादुरशाह "ज़फर" का व्यक्तित्व

सरगुज़िश्ते–देहली के आधार पर

इस वर्ष हम भारतवासी अपने देश के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम की 150वीं वर्षगांठ मना रहे हैं। आज से डेढ़ सौ वर्ष पूर्व 1857 ई. में देशवासियों ने विदेशी आधिपत्य से मुक्ति पाने के लिए अंग्रेजों से संघर्ष किया और अपने तन, मन, धन की बाजी लगा दी। यद्यपि उस समय क्रान्तिकारियों ने अदम्य उत्साह और साहस का परिचय देते हुए अंग्रेजों से लोहा लिया, परन्तु दुर्भाग्यवश वे परतंत्रता की बेड़ियों को उखाड़ फेंकने की अपनी कोशिश में असफल रहे। इस स्वतंत्रता संग्राम की विफलता के अनेक कारण थे जिनमें से एक महत्वपूर्ण कारण यह था कि इस युद्ध में अपनी आत्मा का सौदा करने वाले कुछ लोगों ने अपने निजी स्वार्थ के लिए अंग्रेजों को हर संभव सहायता पहुंचाई। अंग्रेजों ने कूटनीतिक चालों से किले, शहर, फौज़ यहां तक कि अमीरों के गुट तक में ऐसे देशद्रोहियों का जाल बिछा देने में सफलता पा ली थी। उनके जासूसों की टोली ने क्रान्तिकारियों के हर अभियान को विफल करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। रजब अली, जीवन लाल, इलाहीबख़्श, गौरी शंकर, तुराब अली, फ़तेह मुहम्मद, लताफत अली, मीर मुहम्मद अली, हरचन्द मेघराज, कल्लू, उमीचन्द, महबूब अली खां, राजन गूजर प्रभु, रूस्तम अली, मानसिंह, जवाहर सिंह जैसे अवसरवादियों की गद्दारी के कारण क्रांतिकारी अपनी योजनाओं को गुप्त रखने का प्रयास करने के बावजूद असफल रहे। इतिहास साक्षी है कि वे अपनी योजनाओं के क्रियान्वयन के लिए बहुत सावधान थे[1]– लेकिन पग पग पर मौजूद आस्तीन के सांपों ने पल–पल की सूचनाएं अंग्रेजों तक पहुंचाईं। इन गद्दारों की कायरता और भीरूता को अंग्रेजों ने वीरता और साहस का नाम दिया।[2]

1857 के स्वतन्त्रता संग्राम को विफल करने के बाद उन्होंने ऐसे लोगों को सर आंखों पर बैठाया और उन पर पुरस्कारों की वर्षा कर डाली। देश के ऐसे ही लोगों में एक नाम मुंशी जीवन लाल का भी था जिन्हें अंग्रेजों के लिए की गई उनकी सेवाओं का इनाम मिला और 1857 के बाद वह ऑनरेरी मजिस्ट्रेट और म्यूनिसिपल कमिश्नर के पद पर आसीन किए गए।[3]

1857 के स्वतंत्रता संग्राम में जीवनलाल ने दोहरी भूमिका निभाई। एक तरफ़ वह अंग्रेजों के वफादार बने रहे, दूसरी ओर बहादुर शाह भी उन पर भरोसा करते थे। उनके दरबार में जीवन लाल का महत्वपूर्ण स्थान था। बहादुरशाह और उनके परिवार से जीवन लाल के प्रगाढ संबंध थे। किले तक पहुंच होने के कारण वह वहां की परिस्थितियों से भलीभांति परिचित थे। बहादुर शाह के संबंधों का उन्होंने फायदा उठाया। 1857 के दौरान वह दिल्ली में रहे– और अंग्रेजों को क्रांतिकारियों के बारे में सूचनाएं अपनी जान की परवाह न करके देते रहे। कभी–कभी क्रान्तिकारियों के शक की सूई उनकी ओर भी घूमी कि वह अंग्रेजों के जासूस हैं लेकिन वह अपनी पहुंच के कारण सदैव बचते रहे।[4] 1857 के स्वतंत्रता संग्राम के विषय में जो विवरण उन्होंने अंग्रेजों को भेजे थे उसे चार्ल्स

जीवनलाल ने दोहरी भूमिका निभाई। एक तरफ़ वह अंग्रेजों के वफादार बने रहे, दूसरी ओर बहादुर शाह भी उन पर भरोसा करते थे। उनके दरबार में जीवन लाल का महत्वपूर्ण स्थान था। बहादुरशाह और उनके परिवार से जीवन लाल के प्रगाढ संबंध थे। किले तक पहुंच होने के कारण वह वहां की परिस्थितियों से भलीभांति परिचित थे।

थियोफिलस मेटकॉफ़ ने संपादित करके उसका अंग्रेजी अनुवाद Two Native Narratives of Mutiny in Delhi के नाम से प्रकाशित कराया जिसका उर्दू अनुवाद ज़ियाउद्दीन बर्नी देहलवी से ख़्वाजा हसन निज़ामी ने करवा कर 1926 में 'गदर की सुब्हो शाम'' के शीर्षक से प्रकाशित किया। रज़ा लाइब्रेरी, रामपुर में जीवन लाल के रोजनामचे की वह पाण्डुलिपि सुरक्षित है जिसे आफ़ताब आलमताब'' (यह एक साप्ताहिक अख़बार था और उसी नाम के आगरा में स्थित प्रेस से प्रकाशित होता था और उसके संपादक गनेश लाल थे)[5] से नकल किया गया था। यहां सुरक्षित रोजनामचा इस कारण अधिक महत्वपूर्ण था कि यह लेखक की स्वयं की भाषा में था जबकि पहले प्रकाशित रोजनामचे अनुवाद किए हुए थे और उनमें बहुत सी त्रुटियां भी थीं। रज़ा लाइब्रेरी ने जब अपने यहां सुरक्षित इस पाण्डुलिपि, जो कि उर्दू भाषा में थी, प्रकाशित करने का कार्यक्रम बनाया तो इसके संकलन और संपादन का भार मुझ पर डाला। इस कार्य के पूरा होने के बाद रज़ा लाइब्रेरी ने इसका हिन्दी अनुवाद भी मुझसे ही करवाया और जीवन लाल के रोजनामचे ''सरगुज़िश्ते देहली को हिंदी और उर्दू दोनों भाषाओं में प्रकाशित कराया।

जीवन लाल का यह रोजनामचा इस कारण अत्यन्त महत्वपूर्ण है, क्योंकि इसे एक प्रत्यक्षदर्शी ने लिखा है और इसको पढ़ते समय पाठक ऐसा महसूस करता है जैसे वह 1857 की घटनाओं को न केवल अपनी आंखों से देख रहा है वरन् उन मुसीबतों को झेल भी रहा है जो उस समय दिल्ली वासियों को उठानी पड़ रहीं थीं। इसकी महत्ता इस दृष्टि से भी बढ़ जाती है कि इससे बहादुर शाह, जो इस लड़ाई में केंद्र बिंदु थे, का व्यक्तित्व भी परिलक्षित होता है। यद्यपि अंग्रेजों ने 1857 के स्वतंत्रता संग्राम को कुचलने के बाद बहादुरशाह की छवि खराब करने की भरपूर चेष्टा की थी और अपनी इस कोशिश में उन्हें कामयाबी भी मिली, उनके द्वारा फैलाई गई ग़लतफ़हमी का शिकार कुछ बड़े इतिहासकार भी हुए। सुरेन्द्र नाथ सेन ने यदि बहादुरशाह 'ज़फ़र' को अयोग्य शासक घोषित किया[6] तो आर. सी. मजूमदार ने उन्हें ग़द्दार साबित कर दिया।[7] जीवनलाल का यह रोजनामचा, इन इतिहासकारों की बातों को नकारते हुए एस.बी. चौधरी के इस कथन की पुष्टि करता है कि बहादुर शाह 'ज़फ़र' अंग्रेजों के विरुद्ध इस युद्ध के असली स्रोत थे।[8]

जीवन लाल का रोजनामचा ''सरगुज़िश्ते देहली'' जहां बहादुरशाह के व्यक्तित्व के कुछ उज्ज्वल पहलुओं को प्रतिबिंबित करता है, वहीं यह भी प्रमाणित करता है कि 1857 की लड़ाई में बहादुरशाह का महत्वपूर्ण स्थान था। अंग्रेजों का पेंशनभोगी होने के बावजूद, भारतीय जनता की दृष्टि में उनका व्यक्तित्व आदरणीय था और उनकी हैसियत एक केन्द्र बिन्दु की थी, यही कारण था कि जब मेरठ और अन्य स्थानों पर जहां–जहां विद्रोह हुआ, वहां के क्रांतिकारियों ने दिल्ली की ओर प्रस्थान किया और बहादुरशाह से नेतृत्व की कमान संभालने का अनुरोध किया। यह सच है कि उनके निवेदन को स्वीकृति थोड़ी देर में मिली लेकिन जब वह इस लड़ाई में शामिल हो गये तो उन्होंने कोई लापरवाही नहीं की। अपनी वृद्धावस्था के बावजूद अपने दायित्वों का निर्वाह उन्होंने भली–भांति किया। जीवन लाल का रोजनामचा यह सिद्ध करता है कि बहादुरशाह स्वयं मोरचों पर

इसकी महत्ता इस दृष्टि से भी बढ़ जाती है कि इससे बहादुर शाह, जो इस लड़ाई में केंद्र बिंदु थे, का व्यक्तित्व भी परिलक्षित होता है। यद्यपि अंग्रेजों ने 1857 के स्वतंत्रता संग्राम को कुचलने के बाद बहादुरशाह की छवि खराब करने की भरपूर चेष्टा की थी और अपनी इस कोशिश में उन्हें कामयाबी भी मिली, उनके द्वारा फैलाई गई ग़लतफ़हमी का शिकार कुछ बड़े इतिहासकार भी हुए।

जाते, तोपों का मुआयना करते और क्रान्तिकारियों को निर्देश भी देते। 11 जून को जीवनलाल लिखता है :–

"शाह देहली ने हुक्म दिया कि दो हज़ार सिपाही कशमीरी और काबुली दरवाजे पर जायें और अफ़वाज़ अंग्रेजों से मार्का आरा हो।"[9]

5 अगस्त को जीवन लाल के कथनानुसार बहादुर शाह ने आदेश दिया कि :

"अंग्रेजी कैम्पों में बराबर गोली बारूद और आग को तेज़तर कर दो और तोपें, अंग्रेजी मोर्चा की ओर जिन से गोले शहर में आते हैं उन को खामोश करो।"[10]

23 अगस्त को जीवनलाल ने लिखा :

"बादशाह सलीमगढ़ में गये और हुक्म दिया कि चन्द गोले अंग्रेजी कैम्पों पर छोड़े जायें।"[11]

बहादुर शाह मोर्चों पर जाते और जब उन्हें यह लगता कि क्रान्तिकारियों की लापरवाही से उनको सफ़लता मिलने में देर हो रही तो उनकी भर्त्सना भी करते। 12 जून को जीवनलाल ने यह लिखा कि :

"इसी तारीख को बादशाह सिपाहियों से बहुत ख़फ़ा हुए और कहा कि तुम किसी रोज़ अंग्रेजों पर फतेहयाब नहीं हुए। अब तुम जाओ और अंग्रेजों को सब्जीमंडी से निकाल दो।

सौजन्य : रामपुर रजा लाइब्रेरी, रामपुर

बहादुरशाह जफर की युवावस्था की तस्वीर

22 अगस्त, 1857 को जीवन लाल ने लिखा है कि बहादुर शाह ने अपने गोला अन्दाजों को, दुश्मन के मोर्चे आगे बढ़ने पर फटकार लगाई, और अंग्रेजों के मोर्चे पर गोले फेंकने का आदेश दिया।[13]

जीवनलाल का रोजनामचा इस बात का भी साक्षी है कि क्रान्तिकारियों ने इस युद्ध में अदम्य उत्साह और साहस का परिचय दिया और उनके इस साहस को ऊर्जा प्रदान करने की चेष्टा भी बहादुरशाह ने की। उदाहरण के लिए प्रस्तुत है उनके द्वारा रचित वह कतअः जो उन्होंने बख़्त खां को भेजा था और जो 3 अगस्त 1857 के सादिकुल अखबार में प्रकाशित हुआ।[15] कतअः प्रस्तुत है। इसका उल्लेख जीवन लाल ने 2 अगस्त 1857 के विवरण के अन्तर्गत किया:

लश्करे आदा इलाही आज सारा क़त्ल हो
गोरखा गूजर से लेकर ता नसारा क़त्ल हो
आज का दिन ईदे कुर्बां की जभीं जानेंगे हम
ऐ ज़फ़र तहे लेग़ जब दुश्मन हमारा क़त्ल हो"[16]

जीवन लाल का रोजनामचा जहां यह दर्शाता है कि इस युद्ध में सम्मिलित होने वाले सर पे कफ़न बांध के शहादत की भावना से ओत–प्रोत होकर इस में शरीक हुए थे, वहीं इस बात पर भी रोशनी डालता है कि बहादुरशाह ने उन्हें उनकी बहादुरी और दिलेरी पर पुरस्कार देकर उनका हौसला भी बढ़ाया था। 11 सितंबर 1857 की घटनाओं का उल्लेख करते समय जीवन लाल ने लिखा कि बहादुरशाह ने दो रेजिमेन्टों को रातों–रातों तेजी से मोर्चे तैयार करने और अंग्रेजों से बहादुरी से मुक़ाबला करने पर एक हज़ार रूपये इनाम में दिए।[17] बहदुर शाह ने आन्दोलनकारियों को वीरता और साहस का प्रदर्शन करने पर उन्हें उच्च पदों पर आसीन करने और पुरस्कार स्वरूप जमीन देने का आश्वासन दिया। साथ ही उन्हें इस बात का विश्वास दिलाया कि यदि वह युद्ध करते हुए शहीद हुए तो उनके उत्तराधिकारियों को पेंशन दी जायगी।[18]

इतिहास गवाह है कि बहादुरशाह को विरासत में जो सत्ता मिली थी वह नाममात्र की थी। शाही ख़ज़ाना देश के विभिन्न भागों से जाने वाले क्रान्तिकारियों की विशाल फौज़ का खर्च बर्दाश्त करने की स्थिति में नहीं था और बहादुर शाह भी यह समझ रहे थे कि कोई भी जंग रूपये पैसे के बिना नहीं लड़ी जा सकती, इसलिए उन्होंने शहर के धनाड्य लोगों से कर्ज लेने के लिए एक कमेटी का गठन किया और कर्ज़ा देने वालों ने आश्वासन दिया कि उनके द्वारा दी गई धनराशि अंग्रेजों से युद्ध करने के लिए खर्च की जायगी और जैसे ही मालगुज़ारी वसूल हो जाएगी कर्ज़े की रक़म अदा कर दी जाएगी।[19] बहादुर शाह के व्यक्तित्व का यह पक्ष भी सराहनीय है कि जब उन्हें ये पता चला कि कुछ शहज़ादे फौज के नाम पर रूपया वसूल करके मनमाने ढंग से खर्च कर रहे हैं तो उन्होंने शहज़ादों की इस हरकत को सख्त नापसन्द किया, उन्हें खरी खोटी सुनाई और उन्हें यह आदेश दिया कि यदि वह फौज़ के नाम पर रूपया वसूल करें तो वह वख़्त खां को सौप दें और बख्त खां से आज्ञा प्राप्त करने के बाद ही फौज़ के लिए रूपया वसूल करें। सरगुज़िश्ते– देहली में 2 जुलाई–5 जुलाई, 6 जुलाई, 17 अगस्त और 10 सितम्बर 1857 की घटनाओं का विवरण देते समय इन तथ्यों पर प्रकाश डाला गया है।[20]

जीवन लाल का यह रोजनामचा इस बात का साक्षी है कि बहादुर शाह ने अपने सामाजिक दायित्वों को भी समझा और उसे निभाने की कोशिश की। अफ़रा–तफ़री के माहौल में जब शहर की दुकानें बन्द हो गईं और आम जनता को खाने–पीने की चीज़ों की कमी होने लगी तो बहादुर शाह स्वयं हाथी पर सवार होकर बाज़ार में गये और दुकानदारों को दुकानें खोलने का आदेश दिया।[21] नागरिकों की सुरक्षा के लिए सिपाहियों के दस्ते नियुक्त किए।[22] साथ ही क्रान्तिकारियों को हर संभव सहायता प्रदान की। दूसरे शहरों से आये हुए क्रान्तिकारियों का स्वागत किया।[23] उनके ठहरने की व्यवस्था की।[24] भोजन का इंतजाम किया, उनकी दावत के लिए शाही ख़जाने से रूपये भी दिए।[25] बहादुरशाह की इन कार्यवाहियों से क्रान्तिकारियों का उत्साहवर्धन हुआ और सभी अंग्रेज विरोधी ताकतें बहादुरशाह के झण्डे तले अंग्रेजों से युद्ध करने के लिए तत्पर हो गईं। इस दौरान बहादुरशाह की निरन्तर यह भी कोशिश रही कि हिन्दुओं और मुसलमानों के आपसी रिश्ते जो उस समय प्रगाढ़ थे उनमें अंग्रेज किसी प्रकार की दरार न डाल पायें। इसके लिए जहां उन्होंने बहुत सी कार्यवाहियां कीं, वहीं इस बात के लिए कठोर आदेश दिया कि कोई मुसलमान गाय की कुर्बानी न करने पाए। बहादुरशाह के आदेश से बख्त खां ने शहर में ढिंढोरा पिटवाया कि जो कोई मुसलमान ऐसा करेगा वह तोप से बांध कर उड़ा दिया जाएगा।[26] इसके साथ ही बहादुर शाह ने इस बात के लिए भी रोक लगाई कि गाय और बैलों को गाड़ियों तक में न जोता जाये क्योंकि ये जानवर हिन्दुओं के पूजनीय हैं।[27] इसका नतीजा यह हुआ कि अंग्रेजों की हिन्दुस्तानियों को आपस में लड़ाने की हर कोशिश नाकाम हुई। इस बात को कीथ यंग ने 2 अगस्त, 1857 को अपनी पत्नी को भेजे गए एक ख़त में स्वीकार भी किया।

ख़त के कुछ अंश प्रस्तुत हैं :

कल शहर में भीषण दंगा कराने के लिए हमारी आशाएं पूरी नहीं हो सकीं ..... बादशाह ने न केवल गाय वरन बकरी तक की कुर्बानी पर शहर में रोक लगा दी है और इस पर अगर अमल किया गया तो यह अवश्य ही हिन्दुओं को संतुष्ट करने के लिए काफी है। इसलिए बजाए इसके कि वे लोग आपस में लड़ते हमारे खिलाफ़ एकजुट होकर भरपूर हमला करने के लिए एक हो गए हैं ताकि हमें बर्वाद कर दें और इस ज़मीन से हमारा नामो निशान भी मिटा डालें।[28]

बहादुर शाह जफर का बुढ़ापे का रेखाचित्र

जीवन लाल का यह रोजनामचा यह भी दर्शाता है कि बहादुर शाह निश्छल प्रवृति के व्यक्ति थे और उनकी इसी कमजोरी का फ़ायदा उन लोगों ने उठाया जिन्हें अंग्रेजों ने उनके आसपास इसी काम के लिए नियुक्त कर रखा था कि वह उनके इरादों को कमजोर करें। ऐसे लोगों के छल–कपट को बहादुर शाह अपनी निश्छलता के कारण पहचान नहीं सके ऐसे लोगों में प्रमुख थे अहसनुल्लाह खां, रजब अली और इलाही बख़्श। ये लोग अपने प्रयास में युद्ध के अन्तिम क्षणों में सफल हो गए।[29] यही कारण था कि बहादुर शाह ने 19 सितम्बर 1857 को बख़्त खां के इस निवेदन को ठुकरा दिया कि वह उनके साथ अवध चलें और एक बार फिर अंग्रेजों से लोहा लें।[30] बहादुरशाह ने बख़्श खां को मना करके 21 सितम्बर 1857 को हडसन के सामने आत्मसमर्पण कर दिया।[31] बहादुरशाह के इस निर्णय ने भारतीय इतिहास का नक़्शा बदल दिया और सत्ता हिन्दुस्तानियों के हाथों से निकल कर अंग्रेजों के हाथों में चली गई। इनके बावजूद रोजनामचा यह सिद्ध करता है कि बहादुर शाह अंग्रेजों को परास्त करने का सपना अपनी पराजय से दो हफ्ते पूर्व तक देख रहे थे और इसके लिए वह अपनी हुकूमत से हाथ धोने को भी तैयार थे। 4 सितंबर 1957 को उन्होंने देशी राजाओं से अंग्रेजों के विरुद्ध उनका साथ देने की गुहार भी लगाई थी। 4 सितंबर की घटनाओं का उल्लेख करते समय जीवन लाल लिखता है:

''शिक़ा बनाम राजगाने जयपुर और जोधपुर व बीकानेर–व–अलवर व कोटा बदी मज़मून (इस विषय में) लिखे गए कि शाह देहली के पास जमाअत कसीर फौज की है और दिल से चाहते हैं कि अंग्रेजों को नेस्तनाबूद करें मगर चूंकि हमारे पास कोई मर्द तदबीर वास्ते ममलिकत के नहीं है, लिहाज़ा चाहते हैं कि तुम आकर इन्तज़ामे मुल्क अपने कुदरत में लो।''[32]

लेकिन इन राजाओं ने बहादुर शाह की कोई मदद नहीं की। बहादुर शाह को परास्त करने के बाद अंग्रेजों ने उन्हें अपराधी घोषित किया और 9 नवम्बर, 1857 को देश निकाला देकर रंगून भेज दिया।[33] जहां बड़ी बेबसी और लाचारी की दशा में 1862 ई. में उनकी मृत्यु हो गई।[34]

14 सितम्बर, 1857 का विवरण देने के बाद जीवन का क़लम ख़ामोश हो जाता है। यद्यपि 20 सितम्बर, 1857 को अंग्रेजों ने दिल्ली पर पूरी तरह क़ब्जा प्राप्त कर लिया परन्तु 14 सितम्बर ही वह दिन था जब अंग्रेजी फौजें दिल्ली पर भीषण आक्रमण करती हैं और उसी दिन दिल्ली के एक बड़े भाग उनका अधिकार हो जाता है। इसके बाद क्रान्तिकारी चप्पे चप्पे पर अंग्रेजी फौज़ों से ज़बरदस्त मुकाबला करते हैं। ऐसी परिस्थिति में जब लड़ाई गली कूचों में शुरू हो गई थी, जीवन लाल को जान बचाने की चिंता लग गई होगी जिस कारण अंग्रेजों को सूचना पहुंचाने का सम्पर्क टूट गया होगा। लेकिन 11 मई 1857 से 14 सितम्बर 1857 तक की घटनाओं का जो विवरण जीवन लाल ने छोड़ा है वह ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इससे न केवल 1857 के भारत की राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियां ही उजागर होती हैं वरन् बहादुर शाह 'जफर' के व्यक्तित्व का एक ऐसा रेखाचित्र उभरता है जो उन्हें किसी भी प्रकार से अयोग्य और गद्दार साबित नहीं करता।

34, दरखशां ताजवर

C/o श्री इम्तियाज अब्बासी

'कायनात'

B/34, तिवारी पुर

आवास विकास कालोनी, गोरखपुर,

(उत्तर प्रदेष) – 273001

हीरो ठाकुर

सिंधु घाटी सभ्यता की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

प्राचीन काल में जब आर्थिक तंत्र केवल खेती बाड़ी और नदियों के जरिए होने वाले व्यापार पर ही निर्भर था, तो उस समय सभ्यताओं और संस्कृतियों का उद्‌भव और विकास भी प्रायः नदियों के किनारों पर आबाद प्रदेशों में ही हुआ करता था। जिस तरह मिस्र देश (Egypt) की संस्कृति का विकास नील (Nile) नदी के कारण और मेसोपोटेमिया (Babylon) की संस्कृति का विकास दजला (Tigris) और फिरात (Euphrates) नदियों की बदौलत हुआ, ठीक उसी ही तरह सिंधु घाटी की संस्कृति का उद्‌भव और विकास भी सिंधु नदी के कारण हुआ।

भारत के सभी भागों में जिस तरह गंगा, यमुना, गोदावरी कावेरी, गोमती इत्यादि नदियों को माता तुल्य और जीवनदायिनी रूप में देखकर उनको पवित्र माना जाता है और उनकी पूजा आराधना की जाती है, ठीक उसी तरह सिंध भूमि के पुत्र–सिंधी भी युग युगान्तरों से सिंधु नदी की, उसके जल की, वेदों में वर्णित वरूण देवता के रूप में या वरूण के ही अवतार–झूलेलाल के रूप में पूजा अर्चना करते आये हैं।

सिंधु नदी एक विशाल नदी है, जिसका उद्‌गम स्थल तिब्बत के दुर्गम और बर्फीले पहाड़ों में है। जिस तरह गंगा नदी गोमुख से और यमुना यमुनोत्री से प्रस्फुटित होकर निकलती है, उसी तरह सिंधु नदी से संबंधित मान्यता है कि वह ''सिंह मुख'' या ''सिंह द्वार'' से प्रस्फुटित होकर प्रवाहमान होती है, जिसे स्थानीय तिब्बती भाषा में ''सिंघे क–बाब'' (सिंह द्वार) की संज्ञा दी गयी है। यह शायद इसलिए है कि सिंधु नदी अपने प्रारम्भिक स्थल से ही बड़ी तीव्र गति से गर्जना करती हुई आगे बढ़ती है। सिंधु तिब्बत से लेह(लद्दाख) से गुजरकर, कश्मीर ही में गिलगट इलाके को दो भागों में बांटती, पंजाब (पाकिस्तान) और सिंध से गुजरती हुई, पहले तो सौराष्ट्र और कच्छ (गुजरात) के नारायण सरोवर स्थल के समीप कोड़ी खाड़ी (अरब सागर) से जाकर समावेश करती थी, पर बाद में किसी भूकम्प या अन्य प्राकृतिक प्रकोप के कारण इसके प्रवाह में परिवर्तन हुआ, जिसके कारण आजकल वह पाकिस्तान के ठट्टा जिले में शाहबंदर, घोड़ाबाड़ी, केटी बंदर वाले क्षेत्र में अपना आखिरी सफर पूरा करके अरब सागर में जाकर समावेश करती है।

मोहनजोदड़ो का पंडित

अपने उद्‌गम स्थल तिब्बत से तो सिंधु अकेले ही एक नहर की तरह चलती है, पर शीघ्र ही जन्सकार नामक एक अन्य नदी उससे आकर मिलती है और उसमें समा जाती है। कश्मीर में ही कई छोटे–छोटे प्रवाह सिंधु से आकर मिल जाते हैं। बाद में पंजाब में आते ही पंजाब की पांचों नदियां, शतद्रु (सतलज), स्किनी (चिनाब), पुरुषणी (रावी), वित्तस्ता (झेलम) और ब्यास तथा अफगानिस्तान के काबुल की ओर से आनेवाली कुर्मु, मोतनो और गोमती नदियां भी उससे आकर मिलती हैं। इस तरह कुल मिलाकर सात बड़ी नदियां आपस में मिलकर एक ही प्रवाह बन जाती हैं जिसे सिंधु के नाम से जाना जाता है।

सौजन्यः राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली

नर्तकी

प्राचीन काल में उपरोक्त समस्त नदियों के तटों पर आबाद प्रदेश एक ही इकाई माना जाता था और उसकी सीमाएं उत्तर में तिब्बत, कश्मीर, पश्चिम में पेशावर, अफगानिस्तान, पूर्व में पंजाब और राजस्थान के पश्चिमी इलाके और दक्षिण में सिंधु, कच्छ और काठियावाड़ थीं, जिन सबको मिलाकर ''सप्त सिंधु'' कहा जाता था।

कश्मीर से अटक (पाकिस्तान) तक यह नदी सिंधु, अटक से अरोड़ (रोहिड़ी) तक पंचनद और रोहिड़ी से लेकर समाप्ति स्थल–अरब सागर तक यह ''महराण'' (महा अर्णव यानी अपार सागर) कहलाती थी। इसी नदी को बिहस्तान के आलेखों में 'सिंधु', बाईबल, में ''होड्डू'' और पारसियों के ग्रंथ वेंडी दाद में ''इंदू'' की संज्ञा से वर्णित किया गया है।

पारसी लोग 'स' का उच्चारण 'ह' से करते हैं, जैसे कि सप्ताह का हफ्ताः और 'सुर' को 'हुर' कहते हैं। उसी पद्धति से उन्होंने 'सिंध' को 'हिन्द' और 'सिंधु' को 'हिन्दू' कहकर बयान किया।

हमारे देश के प्रथम प्रधानमंत्री, पंडित जवाहरलाल नेहरू जी ने अपनी विश्व विख्यात पुस्तक ''Discovery of India'' में साफ–साफ शब्दों में लिखा है कि 'हिन्दू' और 'हिन्दुस्तान' सिंधु शब्द से ही निकले हैं। वे लिखते हैंः

The word 'Hindu' does not occur at all in our ancient literature. The first reference to it is in a Tantrik work of eighth century AC, where 'Hindu' means, a people and not a follower of a particular religion..... It was used then and for a thousands years or more later by the people of western and central Asia for India or rather for the people living on the other side of the Indus river. The word is clearly derived from **Sindhu,** the old as well as present Indian name for the Indus river. From 'Sindhu' came the words 'Hindu' and 'Hindustan' as well as Indus and India (Nehru's ''Discovery of India", page 74).

सिंधु के अतुल जल, उसके किनारों के आसपास उपजाऊ भूमि और इस क्षेत्र के लोगों की उद्यमशीलता ने इस भूखण्ड को सदा–सर्वदा पुष्पित पल्लवित और धनधान्य से परिपूर्ण रखा है। अन्न, पानी और प्राकृतिक सम्पदाओं के प्रचुर मात्रा में होने और वर्ष में ज्यादातर महीने अच्छा और स्वास्थ्यदायक मौसम रहने से लोग उद्यमशील रहे, समृद्धि और सम्पन्नताओं के बीच रहे, लिखने–पढ़ने, दिमाग चलाकर और उद्यम करके भौतिक सुख–सुविधाओं, खेतीबाड़ी के और घरेलू साज़ोसामान बनाने, निजी साजसज्जा, श्रृंगार, मिट्टी, ताम्बे, पीतल से पुतले बनाने और अन्य कलाओं के प्रति प्रेरित हुए। ऋग्वेद और मोहन–जो–दड़ो के खननस्थल इन बातों की गवाही पेश करते हैं। यह बात सर्वविदित है कि वैदिक कृतियों–ऋग्वेद, सामवेद, अथर्ववेद,

यजुर्वेद–का सृजन सिंधु के किनारों पर हरे–भरे और घने जंगलों में ऋषियों के आश्रमों में हुआ था। विद्वानों का अंदाजा है कि वेद दो हजार वर्ष पुराने हैं। पर लोकमान्य तिलक ने तो बहुत सशक्त दलीलों के साथ यह सिद्ध कर के दिखाया है कि वेदों की ऋचाएं कम से कम छः हजार वर्ष पुरानी हैं।

ऋग्वेद के दसवें मंडल के पचहत्तरवें सूक्त में सिंधु का जिस तरह यशगान किया गया है, उससे इस नदी के वैभव और विशालता व इससे जुड़े हुए प्रदेश–सिंधु देश की समृद्धि और सम्पन्नता के भव्य दर्शन होते हैं। ऋग्वेद में कहा गया है :

1. प्र सु व त्रोपो महिमानमुत्तम कारुर्वो वाति सदने विवस्वतः

प्रसप्त सप्त मेघा ही चक्रमुः प्रसृत्वरीणामति सिन्धु रोज सा

हे जल देवता! मैं अपने यजमान के घर में आपकी स्तुति करने वाला ब्राह्मण आपकी विस्तृत महिमा गाता हूं। नदियां सात सात होकर तीन स्थलों–पृथ्वी, अंतरिक्ष और द्युलोक में बहती हैं। उन नदियों में सबसे तेज़ बहने वाली नदी सिंधु अपने बल के कारण उन सब में बीचोंबीच चलती है।

2. प्रतेडरदद्वरुणो यातवे पथः सिन्धो यद्वाजाँ अभ्यद्रवस्त्वम भूम्या अधि प्रवता यामि सानुना यद्ेषामग्र जगतामिरज्यसि

ऐ सिन्धु! तुम उपजाऊ स्थानों की ओर बढ़ सको इसलिए वरूण देवता ने तुम्हारे गमन के लिए विस्तृत मार्ग बनाया। तुम धरती के अति उच्च स्थल से प्रवाहित होकर निकलती हो और धनधान्य का ध्यान रखती हो और सभी नदियों के अग्रभाग में विराजमान हो।

3. दिवि स्वनो यतते भूम्योप यनन्तं शुष्ममुदियतिं भानुना

अभ्रदिव प्र स्तनयन्ति–बृष्टयः सिन्धुर्यदोति वृषभो न रोरुवत

ऐ सिंधु! तुम जब बैल की तरह गरजती हो तो तुम्हारी आवाज देवलोक तक पहुंच जाती है। तुम अपनी शक्ति, लहरों द्वारा प्रदर्शित करती हो। जिस तरह बरसात के समय बादल गरजते हैं उसी तरह तुम्हारे प्रवाह से गजगोड़ होती रहती है।

4. अभी त्वा सिन्धो शिशुभिन्न मात्रो वाश्र्वा अर्पन्ति पयसैवधैनव राजेव युध्वा नयसि त्वमित सिचौ यदासामग्र प्रवतामिनक्षसि।

जिस प्रकार माता बालक के पास जाती है अथवा दुधारू गाएं रंभाती हुई बछड़ों के पास जाती हैं, उसी प्रकार अन्य नदियां सिंधु से मिलती हैं। जैसे युद्ध करने वाला राजा सेना लेकर आगे बढ़ता है, उसी प्रकार से सिंधु! तुम अपनी सहायक नदियों के साथ उनकी महनदार बनकर आगे बढ़ती हो।

सौजन्यः राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली

मातृदेवी, मोहनजोदड़ो, टेराकोटा, लगभग 2300 ई.पूर्व

5. इमं मे गूड.गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्णया
असिक्न्या मरुद्वधे वितस्तया डडर्जीकीये श्रृणुहया सुषोमया

ऐ गंगा, यमुना, सरस्वती, शतुद्री, परुषणी, अस्किनी के साथ रहने वाली मरूद्ध, वितस्ता, सुषोमा और आर्जीकीया नदियों! तुम मेरी स्तुति सुनो और स्वीकार करो।

6. तृष्टामया प्रथमं यातवे सजूः सुसर्त्वा रसया श्वेत्या त्या
त्वं सिन्धो कुभया गोमतीं महित्वां सरयं याभिरीयसे

सिंधु! तुम तेज बहने वाली गोमती नदी के समीप जाने के लिए पहले तुष्टामा नदी से मिलती हो। बाद में तुम सुसर्त, रसा, श्वेती, कुर्म, कुंभा और मेहत्नु से मिलकर आगे बढ़ती हो! तुम इन नदियों के साथ बहती हो।

7. ऋजीत्येनी रुशती महित्वां परि जयांसि भरते रजांसि
अदब्धा सिन्धुरपामपस्तमा श्वा न चित्रा वपुषीव दर्शता

साफ श्वेत वर्ण वाली, सीधे बहने वाली और दीप्तमान सिंधु का वेगशाली जल चारों ओर बहता है। सिंधु सबसे तेज है। यह बिना किसी को नुकसान पहुंचाये आगे बढ़ती है और चित्रा या अत्यन्त सुंदर नारी की तरह दर्शनीय हैं।

8. स्वश्वा सिंधु सुरथा सुवासां हिरणयनी सुकृता वाजिनीवती ऊर्णावती, युवतिः सीलभाव त्युताधि वस्ते सुभगा मधुवधर्म।

ऐ सिंधु! तुम सुंदर घोड़ों वाली, सुंदर रथों वाली, सुंदर वस्त्रों और सोने के आभूषणों वाली, अनाज से भरपूर, ऊन और जल से भरपूर, शीशम की लकड़ी के भंडारों से भरपूर, सुंदर भाग्यवान मधु (शहद) पैदा करने वाले वृक्षों का सहारा भी तुम ही हो।

9. सुखं रथं युयुजे सिन्धुराश्वनं तेज वाजं सनिषदस्मिान्नाजौ
महान् हास्य महिमा पनस्यते अदेब्धस्य स्वयशसो विरप्शनः

सुसज्जित घोड़ों वाले रथ पर विराजमान सिंधु देवता, आप हमें अनाज प्रदान करें। युद्ध और यज्ञों के समय हम पर उपकार करने वाली सिंधु! हम आपकी स्तुति करते हैं।

इससे विदित होता है कि वैदिक कालीन सिंधु लोग धनधान्य से, सुन्दर वस्त्रों, मधु शहद से भरपूर थे, बड़े–बड़े यज्ञ करते थे और सुसज्जित घोड़ों वाले रथों पर सवारी करते थे।

वेदों के अलावा विभिन्न पुराणों में भी सिंध का ज़िक्र मिलता है। ''रामायण'' और ''महाभारत'' में तो सिंधु का वर्णन कई जगहों पर आता है। वैदिक जमाने में सिंध पर उशनेर वंशियों का राज था। उसी उशनेर वंश के राजा शिबी के नाम से ''सिबी'' नाम का नगर आज तक सिंध में मौजूद है। राजा शिबी ने अपना राज्य बाद में कैकेय प्रदेश तक फैलाया और रामायण काल में इस कैकेय प्रदेश पर अश्वपति नामक राजा का राज्य था, जिसकी पुत्री कैकयी राजा दशरथ से ब्याही हुई थी। उसी कैकेई का भाई युधाजीत उन दिनों सिंध पर राज्य कर रहा था। रामायण में यह भी प्रसंग आता है कि राजा रामचंद्र के राजगद्दी पर बैठने के उपरान्त इसी युधाजीत के यहां से, जो रिश्ते में राम के भाई भरत के मामा लगते थे, रामचंद्र जी को संदेश मिला था कि गांधार देश के लोग उन पर आक्रमण करने वाले हैं और सहायता का हाथ बढ़ाया जाय। तब रामचंद्र जी ने भरत जी के नेतृत्व में, उनके दो पुत्रों–पुष्कर और तक्ष के साथ सेना सिंध भेजी थी, जिन्होंने जाकर गंधर्वों को वापिस भगाया।

वेदों के अलावा विभिन्न पुराणों में भी सिंध का ज़िक्र मिलता है। ''रामायण'' और ''महाभारत'' में तो सिंधु का वर्णन कई जगहों पर आता है। वैदिक जमाने में सिंध पर उशनेर वंशियों का राज था। उसी उशनेर वंश के राजा शिबी के नाम से ''सिबी'' नाम का नगर आज तक सिंध में मौजूद है। राजा शिबी ने अपना राज्य बाद में कैकेय प्रदेश तक फैलाया और रामायण काल में इस कैकेय प्रदेश पर अश्वपति नामक राजा का राज्य था, जिसकी पुत्री कैकयी राजा दशरथ से ब्याही हुई थी। उसी कैकेयी का भाई युधाजीत उन दिनों सिंध पर राज्य कर रहा था।

महाभारत काल में एक माता–रानी विदुला का वृतान्त हमें मिलता है, जिसके द्वारा अपने पुत्र संजय को राष्ट्रप्रेम और देश की स्वतंत्रता से संबंधित पढ़ाया हुआ पाठ माता कुन्ती के लिए प्रेरणा स्रोत बना, जो उसने अपने पांचों पुत्रों–पांच पाण्डवों को उदाहरण स्वरूप बताया, जिसके फलस्वरूप उन्हें अपना खोया हुआ राज्य, अपनी खोयी हुई स्वतंत्रता वापिस प्राप्त करने के लिए महाभारत की लड़ाई लड़ने की प्रेरणा मिली। महाभारत में ही, एक खलनायक के रूप में ही सही, सिंध के राजा जयद्रथ का भी वर्णन आता है जो इतना वीर और पराक्रमी था, कि अर्जुन जैसा योद्धा भी उसे पराजित नहीं कर पा रहा था, और आखिरकार कूटिनीतिज्ञ श्री कृष्ण को मायावी ढंग से सूर्य अस्त होने का भ्रम पैदा करने पर, जिससे जयद्रथ अपने हथियार डाल दे, और फिर सूर्य को बादलों से निकालकर, अर्जुन को तीर चलाने का इशारा करके, धोखाधड़ी से जयद्रथ का वध कराना पड़ा।

मोहन जो दड़ो वाली सिंध

वेदों, पुराणों, रामायण, महाभारत और अन्य हिन्दू धार्मिक और ऐतिहासिक ग्रंथों में तो सिंधु संस्कृति की झांकियां मिलती ही हैं। पर, सिंधु संस्कृति का साफ और सही, भव्य और विशाल स्वरूप संसार के सम्मुख तब प्रकट हुआ, जब 1921 में भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण की ओर से एक उत्खनन–कर्मी, राखलदास बैनर्जी ने सिंध के लाड़काणा ज़िला में, डोकरी कस्बा के पास मोहन जो दड़ो की खुदाई करवाई, जिससे सदियों भूमि तले छिपी हुई एक शानदार संस्कृति जग के सामने आई, जिसे देखकर बड़े–बड़े विद्वान कह उठेः "A marvellous Culture, surpassing in many respects the splendour of Eqypt and Mesopotamia. इस, एक खोज ने भारतीय उपखंड के इतिहास को कई हज़ारों वर्षों की गहराई दे दी।

मोहन जो दड़ो वाली संस्कृति, जिसे साधारणतः सिंधु घाटी वाली संस्कृति के नाम से जाना जाता है, वह ईसा से कोई 2750 या 3250 वर्ष पहले अपनी पराकाष्ठा पर पहुंची हुई थी। हड़प्पा (पंजाब) से लेकर लोथल (गुजरात) और ढोलावीरा (कच्छ) तक फैली इस संस्कृति ने बड़े–बड़े पुरातत्ववेत्ताओं और शास्त्रावेताओं की आंखें चकित कर दीं। जाहिर है कि इतने बड़े भूखण्ड में फैली हुई यह संस्कृति रातोंरात तो विकसित नहीं हुई होगी। उसकी भव्यता और ओजस्वता को देखकर कोई भी अंदाज़ा लगा सकता है कि उसको विकसित होने में कई हज़ार वर्ष लगे होंगे। 1974 में फ्रांस के पुरातत्ववेत्ताओं के एक दल ने सिंधु संस्कृति के पश्चिमी छोर–अफगानिस्तान के मेहरगढ़ में उत्खनन करके जो निशान पाए हैं, उनका इन वैज्ञानिकों ने रेडियो कार्बन विधि से विश्लेषण करके यह नतीजा निकाला है कि यह संस्कृति ईसा से कोई नौ हज़ार वर्ष पहले विकसित हुई होगी।

मोहन जो दड़ो से कपड़ा, खाद्दान, बैल, गाड़ियों के चक्र और अन्य उपादान जैसे पैरों में पहनने के सुंदर जूते इत्यादि मिले हैं। इसका मतलब यह हुआ कि आज से दस–ग्यारह या कम से कम पांच–छः हज़ार वर्ष पहले सिंधु घाटी के लोग खेतीबाड़ी करना, अन्न और कपास उगाना जानते थे, उन्होंने कपास से सूत बनाने और हथकरघों के जरिए कपड़ा बुनने का हुनर भी सीख लिया था। वे नाजुक और नफीस मलमल का कपड़ा (Sindon) बुनते थे, जिसे मिस्र, सुमेर, रोम की रानियां और अमीरजादियां बहुत पसंद करती थीं। यानी कि ऐसे समय, जब विश्व के कई भागों में लोग पहाड़ी कन्दराओं में रहते थे और नंगे फिरते थे, उस समय सिंधु घाटी के लोगों ने इतने बड़े क्रांतिकारी आविष्कार कर दिए थे।

सिंधु संस्कृति की सबसे बड़ी आश्चर्यकारी तरक्की तो यह थी कि मोहन जो दड़ो में सुनियोजित ढंग से बने मकान पाए गए हैं। वे मकान पक्की ईंटों से बने हुए और रौशनीदार और हवादार थे। शहर में गंदे पानी के निकास के लिए ज़मीन के अंदर छिपी नालियां और मोरियां व गट्टर भी मिले हैं और सफाई के लिए आजकल प्रचलित 'Manhole जैसा सिस्टम भी पाया गया है। प्रसिद्ध नगर नियोजक प्रोफेसर प्रेलस फोर्ड का कहना है कि यूरोप में इतना सुनियोजित सफाई का प्रबंध उन्नीसवीं सदी तक उपलब्ध नहीं था। सिंध के सुमेर और बैबीलान से व्यापारिक संबंध थे। सुमेर में उत्खनन द्वारा मोहन जो दड़ो वाली मोहरें और मुद्राएं मिलीं हैं। मेसोपोटामिया के लोगों ने सिंध के लोगों से गणित, ज्योतिष, और लिखने व पढ़ने की विद्याएं सीखीं। गणित यकीनन सिंध से ही मेसोपोटामिया में पहुंची, जो आजकल ईराक कहलाता है, और वहां अरबों ने यह

विद्या अपनाई, जिसका प्रमाण यह है कि अरबी भाषा में अंकों को आज भी हिन्दसा कहते हैं, जो मौलिक तरह से सिंधसा है।

उस जमाने में मिस्र देश में लाखों लोग गुलामों की ज़िंदगी जी रहे थे। वे पिरामिड बनाने के लिए ढाई–ढाई टन वज़न के पत्थर सिर पर ढोकर ऊंचे स्थलों तक पहुंचाते थे या देवी–देवताओं के मंदिरों के निर्माण के लिए रोटी के बदले सारा दिन काम करके गुलामों वाली जिन्दगी व्यतीत करते थे। रहने के लिए उन्हें पहाड़ों में छोटी–छोटी कंदराएं या मिट्टी से बने झोंपड़े दिए जाते थे। ऐसे वक्त पर भी सिंधु घाटी के लोग अपने पक्के और हवादार घरों में रहते थे। किसी बादशाह की गुलामी करने के बजाय धंधा–व्यापार करके, बिना किसी वर्गीय या वारणिक भेदभाव के, जनतंत्र वाले सिरश्ते पर आधारित ज़िंदगी व्यतीत करते थे।

मोहन जो दड़ो से व्यक्तिगत साफ–सफाई के लिए बड़े–बडे सार्वजनिक स्नानघर तो मिले हैं, पर कोई मंदिर या पूजास्थल नहीं मिला। यानी लोग अपने मन, तन और शहर की शुद्धि और साफ–सफाई से ही संतुष्ट थे।

मोहन जो दड़ो से स्त्रियों और पुरुषों के साज सज्जा का सामान, अच्छे–अच्छे वस्त्र और आभूषण भी प्राप्त हुए हैं। सोने ताम्बे और धातुओं के आभूषण तो इतने मनमोहक, कलामय और चमकीले हैं कि किसी को भी गुमान नहीं होगा कि वे पांच–छः हजार वर्ष पुराने हैं।

लोग प्यार मुहब्बत से रहते थे, धंधा व्यापार करते थे और लड़ाई–झगड़ों से दूर थे। यह बात इससे सिद्ध होती है कि मोहन जो दड़ो से और तो दुनियाभर की चीजें मिलीं हैं, पर वहां से कोई भी हथियार नहीं मिला है। वैसे वे अगर चाहते तो जहां उन्होंने खेती के लिए हल, परिवहन के लिए बैलगाड़ियां, सवारी के लिए रथ इत्यादि बनाए, तो वे अवश्य ही हथियार भी बना सकते थे, पर शायद ऐसी ज़रुरत ही उन्हें नहीं हुई। मोहन जो दड़ो वाले लोगों ने हथियार भले ही न बनाए हों, पर उन्होंने अपने बच्चों के मनोरंजन और लाड़–दुलार के लिए खिलौने ज़रुर बनाए। उत्खनन के फलस्वरूप प्राप्त झुनझुने और सीटियां आज भी बजते हैं, डोर खींचने से चलने वाले हाथी और डोर खींचने से पेड़ से उतरते हुए बंदरों के खिलौने यह महसूस कराते हैं कि वे लोग अपने बच्चों को कितना प्यार करते थे।

मोहन जोदड़ो की सबसे महान और महत्वपूर्ण उपलब्धि है, वहां की लिपि जिसे Indus Valley Script के नाम से, या सिंधु घाटी की लिपि के नाम से जाना जाता है। वहां मिट्टी से बनाए पक्के मटकों, बरतनों, मोहरों और मुद्राओं पर कई लिखावटें और आलेख मिले हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि उस ज़माने के लोग अच्छी तरह से लिखना–पढ़ना जानते थे। यह लिखावट विश्व की प्राचीनतम लिखावट मानी जाती है और भारत व यूरोप के कई पुरातत्ववेत्ता और लिपिविद मोहन जो दड़ो की उस रहस्यमयी लिखावट को समझने के लिए कई दशकों से प्रयत्नरत हैं।

सिंधु घाटी के ये लोग केवल मेहनत मज़दूरी करना या धंधा व्यापार करना ही नहीं जानते थे, अपने स्वभाव से वे बड़े ही कलाप्रेमी और सौंदर्य व विधाओं के आश्रयदाता व संरक्षक भी थे। मोहन जो दड़ो से मिली नर्तकी की प्रतिमा यह बताती है कि उस ज़माने में लोग नृत्य और संगीत को प्रोत्साहन देते थे। उस नर्तकी के बात बड़े ही सलीके से बने हुए हैं, गले में कीमती पत्थरों का हार है, एक हाथ कमर पर रखकर बड़ी आकर्षक मुद्रा में खड़ी है। वहां से उस ज़माने के एक वृद्ध भद्र–पुरुष की प्रतिमा भी मिली है, जो एक बहुत ही प्यारा सा शालनुमा वस्त्र ओढ़े हुए हैं, जिस पर सुन्दर फूल–पत्ते छपे हुए हैं। यानी कि उन दिनों कपड़े पर छपाई का हुनर भी मौजूद था।

ऋग्वेद में एक कथा आती है कि सिंध के राजा स्वान्य ने अपनी दस पुत्रियों का विवाह एक प्रतिभाशाली कवि और महान ऋषि काकश्वत् से किया था और उसे दहेज में एक सौ निषक (सोने के सिक्के), एक सौ घोड़े, एक सौ बैल, एक हजार साठ गायें, ग्यारह रथ, जिनमें एक–एक रथ में चार सैंधव घोड़े, मोतियों और जवाहरों से सजे हुए जुड़े दिए। सिंध के राजा स्वान्य का ऐसा यशोगान ऋग्वेद के प्रथम मंडल में वर्णित है।

उपर्युक्त तथ्यों से समझा जा सकता है कि सिंधु घाटी की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि कितनी प्राचीन, कितनी शान्ति व संपन्नता भरी और कितनी शालीनतामय रही है।

हीरो ठाकुर
सी–27, सुभावना निकेतन
पीतमपुरा,
दिल्ली–110034

डॉ. नारायण व्यास

भीमबैठका के शैलचित्र तथा पुरातत्त्वीय उत्खनन

भारत की नदी घाटी सभ्यताओं में नर्मदा–घाटी सभ्यता का अपना विशिष्ट स्थान है। वस्तुतः नर्मदा घाटी शब्द एक विस्तृत भू–भाग का परिचायक है जिसे भौगोलिक रूप से कई पर्वत श्रृंखलाएं जैसे विन्ध्य, सतपुड़ा, मेकाल इत्यादि विभाजित करती हैं। उल्लेखनीय है कि यही भू–भाग है जहां आदि–मानव की सभ्यता से लेकर ताम्र–पाषाण युगीन सभ्यताओं के साथ–साथ ऐतिहासिक युग का इतिहास भी दृष्टिगोचर होता है।

किन्तु इसके अतिरिक्त यह भू–भाग विश्व के इतिहास में अपने प्राचीनतम शैल–चित्रों के लिए विख्यात है। वस्तुतः यह सम्पूर्ण क्षेत्र विन्ध्य व सतपुड़ा पहाड़ी की उपत्यकाओं में आदि मानव द्वारा चित्रित शैल चित्रों के रूप में चिन्हित, आदमगढ़ (होशंगाबाद), भीमबैठका (रायसेन), पान भूराड़िया आदि के लिए जाना जाता है। उपरोक्त वर्णित स्थानों में भीमबैठका का अपना विशिष्ट स्थान है। स्व. डॉ. विष्णु श्रीधर वाकणकर द्वारा खोजे गए भीमबैठका के शैलचित्र समूहों को यूनेस्को द्वारा विश्व धरोहर स्थल के रूप में सम्मिलित किया गया है। फलस्वरूप राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय विद्वानों ने इस विषय पर महत्त्वपूर्ण शोधकार्य सम्पादित किए हैं।

इसके अतिरिक्त उत्खननों के माध्यम से भी इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य हुए हैं। स्व. वाकणकर द्वारा सम्पादित उत्खनन के पश्चात् भी पुरातत्वविदों ने इस दिशा में अपना प्रयास जारी रखा और अब तक विभिन्न संस्थानों द्वारा संपन्न लगभग आधा दर्जन उत्खननों से अत्यन्त रोचक एवं नवीनतम जानकारी उपलब्ध हुई है। प्रस्तुत शोध–पत्र के माध्यम से शैलचित्रों एवं उत्खननों से उपलब्ध कतिपय महत्वपूर्ण जानकारी प्रस्तुत करना ही मुख्य उद्देश्य है।

मध्य प्रदेश में, विशेष रूप से रायसेन जिले का यह सौभाग्य है, कि विश्व का सबसे बड़ा शैलचित्रों का भण्डार इस जिले में स्थित है। भीमबैठका (22^0 55.408 उ. 77^0 35′ 00. 00 पू.) भोपाल से लगभग 55 किलोमीटर दक्षिण में

आबेदुल्लागंज तथा बरखेड़ा रेलवे स्टेशन के मध्य भीयांपुर ग्राम के निकट स्थित है।

भीमबैठका के चित्रित शैलाश्रयों की खोज का श्रेय पद्मश्री स्व. डॉ. विष्णु श्रीधर वाकणकर को जाता है। उन्होंने इस स्थल की खोज वर्ष 1957–58 में की थी। वर्ष 1972 के पश्चात् डॉ. वाकणकर ने यह विचार किया कि जब यह स्थल इतने विशाल क्षेत्र में फैला हुआ है तो यहां से प्रागैतिहासिक मानव के अवशेष भी अवश्य मिलने चाहिए। डॉ. वाकणकर द्वारा किए गए यहां प्रारंभिक उत्खनन की सर्वप्रथम रिपोर्ट भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण, नई दिल्ली की वार्षिक रिपोर्ट इण्डियन आर्क्योलॉजी–ए–रिव्यू 1971–72 (पृष्ठ 30–31) में प्रकाशित हुई। वर्तमान में इसे भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण द्वारा राष्ट्रीय महत्व का स्थल सुरक्षित घोषित किया गया है। जुलाई, 2003 में यूनेस्को द्वारा इस स्थल को विश्व धरोहर श्रेणी में लिया गया है। इस क्षेत्र के शैलचित्र 1850 हैक्टेयर में पांच समूहों में विभक्त किए गए हैं।

भीमबैठका व आसपास के बारे में ऐसी धारणा है कि यह स्थल महाभारत युग से संबंधित रहा होगा। सर्वप्रथम तो भीमबैठका का नाम से ही ऐसा लगता है कि ये सभी विशाल चट्टानें भीम की बैठक रही होंगी। भीमबैठका क्षेत्र के निकट रेलवे लाईन पार करते ही भीयांपुरा ग्राम पड़ता है जो संभवतः भीमापुरा या भीमपुर का ही अपभ्रंश है। भीयांपुरा के निकट पण्डापुर नामक उजाड़ ग्राम है जो कभी बसा होगा। पंचवटी के निकट बाणगंगा व गुप्त गंगा है। धार्मिक उद्धरणों से ज्ञात होता है कि भीष्म जब बाण–शैय्या पर थे तब अर्जुन ने जमीन पर बाण मार कर गंगा को अवतरित किया था। उसी के आधार पर इसे बाणगंगा व गुप्तगंगा कहा जाता है। इसी स्थल पर परमारकालीन मंदिर के पुरावशेष भी देखे जा सकते हैं। भीमबैठका क्षेत्र के निकट एक अन्य शैलचित्र स्थल है जो ''लाखा ज्वार'' नाम से विख्यात है। ऐसी किंवदन्ति है कि पाण्डव यहां के विशाल शैलाश्रयों में प्रस्तर खण्डों में मकान बनाकर रहते थे जिनमें कहीं–कहीं प्रवेश द्वार भी देखे जा सकते हैं। छोटी–छोटी पहाड़ियों को जोड़कर बांध बनाए गए थे जिनके भग्नावशेष वर्तमान में भी देखे जा सकते हैं। इसके साथ ही अब भी ऐसे कई भग्नावशेष हैं जो यह प्रदर्शित करते हैं कि प्राचीन समय में यहां बहुत बड़ी बस्ती रही होगी, जिसकी लोग महाभारत युग से तुलना करते हैं।

भीमबैठका में आदि मानव का निवास पूर्व पाषाणकाल अर्थात् आज से लगभग छः से आठ लाख पूर्व में जाना गया है, परन्तु शैलचित्रों का प्रारंभ उत्तर पाषाण काल या मध्याश्म काल

(लगभग दस हजार वर्ष पूर्व) से माना गया है जिनका क्रम लगातार मध्य युग तक चलता है। भीमबैठका क्षेत्र में पांच सौ से अधिक शैलाश्रय हैं जिनमें शैलचित्र हैं। इनके बनाने में लाल, सफेद तथा हरे रंग का प्रयोग किया गया है। लाल रंग के चित्र लाल गेरू तथा हेमेटाईट पत्थर से बनाये गये थे जिनके कुछ टुकड़े पुरातात्विक उत्खनन से भी प्राप्त हुए हैं। हरे रंग के चित्र बहुत ही कम मात्रा में मिलते हैं। चित्रों को बनाने में अवश्य किसी न किसी रूप में बालों या बांस के ब्रश का प्रयोग किया गया होगा। डॉ. वाकणकर का कथन है कि शैलचित्रों में स्त्री चित्रण बहुत ही कम है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि इनके बनाने वालों में स्त्रियां ही होती होंगी। आज भी यह परम्परा गांवों में प्रचलित है। शैलचित्रों में तत्कालीन राजनैतिक, आर्थिक एवं सामाजिक जीवन की विशेष रूप से जानकारी होती है। खान–पान, रहन–सहन, पहनावा, पशुपालन तथा आखेट विषयक जानकारी वास्तव में अत्यंत ही महत्वपूर्ण हैं। प्रारंभिक चित्रों में घोड़े के चित्र नहीं मिलते हैं। बाद के चित्रों के प्रदर्शित युद्ध दृश्य में घुड़सवार दिखाये गये हैं जिनके ऊपर बैठे सवारों की वेशभूषा कुषाण काल व गुप्तकालीन प्रतीत होती है।

शैलचित्रों के विषयों का वर्गीकरण

भीमबैठका के शैलचित्रों को कई भागों में वर्गीकृत किया गय है जो निम्नानुसार है :–

1. आखेट दृश्य

भीमबैठका में आखेट (शिकार) के दृश्य चित्रकारों का अत्यंत प्रिय विषय है। लाखा ज्वार समूह में इस प्रकार के सबसे अधिक चित्र देखे जा सकते हैं। यहां शिकारियों को गाय, भैंस, वृषभ, मोर, गैंडा, आदि जानवरों का शिकार करते प्रदर्शित किया

भीमबैठका के शैलचित्र

शैलचित्र

गया है। यहां मध्याश्म युग का सबसे प्रसिद्ध चित्र मोर के शिकार का है जिसमें एक शिकारी वृक्ष पर बैठे मोर को धनुष बाण से निशाना बना रहा है। इसी काल के अन्य चित्र में धनुष बाण लिए तथा सींगोंवाला मुकुट पहने एक शिकारी पशु का शिकार कर रहा है। शैलाश्रय 3 ए के एक चित्र में शिकारियों द्वारा एक भैंसे को मारने के लिए उसे चारों ओर से घेर रखा है। इसी शैलाश्रय के निकट ही एक अन्य चित्र में धनुर्धर जानवर को मार रहा है तथा शिकारी कुत्ते पीछे से जानवर को खदेड़ रहे हैं। विभिन्नता लिए हुए सैंकड़ों आखेट दृश्य यहां देखे जा सकते हैं।

2. युद्ध दृश्य

युद्ध के दृश्य ऐतिहासिक हैं, जिनमें हाथियों व घोड़ों पर सवार होकर योद्धागण युद्ध कर रहे हैं। इनके साथ ही पैदल सेना भी देखी जा सकती है। दो समूहों में एक–दूसरे के सामने खड़े होकर युद्ध कर रही आकृतियां बड़ी ही आकर्षक ढंग से लुभावनी चित्रित की गई हैं। शैलाश्रय क्रमांक–2 बी–32 में हाथियों पर सवार योद्धाओं का आपस में युद्ध का दृश्य बहुत ही आकर्षक है। एक समूह में हाथी की पीठ पर महावत है तथा योद्धा के हाथों में भाला, धनुष, तलवार, ढाल इत्यादि हैं। घुड़सवार हाथों में ढाल लिए हैं तथा आगे नुकीले कांटे लगे हैं। जू–शैलाश्रय में भी कुषाणकालीन शैली में लाल रंग के घुड़सवार चित्रित हैं जिनको घुटने तक जूते पहले तथा हाथों में ढाल व तलवार लिए दिखाया गया है। इसी शैलाश्रय में अश्वमेध युद्ध का एक गुप्तकालीन चित्र है जिसमें य़ज्ञ के अश्व को जाते हुए प्रदर्शित किया गया है। उसके पीछे एक राजा की सेना है तथा सामने की ओर मुकाबले के लिए तैयार एक अन्य सेना है। इस प्रकार के अनेक चित्र भी कई जगह देखे जा सकते हैं।

3. पशु–पक्षी तथा जलचर

भीमबैठका के शैलाश्रय में पशु–पक्षियों का चित्रण बहुत ही सुन्दर ढंग से किया गया है। इनमें सिंह, घोड़ा, हिरण, बारहसिंहा, गाय, वानर, जंगली सुअर, भैंसा, इत्यादि जानवरों का चित्रण मध्याश्म युग से मध्यकाल तक लगातार क्रम से देखा जा सकता है। भीमबैठका में द्वितीय समूह की बोर रॉक (सुअर वाली चट्टान) में विशाल वराह का लगभग 1 मीटर लम्बा लाल रंग का चित्र है जो तत्कालीन कला का बहुत ही सुन्दर नमूना है।

4. व्यक्ति चित्र

भीमबैठका के चित्रों की खोज में डॉ. वाकणकर के अतिरिक्त कई विद्वानों का भी सहयोग रहा है, उनमें से एक अमेरिका के आर.आर. ब्रुक्स हैं जिन्होंने द्वितीय समूह में एक स्त्री के चित्र की खोज की थी जिसका समय मध्याश्म युग निश्चित किया गया है। इस चित्र के सामने एक व्यक्ति और भी खड़ा है जिसके मस्तक पर उस स्त्री का हाथ है। जू–रॉक के एक अन्य चित्र में एक व्यक्ति मधुमक्खी का छत्ता तोड़ रहा है। सभागृह शैलाश्रय के निकट एक शैलाश्रय (3–एफ–14) में एक बैठा व्यक्ति किसी पात्र या तूम्बे से पानी पी रहा है। पेट में जाती हुई पानी की बूंदें भी दिखाई गई हैं। प्राचीन समय में इस प्रकार की कल्पना करना कलाकार की कल्पना का अनूठा चित्रण है।

5. नृत्य

भीमबैठका के विभिन्न समूहों तथा लाखा ज्वार क्षेत्र में कई नृत्य के दृश्य मिलते हैं। प्रमुख रूप से, सामूहिक रूप से अथवा एक–दूसरे का हाथ पकड़े एवं पशु के आस–पास कभी नृत्य करते दिखाई देते हैं। समूह 3/ई/19 में सफेद रंग के चित्रित सामूहिक नृत्य का उत्तम दृश्य है, जिसमें मानवाकृतियां एक–दूसरे का हाथ पकड़े हैं। इसी प्रकार 2–बी, 2–एफ, 3–तथा चतुर्थ एवं पांचवें समूह में भी सफेद तथा लाल रंग से चित्रित कई नृत्य चित्र हैं। इनका समय मध्याश्म से मध्यकाल निर्धारित किया गया है।

6. आलेखन

कई शैलाश्रयों में विभिन्न प्रकार के आलेखन देखने को मिलते हैं। प्रमुख रूप से ज्यामितीय शैली में आलेखन कलाकार की सूझ–बूझ का प्रतीक है। शैलाश्रय क्रमांक 73 एफ 13 की छत में मध्याश्म काल का लाल रंग से चित्रित आलेखन है जिसके निशान शेष हैं। यहां पर कई जानवरों के शरीर पर ज्यामितिक शैली के आलेखन भी हैं जिनमें ''हनिकॉम्ब आलेखन'' वर्णनीय है। वराह शैलाश्रम में वराह का शरीर पूर्ण रूप से आलेखित किया गया है। गाय के शिकार वाले दृश्य (लाखा ज्वार का एक चित्र में) लाइनों की गतिशीलता देखी जा सकती है।

7. धार्मिक चित्रण

धार्मिक प्रकार के चित्रों का सबसे सुन्दर उदाहरण सभागृह शैलाश्रय में है, जिसमें ताम्राश्मयुगीन जानवरों के चित्र हैं। कुछ बैलों के पैरों को टोकरी में फंसा प्रदर्शित किया गया है, इसी चित्र के पास हाथ के छाप के निशान हैं। हाथ की छापों के निशान यहां दो प्रकार के हैं। एक हाथों में रंग लगाकर शैलाश्रय की दीवार पर छापा गया है। द्वितीय प्रकार के चित्रण में हाथ कि पंजे की बाहरी रेखा है। सभागृह में एक स्थान पर बिखरे बाल व नृत्य करते मानव हैं जिनके हाथ ऊपर की ओर उठे हुए हैं। इनके ऊपरी भाग में जानवर चित्रित हैं, संभवतः ऐसा किसी विशेष उद्देश्य से किया गया है। सामूहिक नृत्य कई जगह देखने को मिलते हैं। विनेका ग्राम के निकट द्वितीय समूह के एक शैलाश्रय में मौर्यकालीन शैली में लाल रंग से चित्रित यक्ष का चित्र है, जिसके नीचे पूजा के निशान व अलंकरण हैं। कुछ चिन्ह ऐसे भी हैं जो मौर्यकालीन या शुंगकालीन ढले सिक्कों पर पाये जाते हैं, जैसे त्रिकूट पर्वत। बाबाजी की विशाल गुफा के पीछे विशाल शैलाश्रय में विभिन्न प्रकार के चिन्ह हैं जो पूजा से ही संबंधित हैं। इनके अतिरिक्त मृतक संस्कार, गणेश के चित्र, चार भुजाओं वाले शिव, तत्कालीन धार्मिक जीवन की ओर इंगित करते हैं।

8. अभिलेख

यहां पर दो प्रकार के अभिलेख पाये गये हैं (अ) उत्कीर्ण लेख (ब) चित्रित लेख

अ) उत्कीर्ण लेख

उत्कीर्ण लेख अब तक केवल दो ही मिले हैं जो बाबाजी (दुर्गा मन्दिर) की हाथी गुफा (वर्तमान मन्दिर) के ऊपरी शैलाश्रय में हैं। इसमें तराशा हुआ एक चबूतरा बना है। शैलाश्रय की दीवार पर शुंगकालीन ब्राह्मी में ''सिंहकसलेणे'' संस्कृत में ''सिंकस्यलेणे'' उत्कीर्ण हैं, जिसका अर्थ सिंह की गुफा है तथा अन्य लेख स्पष्ट नहीं है।

शैलचित्र

ब) चित्रित लेख

लाल व सफेद रंग के गुप्तकालीन ब्राह्मी व शंखलिपि के लेख यहां मिलते हैं। जू–रॉक में लाल रंग के लेख से गुप्तकालीन चित्रों का कालक्रम दिया गया है। इसके अतिरिक्त शंखलिपि के लेख यहां सर्वत्र पाये जाते हैं। इन लेखों को अब तक पढ़ा नहीं गया है। शंखलिपि के लेख की यह विशेषता होती है कि यह शंख के आकार के होते हैं। भीमबैठका की पिशाच गुफा में एक जगह ही लगभग 20 लेख हैं जो लाल रंग से चित्रित हैं।

उपरोक्त चित्रों के अतिरिक्त शैलाश्रय में पशु पकड़ना, कौटुम्बिक जीवन के चित्र, वृक्ष, भार वाहन, शोक संवेदना इत्यादि से संबंधित चित्र भी देखने को मिलते हैं।

शैलचित्रों का समय एवं काल निर्धारण

विभिन्न विद्वानों द्वारा किए गए अध्ययन के आधार पर इन्हें निम्न भागों में विभक्त किया गया है :–

(1) उत्तर पुरापाषाण युग

शैलाश्रयों के पुरातात्विक उत्खनन से हरा व लाल रंग प्राप्त होना तथा चित्रित शुतुरमुर्ग के अंडों के कारण इसे उत्तर पुराश्मकालीन माना गया है। भीमबैठका की बोर रॉक के निकट हरे रंग के चित्र मिले हैं।

(2) मध्याश्म युग

इस युग के चित्र ताम्राश्मकालीन चित्रों के नीचे देखे गए हैं, तथा उत्खनन में अस्थि चित्रण भी मिलता है। इस युग के चित्रों में आखेट, व्यक्ति चित्र व जानवर प्रमुख हैं। अश्मोपकरण के चित्र धनुर्धारियों के चित्रों में बने चित्र से साम्यता रखते हैं।

(3) ताम्राश्म व नूतन पाषाण युग

विभिन्न ताम्राश्मयुगीन स्थलों पर किए गए उत्खनन से प्राप्त मृद्भाण्डो पर बने चित्रों की तुलना शैलचित्रों से की गई है। दंगवाड़ा, कायथा, विदिशा इत्यादि स्थलों से प्राप्त मृदभाण्ड तुलनात्मक अध्ययन में सहायक रहे हैं।

(4) ऐतिहासिक

अ) मौर्यकालीन अथवा शुंग–सातवाहन कालीन लिपि तथा चिन्ह काल निर्धारण के मुख्य आधार हैं।

व) कुषाण वेशभूषा, हथियार, जानवर की आकृतियां चित्रों में देखने को मिलती हैं।

स) भीमबैठका में तृतीय समूह में अश्वमेध शैली (जू–रॉक) चित्रों से गुप्तकाल निश्चित किया गया है क्योंकि गुप्तकालीन लिपि के साथ ही यह चित्र है।

(5) मध्यकालीन युग

"सुपर इम्पोजिशन" में इस काल के चित्र सबसे ऊपर मिलते हैं। इस युग के चित्रों की बनावट में ज्यामितिक शैली का प्रचुरता से प्रयोग किया गया है। व्यक्ति का चित्र या जानवर का चित्र बनाना हो तो शरीर त्रिकोणाकृतियों में बना दर्शित होगा।

शैलचित्रों का सुपर इम्पोजिशन

विभिन्न शैलाश्रयों में चित्रों का सुपर इम्पोजिशन (एक के ऊपर एक चित्र बने होना) होने से काल का निर्धारण किया गया है। मुख्य आधार ताम्राश्मकालीन चित्रों का लिखा गया है जिनका समय पुरातात्विक उत्खननों से प्राप्त मृद्भाण्डों व उनकी चित्रकला के आधार पर किया गया है। ताम्राश्मकालीन चित्रों के नीचे मध्याश्म काल के चित्र मिलते हैं तथा ऊपर ऐतिहासिक व मध्यकालीन चित्र मिलते हैं जिनका समय, शैली व बनावट, लिपि के आधार पर निर्धारित किया गया है।

भीमबैठका में पुरातात्विक उत्खनन

सम्पूर्ण भारत में अब तक हुए प्रागैतिहासिक शैलाश्रयों के उत्खननों में भीमबैठका का ही एक ऐसा स्थान है जहां से विभिन्न युगों से संबंधित मिट्टी की परतें (सांस्कृतिक स्तर) प्राप्त हुई हैं। जनवरी, 1972 में स्व. एच. डी. सांकलिया उत्खनन कार्य के समय भीमबैठका आये थे, तथा उन्होंने बताया था कि भीमबैठका ही एक ऐसा स्थान है, जहां पर पूर्व पाषाण काल से चौदहवीं–पन्द्रहवीं शताब्दी तक के पुरावशेष क्रमिक रूप से उत्खनन में प्राप्त होते हैं।

अ) प्रथम चरण–

भीमबैठका में समय–समय पर प्रथम चरण में विभिन्न संस्थाओं द्वारा उत्खनन किए गए :

1) डॉ. वाकणकर, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन (1972 से 1975) ने 10 शैलाश्रयों की सोलह निखातों (ट्रेंच) में उत्खनन कार्य किया।

विभिन्न युगों की शैल चित्रकला
! डॉ. वाकणकर के आधार पर !

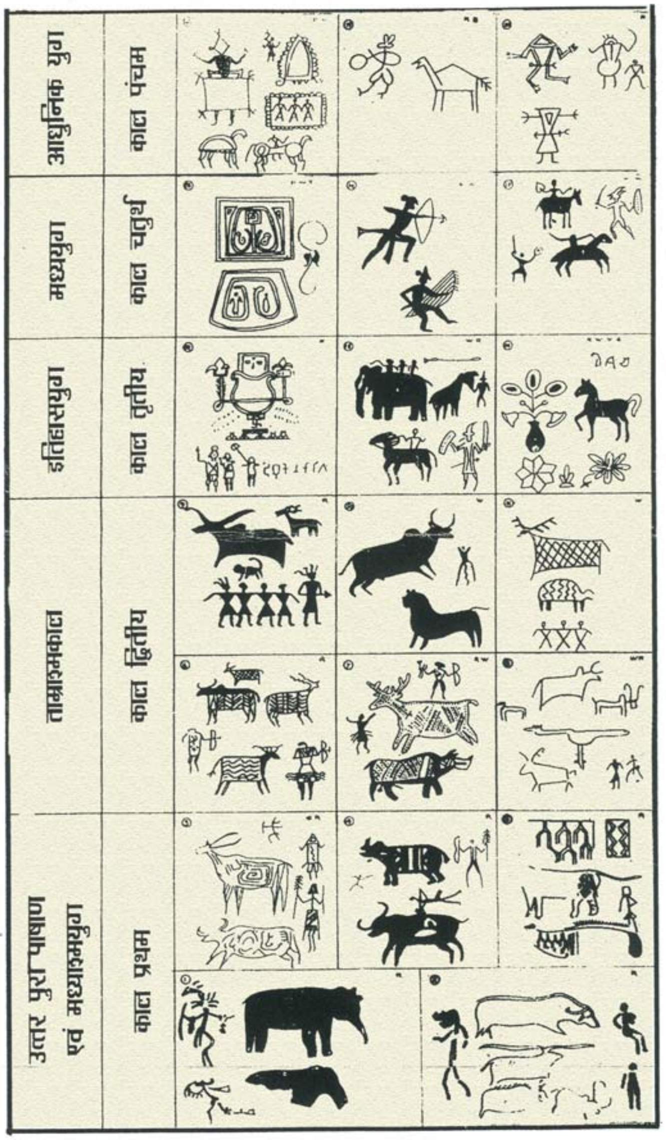

2) प्रो. के.डी. वाजपेयी, डॉ. एस.के. पाण्डे, सागर विश्वविद्यालय, सागर (1971) ने दो शैलाश्रयों में उत्खनन किया।

3) प्रो. वी.एन. मिश्र, डेक्कन कॉलेज, पूना ने 1973 में तीन शैलाश्रयों में उत्खनन कार्य किया।

भीमबैठका के विभिन्न समूहों में समूह क्रमांक –दो एवं तीन प्रमुख हैं जिनमें डॉ. वाकणकर ने उत्खनन कार्य करवाया था। कार्य करने का मुख्य उद्देश्य यह था कि जिस क्षेत्र में सैंकड़ों चित्रित शैलाश्रय मिलते हैं वहां निश्चित ही आदि मानव का पाषाण युग में निवास होना चाहिए। सर्वेक्षण के अन्तर्गत अश्मोपकरण व अन्य अवशेष ऊपरी सतह पर तो मिलते ही हैं, परन्तु उत्खनन में पुरावशेषों का मिलना ही महत्वपूर्ण माना जाता है। डॉ. वाकणकर ने सभागृह में (3–एफ/24) दो निखात (ट्रेंच) लगवाकर उत्खनन कार्य प्रारम्भ करवाया। भीमबैठका में मौर्य कालीन स्तरों में ताम्र आहत् मुद्रा (पंच मार्क सिक्का) मिलना बहुत ही महत्वपूर्ण माना गया है। मुद्रा के अग्रभाग में वैष्ठित वृक्ष तथा चक्र अंकित हैं तथा पृष्ठ भाग पर राजदण्ड (केडूसियस) हैं।

सभागृह शैलाश्रय (3–एफ/24)

1. निखात (ट्रेंच) प्रथम

यह निखात सभागृह के अन्दर मध्य भाग में स्थित थी तथा उत्खनन समाप्ति के पश्चात् इसे मिट्टी से भर दिया गया। यह निखात लगभग 1.50 मी. लंबी थी। इसमें ''ब्रेसिया'' की मात्रा अधिक होने से पाषाण उपकरण जकड़ गये थे जिन्हें छेनी–हथौड़े की सहायता से निकालना पड़ा था। ब्रेसिया एक ऐसा सीमेंट का पदार्थ होता है जो प्राकृतिक रूप से बनता है। जब किसी स्थान से भूमिगत पानी बहता हो और वहां पानी निकासी का स्थान न होने से व पानी के साथ ही एक पदार्थ का प्राकृतिक रूप से जमाव हो जाने से पानी सूखने पर वह सीमेंट जैसा पक्का पदार्थ हो जाता है।

निखात प्रथम के उत्खनन से निम्नलिखित स्तर प्रकाश में आये :

निखात प्रथम (3–एफ/24):

तह (स्तर)	काल	प्राप्त पुरा सामग्री
(1)	पूर्व ऐतिहासिक काल	मृदभाण्ड, कांच की चूड़ियां
(2)	मध्याश्म काल	लघु अश्मोपकरण
(3)	पूर्व मध्य पाषाण काल	इस युग के विभिन्न प्रकार के अश्मोपकरण प्राप्त हुए हैं जो ''ब्रेसिया'' में जकड़े थे।

निखात द्वितीय

यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण निखात है जिसमें से विभिन्न युगों की क्रमिक तहें (सांस्कृतिक स्तर) प्राप्त हुई थीं। यह निखात सभागृह के अन्तिम मुहाने (छोर) के प्रवेश द्वार के निकट स्थित है। सुरक्षा की दृष्टि से निखात के चारों ओर रेलिंग लगाई गई है तथा तहों को पाषाण ईंटों से ढँका गया है ताकि वर्षा या मिट्टी के कटाव से बच सकें। इसमें निम्न स्तर मिले हैं।

निखात द्वितीय (3–एफ/24)

	तह (स्तर) काल	प्राप्त पुरा सामग्री
(1)	मौर्य काल	मृदभाण्ड व पंचमार्क सिक्का
(2)	ताम्राश्म काल	मृदभाण्ड व लघु अश्मोपकरण
(3)	मध्याश्म काल	लघु अश्मोपकरण
(4)	उत्तर, पूर्व पाषाण काल	बलुआ पत्थर निर्मित उपकरण, लघु अश्मोपकरण
(5)	अश्यूलियन–द्वितीय स्तर	स्क्रेपर्स, क्लिवर्स व हैण्डएक्स
(6)	अश्यूलियन–प्रथम स्तर	तदैव
(7)	60 सें.मी. की मेप	कोई उपकरण नहीं
(8)	मोलाश्म उपकरण	स्थानीय पत्थर के मोलाश्म
(9)	प्रारंभिक लेटेराईट	
(10)	मूल चट्टान	

उत्खनन में पूर्व पाषाण कालीन स्तर (6) के पश्चात् स्तर (7) में 60 सें.मी. का अंतर है जिससे ऐसा ज्ञात होता है कि सैकड़ों वर्षों तक यहां बसाहट नहीं रही होगी। संभवतः उस समय हिमयुग रहा होगा। इस कारण पहाड़ियां हिमाच्छादित रही होंगी। इसलिए सभागृह में तह (7) से 60 सें.मी. का ''गेप'' पाया गया है। अन्य जगहों पर भीमबैठका में किए गये उत्खनन में मिट्टी हटाने के पश्चात् चट्टानों पर ''ग्लेसियर मार्क्स'' देखने को मिलते हैं, जोकि एक निश्चित दिशा में जाते ज्ञात होते हैं। छोटी जामन झिरी पहाड़ी के निकट सर्वेक्षण के अन्तर्गत एक बड़ी ''हेण्डएक्स'' (पूर्व पाषाण काल का एक उपकरण) प्राप्त हुआ था जो दो चट्टानों के मध्य फंसा था, पर ''ग्लेसियर मार्क्स'' डॉ. वाकणकर द्वारा देखे गए थे। भीमबैठका के पण्डापुर क्षेत्र में ये निशान ढलान देखे गए हैं।

(2) शैलाश्रय क्रमांक–3/एफ/23

सभागृह शैलाश्रय के निकट एक विशाल व ऊंचा शैलाश्रय (3–एफ/23), प्रो. वी. एन. मिश्र, डेक्कन कॉलेज, पूना ने यहां उत्खनन करवाया था जिसमें मिट्टी की तहें सभागृह के समान ही हैं, परन्तु यहां केवल छः तहें ही देखी गई हैं।

	तह (स्तर) काल	प्राप्त पुरा सामग्री
(1)	वर्तमान	यह वर्तमान युग की ऊपरी सतह है जिसमें वर्तमान युग की सामग्री प्राप्त हुई है।
(2)	मध्याश्म काल	विभिन्न प्रकार के लघु अश्मोपकरण
(3)	उत्तर पूर्व पुरापाषाण काल	यहां एक कॉम्प्लेक्स (फ्लोर) देखा गया है जिस पर बलुआ पत्थर के पाषाण उपकरण प्राप्त हुए हैं।
(4)	मध्य पूर्व पाषाण काल	विभिन्न प्रकार के अश्मोपकरण
(5)	अश्यूलियन युग (पूर्व पाषाण)	पूर्व पाषाण कालीन अश्यूलियन उपकरण प्राप्त हुए हैं। जो किसी धरातल (फ्लोर) पर निर्मित किए गए थे।
(6)	मूल चट्टान (बेडरॉक)	

(ब) द्वितीय चरण

भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण द्वारा वर्ष 2002 में भीमबैठका के तृतीय समूह के शैलाश्रय क्रमांक–3/एफ/14(एएसआई–28) में पुरातत्वीय उत्खनन प्रारंभ करवाया गया। इस उत्खनन का प्रमुख उद्देश्य पूर्व में विभिन्न संस्थाओं द्वारा किए गए उत्खनन को प्रामाणिकता प्रदान करना था। पूर्व में किए गए उत्खनन के

विषय में विद्वानों में मत–मतान्तर था जो सही किया जा सकता है।

शैलाश्रय क्रमांक– 3/एफ/14 में दो ट्रेंचेस (निखात) ली गईं जिनमें लगभग 1.75 सें.मी. तक उत्खनन किया गया, जिसमें कुछ लघु अश्मोपकरण (माईक्रोलिथ्स) प्राप्त हुए हैं। इनका समय उत्तर पुरापाषाण अथवा मध्याश्म काल निर्धारित किया गया है। प्रत्येक एक सें.मी. में कई मिट्टी के नमूने लिए गए हैं जिन्हें परीक्षण हेतु भेजा जायेगा जिससे तत्कालीन समय की वनस्पतियों तथा जीवधारियों की जानकारी मिलेगी। ऊपरी सतह से मध्यकालीन मिट्टी के पात्र अवश्य मिले हैं, जिनकी मात्रा न्यून है। ऐसी संभावना की जा रही है कि इस शैलाश्रय में पाषाण काल की सभी संस्कृतियों के अवशेष अथवा उपकरण प्राप्त हो सकते हैं।

शवाधान क्रिया

विभिन्न संस्थाओं द्वारा किए गए उत्खनन से यहां शवाधान क्रियाओं की जानकारी मिलती है। शवों को दफनाया भी जाता था तथा आधा जलाने के पश्चात् भी दफनाया जाता था। यहां एकल तथा समूहों में नर कंकाल प्राप्त हुए हैं। कुछ कंकालों के मस्तक के निकट मिट्टी के पात्र भी मिले हैं, संभवतः इनमें अन्न या कोई अन्य वस्तु रखी जाती होगी। कुछ कंकालों पर अलंकृत मोती तथा कानों के निकट कुछ आभूषण जैसी वस्तुएं प्राप्त हुई हैं।

शैलाश्रय क्रमांक – 3 एफ 13 व 14

1. सागर विश्वविद्यालय द्वारा किए गए उत्खनन में दो कंकाल मिले जो संभवतः ताम्राश्मयुगीन माने गए हैं।
2. डेक्कन कॉलेज, पूना द्वारा किए गए उत्खनन में ताम्राश्म कालीन ढंका हुआ कंकाल मिला।
3. विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन को मध्यकालीन कंकाल मिले तथा उनके मस्तक के निकट मिट्टी का पात्र या मटका प्राप्त हुआ है। यहां से प्राप्त एक अन्य कंकाल की लम्बाई लगभग 4 फुट 6 इंच है। उत्खनन के प्रथम काल में मिलने से समय लगभग एक हजार वर्ष पूर्व माना गया है। कंकाल के निकट मिट्टी का एक मटका मिला था।

शैलाश्रय क्रमांक –3 –एफ –16

1. इस शैलाश्रय में विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन द्वारा एक मानव कंकाल उत्खनित किया गया था जिसके मस्तक के निकट मृद्भाण्ड रखा हुआ था।

शैलाश्रय क्रमांक –3–एफ–27

1. इस शैलाश्रय में ताम्राश्मयुगीन मानव के कंकाल अवशेष प्राप्त हुए थे जिसके निकट पक्षी की हड्डी के निर्मित अवशेष मिले थे।

शैलाश्रय क्रमांक 3–ए 26

1. चारों ओर पत्थर के मध्य बालक की अस्थियां मिलीं जिसके गले पर सांभर सींग व पत्थर रखा हुआ था।
2. प्रौढ़ व्यक्ति के मस्तक की कतिपय हड्डियां व गले में संभवतः दो मनके प्राप्त हुए थे जिसके विषय में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता है।

मानव के अस्थि अवशेषों के विषय में डॉ. वाकणकर के अनुसार उनका समय लगभग 15 या 20 हजार वर्ष होना चाहिए तथा उसे "होमोसेपियन भीमबेटकियन" कहा है। यहां पर उत्खनित स्तर पर जहां हड्डियां प्राप्त हुई हैं वहां पर इनके साथ ही अस्थि के मनके, हड्डियों के औजार (बोन पाईंट्स), सांभर के सींग प्राप्त हुए हैं। सांभर के सींग से संभवतः लघु अश्मोपकरण बनाये जाते थे। यहां शुतुरमुर्ग के अण्डे के छिलके के मनके भी मिले हैं।

उपरोक्त अस्थि अवशेषों के अतिरिक्त शैलाश्रय क्रमांक–2बी–33– में भी अस्थि अवशेषों की प्राप्ति हुई है।

भीमबैठका के शैलाश्रयों में पुरातत्वीय उत्खनन किए जाने से शैलचित्रों का समय निर्धारित किए जाने में सहयोग प्राप्त हुआ है। विभिन्न विश्वविद्यालयों, व्यक्तिगत रूप से तथा भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण द्वारा किए गए उत्खनन के अन्तर्गत महत्वपूर्ण परिणाम निकले हैं।

डा. नारायण व्यास

अधीक्षण पुरातत्वविद् भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण

भोपाल मण्डल, भोपाल

डा. मुहम्मद इरफ़ान

फोर्ट विलियम कॉलेज संग्रह

[राष्ट्रीय अभिलेखागार में सुरक्षित पाण्डुलिपियों का एक दुर्लभ संग्रह : इतिहास के दर्पण में]

भारत के साहित्यिक इतिहास में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना इम्तहाई अहम वाकिए की हैसियत रखता है। अपने आने के फौरन बाद ही अंग्रेजों को यह अहसास हो गया था कि अगर उनको यहां शासन करना है तो स्थानीय संस्कृति से बाखबर होने के अलावा यहां के साहित्य और स्थानीय भाषाओं का पूरा ज्ञान होना भी आवश्यक है। सन् 1780 ई0 में मदरसा आलिया कलकत्ता की स्थापना और सन् 1784 ई0 में सर विलियम जोन्स की मदद से रॉयल एशियाटिक सोसाइटी की बुनियाद अंग्रेजों विशेषकर वारेन हेस्टिंग्स के इसी एहसास का नतीजा था।

लार्ड वेलेजली ने दिसम्बर सन् 1798 ई0 में उसके जांनशीं के तौर पर गवर्नर जनरल के पद का चार्ज संभाला तो यहां के राजनीतिक तथा आर्थिक हालात का जायज़ा लेने के बाद इसी तथ्य को माना कि भारत में अंग्रेजी शासन के लिए संस्कृति तथा शिक्षा के कामों की तरफ भी ध्यान देना होगा। उस समय जिन सिविल अफसरों की जिलों में नियुक्ति हुई थी उनकी बड़ी संख्या पंद्रह से सत्रह वर्ष की आयु की थी जिनको न तो प्रशासनिक कार्यों से संबंधित ट्रेनिंग मिली होती थी न ही वह स्थानीय भाषा और संस्कृति से परिचित थे। उसने 21 दिसंबर सन् 1798 को एक घोषणा जारी की जिसका सारांश यह था कि

राइटर्स बिल्डिंग, कलकत्ता

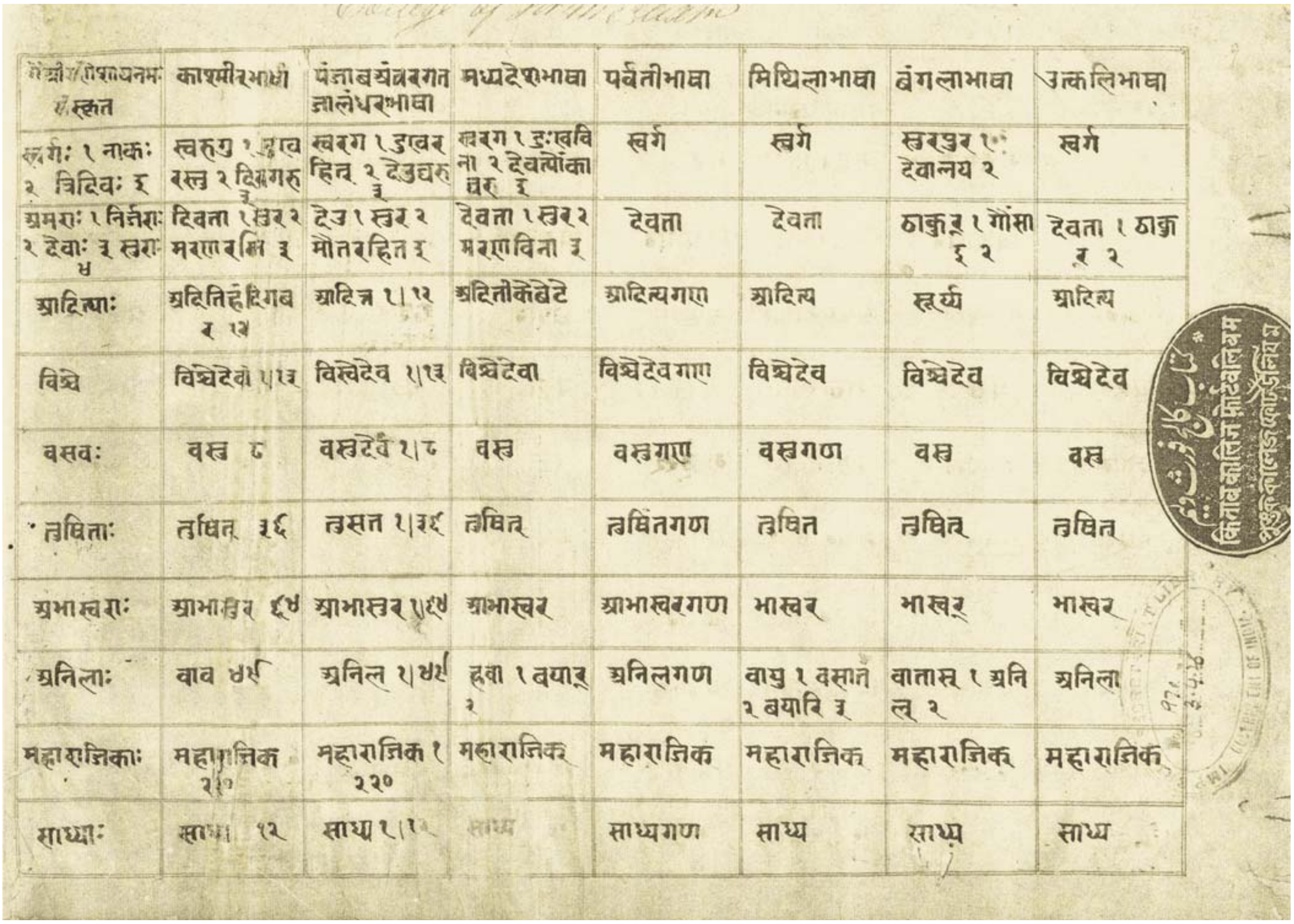

...संस्कृत	काश्मीरभाषा	पंजाबयेंबरगत जालंधरभाषा	मध्यदेशभाषा	पर्वतीभाषा	मिथिलाभाषा	बंगलाभाषा	उत्कलिभाषा
स्वर्गः १ नाकः २ त्रिदिवः ३	स्वरुग १ ... रस्त २ ... ३	स्वरग १ दुखर हित २ देउघरु ३	स्वरग १ दुःखविना २ देवतोंका घर ३	स्वर्ग	स्वर्ग	स्वरउर १ देवालय २	स्वर्ग
अमराः १ निर्जराः २ देवाः ३ सुराः ४	दिवता १ सुर २ मरणरहित ३	देउ १ सुर २ मौतरहित ३	देवता १ सुर २ मरणविना ३	देवता	देवता	ठाकुर १ गोंसाइ २	देवता १ ठाकुर २
आदित्याः	अदितिहृदिगव र १२	आदित्र १।१२	अदितीकेबेटे	आदित्यगण	आदित्य	सूर्य	आदित्य
विश्वे	विश्वेदेवा १।१३	विश्वेदेव १।१३	विश्वेदेवा	विश्वेदेवगण	विश्वेदेव	विश्वेदेव	विश्वेदेव
वसवः	वसु ८	वसुदेव १।८	वसु	वसुगण	वसुगण	वसु	वसु
तुषिताः	तुषित ३६	तुसत १।३६	तुषित	तुषितगण	तुषित	तुषित	तुषित
आभास्वराः	आभास्वर ६४	आभास्वर १।६४	आभास्वर	आभास्वरगण	भास्वर	भास्वर	भास्वर
अनिलाः	वाव ४९	अनिल १।४९	हवा १ बयार २	अनिलगण	वायु १ बसात २ बयारि ३	वातास १ अनिल २	अनिला
महाराजिकाः	महाराजिक २२०	महाराजिक १ २२०	महाराजिक	महाराजिक	महाराजिक	महाराजिक	महाराजिक
साध्याः	साध्य १२	साध्य १।१२	साध्य	साध्यगण	साध्य	साध्य	साध्य

इस घोषणा द्वारा बंगाल में कंपनी के सारे कर्मचारियों को सूचित किया जाता है कि पहली जनवरी सन् 1800 ई0 और उसके बाद से कोई कर्मचारी उस वक़्त तक इन पदों के योग्य नहीं माना जाएगा जब तक कि वह विधान और उन भाषाओं की परीक्षा पास न कर ले, जिनका जानना संबंधित पद के लिए अनिवार्य घोषित कर दिया गया है।

इसी आवश्यकता के अनुसार सन् 1800 ई0 और उसके बाद से कोई कर्मचारी उस वक्त तक इन पदों के योग्य नहीं माना जाएगा जब तक कि वह विधान और उन भाषाओं की परीक्षा पास न कर ले, जिनका जानना संबंधित पद के लिए अनिवार्य घोषित कर दिया गया है।

इसी आवश्यकता के अनुसार सन् 1800 ई0 में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना भी हुई कॉलेज के कायदे कानून का मसौदा यूं तो 10 जुलाई सन् 1800 ई0 को तैयार हुआ और 18 अगस्त को उसे अनुमोदित कर दिया गया, मगर उसे सुकेतेसरंगापट्टम की पहली सालगिरह (4 मई सन् 1800 ई0) से अमल में लाया गया। कॉलेज के लिए गंगा नदी के किनारे गार्डनरीच की जगह पसन्द की गई, मगर बाद में कलकत्ता शहर के बीच में स्थित राइटर्स बिल्डिंग में उसकी स्थापना हुई। उसके विधान के कारण गवर्नर जनरल को कॉलेज का सुप्रीम काउंसिल, सदरे दीवानी अदालत और सदरे निज़ामते अदालत के जजों को गवर्नर स्वीकृत किया गया जबकि ईस्ट इंडिया कंपनी के एडवोकेट जनरल और स्टैंडिंग काउंसिल को उसका कानूनी सलाहकार नियुक्त किया गया। इन प्रतिष्ठित पदों के अतिरिक्त कॉलेज के विभिन्न विभागों के प्रोफेसरों की मुश्किल एक संयुक्त कॉलेज काउंसिल भी थी जो उसका प्रशासनिक कार्य देखती थी।

डिसिप्लीन के मामलात सीधे एक प्रोविस्ट और वाईस प्रोविस्ट से संबंधित थे। यह दोनों पद ब्रिटिश चर्च के पादरियों के लिए मख़सूस थे। कॉलेज के पहले प्रोविस्ट पादरी क्लाउडेस बचानन थे।

भारत की हर बड़ी भाषा और संस्कृति हेतु अलग विभाग था और हर विभाग में एक प्रोफेसर और दो सहायक शिक्षक होते थे। फारसी उस समय भी हिन्दुस्तान की सरकारी भाषा की हैसियत रखती थी और इस विभाग के चीफ के पद पर बेंजामिन एडमिन्सटन को नियुक्त किया जो कमानी गवर्नमेंट का फारसी अनुवादक था। उसकी मदद के लिए जॉन एच0 हैमिंग्टन और फ्रांसिस ग्लेडोन को नियुक्त किया गया जो क्रमशः सदरे दीवानी अदालत के जज और फौजी मुदब्बिर थे। अरबी भाषा और साहित्य के लिए लेफ़्टिनेंट जॉन बेली की सेवाएं ली गईं जो विलियम जोंस के बाद अरबी का दूसरा बड़ा नाम था। भारतीय भाषाओं का विभाग जॉन बी गिलकरस्ट को सुपुर्द किया गया जो इन्डोलॉजी में एक बड़ा नाम माना जाता था। मशहूर मुस्तशरिक (Orientalist) हेनरी थॉमस कूलब्रूक को संस्कृत और हिन्दू लॉ विभाग सौंपा गया। पादरी विलियम केरी जो बंगला सहित बहुत सी भारतीय भाषाओं का माहिर था, उसे बंगाली विभाग का कार्यभारी नियुक्त किया गया। इसके अतिरिक्त कुछ दूसरे विभाग भी थे जैसे विधान (जॉर्ज हिलेरब बारलो), तमिल (पादरी जे0 पोथजोल्ड) नवीन यूरोपी भाषाएं (डूप्लेसी) इत्यादि। सन् 1805 ई0 तक कुल विभागों की संख्या बारह हो गई थी। इन अंग्रेज़ प्रोफेसरों की मदद के लिए हर विभाग में स्टाफ भी था जो पंडित और मुन्शी कहलाते थे और यह तमाम वे लोग थे जिनकी अहमियत अपने–अपने क्षेत्र में प्रमाणित थी। मिसाल के तौर पर, बंगाली स्टाफ में रामरस बसु, तारनीचरण मित्रा और मृतिनजू बिध्योलंकार जैसे बंगाली के विद्वान शामिल थे जिन्होंने अंग्रेज विशेषज्ञों के साथ मिलकर बंगाली भाषा को एक मैयार मापदंड एवं शैली प्रदान की। इसी तरह उर्दू के बहादुर अली हुसैनी, मज़हर अली ख़ानवला, मीर अम्मन, हैदर बख़्श हैदरी, शेर अली अफसोस, काज़िम अली जंवा, तपिश, शेख हफ़ीजुद्दीन अहमद, इकराम अली, मिर्ज़ा अली लुत्फ़, निहालचन्द लाहौरी, बेनी नारायण आदि शामिल थे। इसके अलावा जॉन गिलकरस्ट, मीर तक़ी मीर को भी फोर्ट विलियम कॉलेज बुलाना चाहते थे मगर उनकी वृद्धावस्था के कारण यह संभव न हो सका।

जैसा कि बताया जा चुका है, फोर्ट विलियम कॉलेज नवयुवा अफ़सरों की तरबियत के लिए स्थापित किया गया था और हर विद्यार्थी को सरकारी पद पर नियुक्ति से दो वर्ष पूर्व दो वर्षीय कोर्स पास करना आवश्यक था जो भाषा विज्ञान और प्रशासनिक कार्यों के प्रशिक्षण पर आधारित होता था। यद्यपि इसमें जूनियर अंग्रेज फौजी अफ़सरों की अतिरिक्त शिक्षा एवं प्रशिक्षण का भी प्रबन्ध था, मारकुइज वेलेज़ली जो स्वयं भी क्लासिकी साहित्य में महारत रखता था अपने द्वारा स्थापित इस कॉलेज के बारे में काफी आशान्वित था और इसको धीरे–धीरे एक ऐसी शैक्षिक एवं आन्वेष्णिक संस्था बनाने का सपना देख रहा था जो ''ऑक्सफोर्ड ऑफ ईस्ट'' कहलाया जा सके। कॉलेज ने एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल और सीरामपुर मिशन प्रेस की सहायता से इस ओर तीव्र गति से कदम बढ़ाना शुरू कर दिया। पश्चिमी ज्ञान–विज्ञान से सुसज्जित कॉलेज के स्टाफ के आन्वेष्णिक प्रयासों एवं सिद्धांतों ने शीघ्र ही यूरोपीय Orientalists का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करा लिया और उन्हीं के पद चिन्हों पर चलते हुए कॉलेज के बहुत से जजों ने भी अपनी अलग पहचान बना ली। इस कॉलेज के स्नातक विद्यार्थियों में चंद प्रत्यक्ष नाम हैं: डब्लू0 डब्लू0 बर्ड, आर0 ब्राउन, टी0 फोर्टिस्क, एच0पी0 हेगटन, एच0 मेकन्जी, एम0 बी0 मार्टन, चार्ल्स मेटकॉफ, एच0 टी0 प्रिंसिप, एच0 शेक्सपियर जो इस कॉलेज के शिक्षकगण थे और पुराने विद्यार्थियों ने बंगाली सहित भारत की बहुत सी भाषाओं के प्रचार में ही अहम रोल अदा नहीं किया बल्कि उनको एक नई दिशा भी दी। अपनी तमामतर खूबियों के बावजूद ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स की नज़र में यह एक महंगा अनुभव था और शीघ्र ही उन्होंने यह कहकर उसकी सरपरस्ती से हाथ खींच लिया कि इसकी स्थापना से पूर्व बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स की नियमानुसार अनुमति नहीं ली गई थी।

कॉलेज स्थापित किया जा रहा है जहां ईस्ट इंडिया कंपनी के सिविल अधिकारियों की ट्रेनिंग का भी प्रबंध होगा। अतः सन् 1805 ई0 में यह कालेज स्थापित हुआ जो आम जनता में अपनी घटनास्थल के कारण हेलेबरी कालेज के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसमें ऑक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज के मान्य प्रोफेसरों को भी सम्मिलित किया गया। सन् 1806 ई0 में फोर्ट विलियम के पाठ्यक्रम से पश्चिमी शास्त्रों को अलग कर दिया गया और यह काम हेलेबरी कॉलेज को सौंपा गया। यद्यपि फोर्ट विलियम कॉलेज को एक ऐसी संस्था के तौर पर कार्य करते रहने की अनुमति भी वर्णनीय है कि जहां हेलेबरी कॉलेज के स्नातक विद्यार्थी यदि चाहें तो पूर्वी शास्त्रों और स्थानीय भाषाओं में विशेषज्ञता हासिल कर सकें। यहां यह बात है कि हेलेबरी कॉलेज के कई वर्णनीय स्नातक विद्यार्थी, जिन्होंने भारत में सिविल सेवा प्राप्त करना चाहा उन्होंने इस अवसर का लाभ उठाकर फोर्ट विलियम कॉलेज में अधिक शिक्षा प्राप्त करना चाही। इस तरह सिविल सेवाओं के प्रशिक्षण पाठ्यक्रम में स्थानीय भाषाओं का जानना एक रूचिकर योग्यता के तौर पर सम्मिलित रहा।

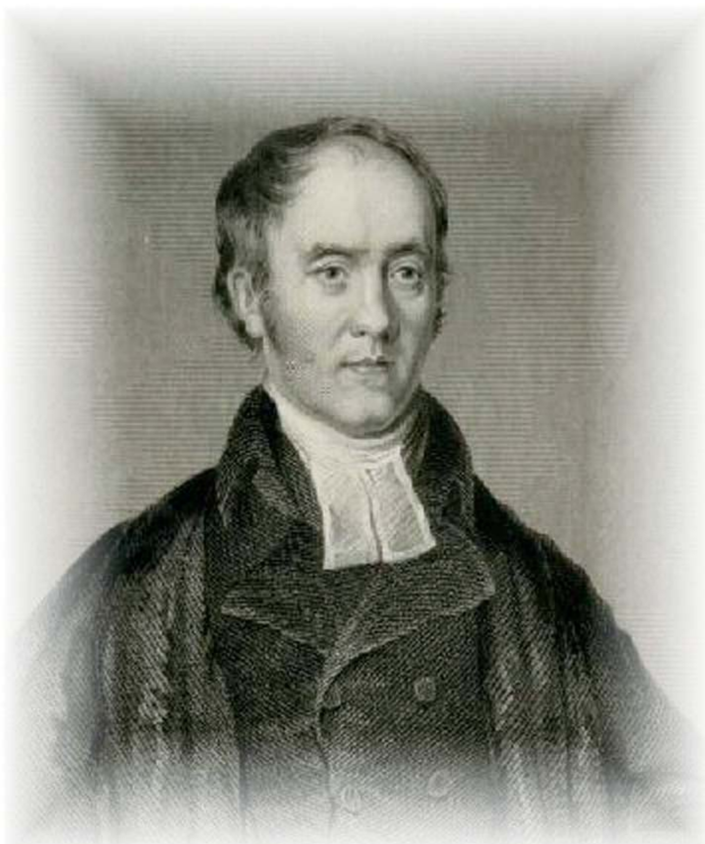

पादरी फ्रांसिस बुचानन

दूसरी ओर कुछ ऐसे व्यक्ति भी थे जो हर कीमत पर फोर्ट विलियम कॉलेज को बचाए रखना चाहते थे। अतः चंद दानशील अंग्रेजों ने कुछ हिन्दुस्तानियों को कॉलेज के स्टाफ के साथ मिलकर कॉलेज को आने वाली आर्थिक समस्याओं को किसी सीमा तक संभालने का प्रयास किया और स्थानीय भाषाओं के विस्तार में बढ़ चढ़कर भाग लेते रहे। परन्तु नए गवर्नर जनरल लॉर्ड विलियम बैंटिक ने शीघ्र ही एक नई शिक्षा नीति की घोषणा कर दी, जिसके तहत अब तक प्रचलित पूर्वी शास्त्र एवं फारसी द्वारा शिक्षा के स्थान पर पश्चिमी शास्त्र और अंग्रेजी को पब्लिक एजूकेशन के तौर पर बढ़ावा देने का प्रयास किया, ताकि पूर्वी ढंग के प्रशासन को पश्चिमी अंदाज में ढाला जा सके और इस सिलसिले की सबसे बड़ी रूकावट फोर्ट विलियम कॉलेज की कल्पना करते हुए उसके तमाम रचनात्मक एवं प्रचारिक योजनाओं की आर्थिक सहायता बंद कर दी। न केवल यह, अपितु सन् 1830 ई0 में उसने कॉलेज में प्रोफ़ेसर के पदों को भी समाप्त कर दिया और सन् 1831 ई. में कॉलेज की परिषद् को भी समाप्त कर और कॉलेज को नाम के लिए ही सही परन्तु जीवित रहने दिया गया। मगर 24 जनवरी सन् 1884 ई0 में अन्ततः लॉर्ड डलहौजी ने इस कॉलेज को विधिवत बंद कर दिया।

भारत की पुराविद्या संबंधी इतिहास पर फोर्ट विलियम ने जो चिन्ह छोड़े वह बहुत गहरे साबित हुए। न केवल लेखन तथा संकलन बल्कि मुद्रण हेतु भी उसने काफी अगुवाई की। मुख्यतः सदियों पुरानी दुर्लभ पाण्डुलिपियों का संपादन एवं प्रकाशन इस कॉलेज का एक और बड़ा कारनामा माना जाता है। सच बात तो यह है कि इस कॉलेज ने हिन्दुस्तान को शोध एवं संपादन के नवीन सिद्धान्तों से परिचित कराया। फोर्ट विलियम के इन कारनामों में उसके पुस्तकालय का भी बड़ा हिस्सा था जो कॉलेज की स्थापना के तुरन्त बाद सन् 1800 ई0 के अंत में स्थापित हुआ। प्रारंभ लोगों की निजी पुस्तकों के अनुदान से हुआ। मुख्यतः वहां के अंग्रेज शिक्षकगणों ने पुस्तकों के यूरोपीय संग्रह में काफी वृद्धि की। 15 नवम्बर सन् 1800 ई0 के कलकत्ता गज़ट में

कॉलेज के प्रोविस्ट पादरी डेविड ब्राउन की ओर से एक घोषणा प्रकाशित हुई जिसमें लोगों से खुले दिल से अनुदान देने की अपील की गई थी और इसका मनचाहा परिणाम भी सामने आया। जैसा कि पहले भी विस्तार से बताया जा चुका है, फोर्ट विलियम कॉलेज़ के अनुसंधानिक कारनामों ने यूरोप के लोगों का ध्यान विशेषकर अपनी ओर आकर्षित कर लिया था। यह उसी का परिणाम था कि ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय ने इतिहास व जीवनी धर्मशास्त्र शब्दकोश, मेटा फिज़िक्स यूनानी व लातीनी प्राचीन साहित्य से संबंधित काफी पुस्तकें अनुदान स्वरूप भेजीं। इसी तरह कुछ लोगों ने भी पुस्तकें उपहार के रूप में दीं

जिन्हें इस्टीवार्ट संग्रह, फ्रांसिस बुचानन संग्रह, लोकेट संग्रह, कोलिन मेकिंजी संग्रह और कालब्रूक संग्रह के तौर पर सम्मिलित किया गया। कॉलेज के हिन्दुस्तानी भाषाओं के प्रोफेसर और पुस्तकालय के प्रबंधक विलियम हन्टर ने इस पुस्तकालय को हर प्रकार से संपूर्ण बनाने का प्रयास किया। सन् 1805 ई0 में इस पुस्तकालय की पुनर्स्थापना हुई और यूरोप के बड़े–बड़े विश्वविद्यालयों के साथ पुस्तकों की अदला–बदली का सिलसिला भी आरम्भ हो गया। पुस्तकालय की रौनक़ उस समय अचानक और बढ़ गई जब लॉर्ड वेलेजली ने शहीद टीपू सुल्तान के दुर्लभ संग्रहों का बड़ा भाग इसमें शामिल कर दिया जिसकी तादाद लगभग दो हजार थी। श्रीरंगाप्टटम के कब्जे से निकल जाने के तुरन्त बाद मेजर ओग ने उसकी सूची बनाने का कार्य किया था और सन् 1800 ई0 में फ्रांसिस बुचानन ने भी उसका सर्वे किया, परन्तु यह रौनक अस्थायी साबित हुई। 5 जून सन् 1805 ई0 को ईस्ट इंडिया कंपनी के बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स ने लंदन में पूर्वी शास्त्रों का एक पुस्तकालय स्थापित करके निर्देश दिया कि टीपू सुल्तान की पुस्तकालय की वह तमाम पाण्डुलिपियाँ, जो अपने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष किसी भी रूप में अतुल्य हो तुरंत इंग्लैंड भेज दिए जाएं।

इस घटना के बावजूद कॉलेज की परिषद ने इस पुस्तकालय के अस्तित्व एवं विस्तार हेतु अपना प्रयास जारी रखा और अरबी–फ़ारसी के अतिरिक्त दूसरी हिन्दुस्तानी भाषाओं के आयात का सिलसिला जारी रहा। न केवल हिन्दुस्तान भर से बल्कि मोखा और बसरा जैसे दूर–दराज़ के क्षेत्रों से भी पुस्तकें आती रहीं। अतः सन् 1818 ई0 तक केवल अरबी–फारसी पाण्डुलिपियों की संख्या तीन हजार तक जा पहुंची जबकि छपी हुई पुस्तकें 8300 से भी अधिक हो गईं। सन् 1818 ई0 में ही पहली बार इस पुस्तकालय में मौजूद यूरोपीय भाषाओं की पुस्तकों का कैटलॉग प्रकाशित हुआ और उसके दस वर्ष पश्चात् अरबी–फ़ारसी और दूसरी हिन्दुस्तानी भाषाओं का कैटलॉग चार जिल्दों में प्रकाशित हुआ। इसे मौलवी इकराम अली और मुन्शी मुहम्मद साका ने तैयार किया था। कैटलॉग में जिन तथ्यों को लिया गया था उनमें इतिहास, जीवनी, विधान, व्याकरण, असरियात प्राचीन साहित्य, शब्दकोश, धर्मशास्त्र और पूर्वी एवं पश्चिमी साहित्य सम्मिलित थे। पुस्तकालय के संग्रह में कॉलेज के रोज–ब–रोज होते पतन के बावजूद बराबर बढ़ोत्तरी होती रही और सन् 1835 ई0 में एक बार पुनः जो संख्या सामने आती है उसके अनुसार यूरोपीय भाषाओं की प्रकाशित पुस्तकों की संख्या 5224 थी (यहां यह बात भी ध्यान में रहे कि उस समय कॉलेज में इन भाषाओं की शिक्षा बंद हो चुकी थी और पुस्तकों का बड़ा हिस्सा इंग्लैंड जा चुका था) पूर्वी शास्त्रों के विभाग में 11718 प्रकाशित पुस्तकें और 4225 पाण्डुलिपियां थीं। उस समय के पुस्तकालय सचिव एवं प्रबन्धक कैप्टन ओसले के अनुसार उस समय पूरे एशिया महाद्वीप में फोर्ट विलियम कॉलेज के पुस्तकालय की तुलना में कोई दूसरा पुस्तकालय नहीं थी, किन्तु लन्दन में विराजमान कुछ अंग्रेज राजनीतिज्ञों को कॉलेज की भांति उसका पुस्तकालय भी पसंद नहीं आया और उसके विभाजन का कार्य आरम्भ हो गया। शहीद टीपू सुल्तान के पुस्तकालय के अद्भुत एवं दुर्लभ मद तो पहले ही लंदन मंगवा लिए गए थे अब कलकत्ता पब्लिक लायब्रेरी की स्थापना का प्रस्ताव स्वीकार और उसकी Provisional समिति की सिफ़ारिश पर यूरोपीय भाषाओं की 4990 पुस्तकें 27 फरवरी सन् 1836 ई0 को फोर्ट विलियम को पुस्तकालय में स्थानांतरित कर दी गईं। इसी तरह कुछ अन्य संस्थाओं को भी पुस्तकें स्थानांतरित होती रहीं, यहां तक कि कई कारणवश कुछ पुस्तकें व्यापारिक संस्थाओं को भी बेच दी गईं। जैसा कि

ऊपर बताया गया है, 24 जनवरी सन् 1854 ई0 को फोर्ट विलियम कॉलेज बंद कर दिया गया तो उसके पुस्तकालय को बोर्ड ऑफ एग्ज़ामिनर्स के ग्रन्थालय में सम्मिलित कर दिया गया, परन्तु इसके विभाजन की क्रिया बाद में भी जारी रही। तत्पश्चात् बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षों में शेष पुस्तकें भी इम्पीरियल लायब्रेरी (अब नेशनल लायब्रेरी) और इम्पीरियल रिकार्ड डिपार्टमेंट (अब राष्ट्रीय अभिलेखागार) को दे दी गई। राष्ट्रीय अभिलेखागार में व्याकरण उपलब्ध यह संग्रह संख्या में भले ही कम हो परन्तु इसका महत्व अब भी काफ़ी है। फोर्ट विलियम कॉलेज कलेक्शन के नाम से सुरक्षित इस दुर्लभ संग्रह की श्रेष्ठ पुस्तकों एवं पाण्डुलिपियों पर आधारित दो कैटलॉग भी प्रकाशित हो चुके हैं। पहला कैटलॉग जो 706 प्रकाशित पुस्तकों पर आधारित है सन् 1984 ई0 में प्रकाशित हुआ जबकि 199 पाण्डुलिपियों पर आधारित दूसरा कैटलॉग सन् 1989 ई0 में प्रकाशित किया गया। इन कैटलॉगों में जिन विषयों को चुना गया है वह इस प्रकार हैः धर्मशास्त्र, भाषा–ज्ञान, साहित्य, व्याकरण, शब्दकोश, छंद विद्या, गणित, भूगोल, जीवनी, कथा, सामान्य ज्ञान, आकाश–विज्ञान, ज्योतिष विद्या इत्यादि। इस दुर्लभ संग्रह में सुरक्षित चंद वर्णन योग्य पांडुलिपियों के नाम इस प्रकार है :

तफसीर फ़त्हुल अज़ीज (शाह अब्दुल हलीम उर्फ शाह अब्दुल अज़ीज देहलवी), जवाहरुत्तफ़सीर जतोहफ़तिल अमीर (हुसैन बिल अली अल वाइज़ अलकाशफ़ी) फ़तावा आलमगीरी (शेख निज़ाम), फ़तावा इब्राहीम शाही (शहाबुद्दीन अहमद बिन मुहम्मद उर्फ निज़ाम नीलानी), फतावा खैरया (इब्राहीम बिन सुलैमान बिन मुहम्मद बिन अब्दुलअज़ीज़), फ़तहुल क़दीर (कमालुद्दीन मुहम्मद उर्फ इब्ने हुमाम), फ़ुतूहाते मक्किया (मुहीउद्दीन इब्नुल़ अरबी), तसलुफ़ेशियाई ज़रकीरतुल मुलूक (सैय्यद अली हमदानी), नफ़तुल उर्स (अब्दुर्रहमान जामी), शमाइलुन्नबी (अबू ईसा मुहम्मद बिन ईसा अतिरमिज़ी), ज़बूर, भागवत गीता, रज़्म नामा, दबिस्ताने मज़ाहिब (मोबदशाह), बहरूल अफ़ाज़िल (मुहम्मद

बिन कवाम बिन रूस्तम अल बलख़ी), बहरूल जवाहर (मुहम्मद बिन यूसुफ हरवीं), बहरूल लुग़ात (शुक्रुल्लाह), बहारे आज़म (लाला टेक चन्द बहार), बहारे आज़म (मुहम्मद हुसैन), बुरहाने काते (मुहम्मद हुसैन बिन खल्फ़ अन्तबरीजी), फ़रहंगे फ़र्रूखी मुहम्मद मुहीउद्दीन फरहंगे हुसैनी (समद हुसेन), फ़रहंगे जहांगीरी (ज़मालुद्दीन हुसैन अंजुम बिन फ़ख़रूद्दीन हसन), फरहंगे रशीदी (अब्दुर्रशीद बिन अब्दुल ज़फ़र हुसैनी), हिन्दी–फारसी डिक्शनरी, हिन्दुस्तानी–इंग्लिश डिक्शनरी, हुज्जते सातेह (करम हुसैन), इस्तलाहाते उलूम, जिदवले हुगाते अरबी व फ़ारसी व हिन्दी, कोश फुगाते आलमगिरी (मुहम्मद फ़ाज़िल), अज़ारूल अफ़ाज़िल (अलाहदाद फैज़ी सरहिन्दी), मज़मउल, (फरस सुरूरी मुहम्मद क़ासिम बिन हाजी मुहम्मद काशानी उफसुरूरी), मुस्तलहातुश शुअरा वारस्ता सियालकोटी), नवादिरूल अलफ़ाज़ (सिराजुद्दीन अली ख़ां आरज़ू), नेबार वोकेबलरी, संस्कृत डिक्शनरी, सरोजुल्लुगात (सिराज अली खां आरज़ू), इन्शा–ए–हरकरन (हरकरन मुलतानी), इन्शा–ए–रंगीन (नेक लाल), कलेमाते तय्यबात (इनायतुल्लाह ख़ान), रिसाइले एज़ाज़ (अमीर–खुसरो), उरूजे़ सेफ़ी (मौलाना सैफ़ी उरूज़ी), चहार दरवेश (अमीर–खुसरो), तूती नामा (ज़ियाउद्दीन ज़ियाए नख़्शबी), वकाए नेमत खाने आली (मिर्ज़ा नूरूद्दीन मुहम्मद उर्फ नेमत ख़ान अली) दीवाने जामी (अब्दुर्रहमान ज़ामी) नल दमन (अबुलफैज़ फैज़ी); आईने अकबरी (अबुल फ़ज़ल नल्लामी), हलबतलकुमेत (शम्सुद्दीन मुहम्मद बिन हसन अल नवाज़ी), फ़तहिया इबरतिया (शहाबुद्दीन अहमद), मख़ज़नुल अदबिया (हक़ीम मुहम्मद हुसैन), तज़किरा–ए–हिन्द (हक़ीम रिज़ा अली खान), तोहफ़तुल मोमिनीन (मीर मुहम्मद मोमिन हुसैनी), फील नामा (सादे अकबर), इलाजुल खैल (जंगी), इलाजुल तुयूर (मुहम्मद सईदुउद्दीन अंसारी रिसाला दरबारी नुजूम (मुल्ला मुहम्मद बाक़िरे मजलिसी) इत्यादि। इसी तरह प्रकाशित पुस्तकों में किताबे मुक़द्दस (बाइबल) की विभिन्न प्रतियां, हैंडबुक ऑफ़ बंगाल मिशन, किताबे इत्तातिक़ान की उलूमि कुरान, अलमुशतबा की असमाइर्रिज़ाल, सिहाए सिता की विभिन्न प्रतियां, अलअशबाह वन्नज़ाइक, एहयाए उलूमे दीन, अलइक़्दुलफ़रीद, कीमिया–ए–सआदत, अख़लाके ज़लाली, किताबुल मिलल वन्नहल, तोहफ़–ए–इस्ना अशरिया, अलकशकोल, नेहजुल बलाग़ा इकवानुस्सफ़ा व ख़लीलाने मुरव्वत वल वफ़ा इस्तिलहाते सूफ़िया, A desciptive catalogue of the Oriental Library of Late Tipu Sultan of Mysore, Dictionary of Greek, Grammer of Pakhto,Sketch of Turkish Language, एरासें बुजुगीन, अजाइबुल मक़दूर, अजाइबुल मखलूक़ात, अख़बारूल अख़यार, केताबुल आगानी, एज़ाजुल ईज़ाज़ अलमसालिक वल मुमालिक, अल्फ लैलाव–लैला की विभिन्न प्रतियां, चंगेज़ ख़ां नामा, वफ़ियातुल आयान, अलमोजिम फी मय्यारे अश्आरूल अज़म दरियाए लताफ़त, फारसी, अंग्रेजी डिक्शनरी, बुरहाने क़ाते और अन्य महत्वपूर्ण कोश, दीवाने बाबर बादशाह, दीवाने हज़रत हस्सान बिन साबित, दीवाने–मुतनब्बी और बहुत से अरबी फारसी कवियों के काव्य संग्रह, तिब की कई महत्वपूर्ण पुस्तकें इत्यादि–इत्यादि। इन पुस्तकों के अतिरिक्त जो इस कैटलॉग (सूची–पत्र) में सम्मिलित पुस्तकें भी हैं जिनका प्रकाशन फोर्ट विलियम कॉलेज के शोध एवं संपादनिक प्रयासों का परिणाम है उदाहरणातः सनहिता ऑफ ब्लेक यजुर्वेदा, अग्नि पुराण, प्राकंता–प्रकाशा, महाभाष्या, प्रादीपो विद्या ज्योता, The Radical of Sanskrit Language वेदान्त सार गायत्री संग्रह, सिद्धांत कौमुदी, महाभारत, संस्कृत रीडर, पंचतन्त्र, A book of Panini, तितरिया ब्राह्मणः ऑफ ब्लेक यजुर्वेद, तितरिया संहिता, संस्कृत–इंगलिश डिक्शनरी, कर्म पूरानम् व अन्य संस्कृत तथा बंगाली भाषाओं के महान ग्रन्थ। यहाँ यह बताना आवश्यक है कि राष्ट्रीय अभिलेखागार इस संग्रह के संरक्षण एवं परिरक्षण हेतु तमाम उपाय कर रहा है। उदारहणतः सारी पुस्तकें पाण्डुलिपियां माइक्रोफ़िश पर हस्तांतरित कर दी गई हैं। इनका फ्यूमीगेशन, जिल्द बंदी व आवश्यक मरम्मत इत्यादि तमाम कार्य वैज्ञानिक ढंग से किए जा रहे हैं, अपितु एक कमी है जो खलती है वह यह कि इन दुर्लभ पुस्तकों से लाभान्वित होने या इनके प्रशंसक शोधकर्ताओं की संख्या दिन–प्रतिदिन कम होती जा रही है। उच्च शैक्षिक संस्थाओं में अध्ययन करने वालों की सहजता, जल्दबाज़ी या शोध का बदलता रुझान और इसमें गम्भीरता की कमी अथवा इन्टरनेट का बढ़ता प्रयोग इसके कारण हो सकते हैं।

डा. मुहम्मद इरफान

सहायक अभिलेखाधिकारी

राष्ट्रीय अभिलेखागार,

जनपथ, नई दिल्ली

डॉ. बृजेश कुमार

पाषाण कला–कृतियों की संरचना एवं संरक्षण

पाषाण कला–कृतियों का संरक्षण

1. **परिचय।**
2. **पत्थरों का प्रकार एवं संरचना।**
3. **पाषाण से बनी कला–कृतियों के संरक्षण का उपाय।**
4. **उपसंहार।**

पाषाण वस्तुएं

संग्रहालयों, देवालयों, गिरजाघरों, निजी संग्रहों में रखी हुई अधिकतर सामग्रियां पत्थर की बनी हुई हैं। कलात्मक सामग्री, औजार ओर रोजमर्रा के प्रयोग में लाई जाने वाली समस्त वस्तुओं को सर्वप्रथम पाषाण से बनाया गया होगा। भारत में, जहां धर्म में मूर्तिपूजा जीवन का एक अंग माना गया है वहां यह स्वाभाविक ही है कि पाषाण मूर्तियां और प्रतिमाएं बहुतायत में प्राप्त हों। इनमें से कुछ मूर्तियां अत्यंत विशाल हैं जिसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण कर्नाटक में, श्रवणवेलगोला की बाहुबली की प्रसिद्ध विशाल मूर्ति है। प्रायः छोटे आकार की मूर्तियां देवालयों और भारत भर के अनेक निजी संग्रहों में प्राप्त होती हैं।

पाषाण देवालयों, राजप्रसादों और अन्य भवनों के निर्माण का यह एक लोकप्रिय माध्यम रहा है। इन्हें प्रायः बहुत ही बारीकी से उकेरा जाता था, इसलिए वास्तुकलात्मक सामग्रियां अधिकतर पाषाण में प्राप्त होती हैं। भारत के अधिकतर संग्रहालय पुरातात्विक हैं। यही कारण है कि यहां के अधिकतर संग्रहालयों में शिल्प–वस्तुओं, प्रतिमाओं और उपकरणों की बहुतायत है। ऐसा ही हमें दक्षिण–पूर्वी एशिया के अधिकतर संग्रहालयों में देखने को मिलता है। पाषाण मूतियां, उकेरे गये चित्र तथा वास्तुकलात्मक खंड अनेक निजी संग्रहों, देवालयों इत्यादि में देखने को मिलते हैं।

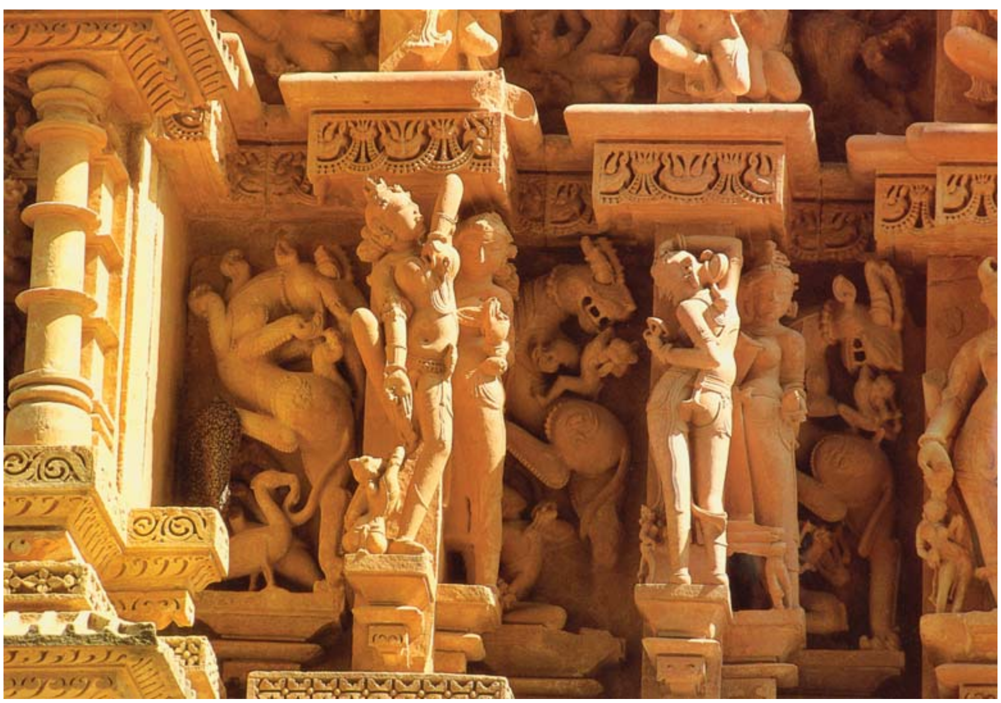

तक्षित फलक, लक्ष्मण मंदिर, खजुराहो,

पाषाण के प्रकार

भूविज्ञान की दृष्टि से पाषाण के तीन प्रकार हैं– आग्नेय या ज्वालामुखीय, कायांतरित तथा अवसादी। आग्नेय चट्टानें जैसे ग्रेनाइट ज्वालामुखी लावे के शीतल होने से निर्मित हुई। अवसादी चट्टानों जैसे बालुकाश्म और चूना पत्थर का निर्माण बालू और दूसरे पदार्थों से होता है, जिन्हें नदियां अपने साथ लाती हैं और झील और तालाबों की तलहटी में जमा कर देती हैं। काफी समय के बाद ये परतें अश्मीभूत

होकर प्रस्तर का आकार ले लेती हैं। कायांतरित चट्टानें, उदाहरणार्थ संगमरमर आग्नेय या अवसादी शैल के कायातंरण से अपना नवीन रूप दाब, ऊष्मा अथवा किसी भूवैज्ञानिक परिवर्तन से प्राप्त करती है। इन सबमें आग्नेय चट्टानें सबसे स्थायी और कठोर होती हैं। अवसादी चट्टानों की परतों में टूट जाने की प्रकृति होती है। यदि इनके कणों का पारस्परिक बंधन कमजोर हो तो ये छोटे–छोटे खंडों में विघटित होने लगती हैं। कायांतरी चट्टानें मध्यम दर्जे की टिकाऊ होती हैं।

इसके अलावा एक अन्य प्रकार की चट्टानें भी होती हैं जैसे लैटेराइट, जो अत्यधिक छिद्रयुक्त होती हैं। इन चट्टानों पर जल के अंतःस्राव का अत्यधिक शीघ्रता से प्रभाव पड़ता है।

पाषाण का परिरक्षण

शोकमग्न महिला, सारनाथ

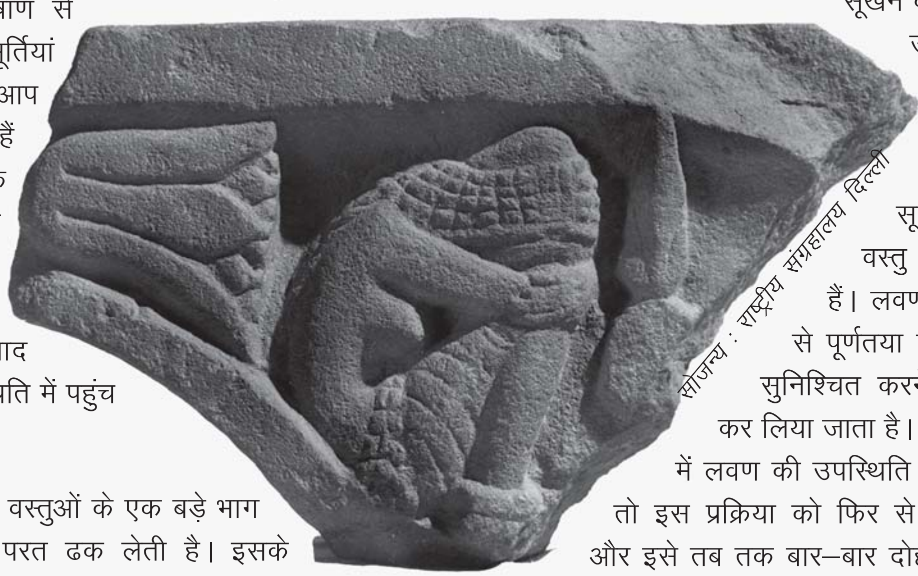

सौजन्य : राष्ट्रीय संग्रहालय दिल्ली

कभी–कभी पाषाण से निर्मित वस्तुएं जैसे मूर्तियां तथा उपकरण अपने–आप विघटित होने लगते हैं और उनकी अनेकानेक परतें अलग होने लगती हैं। ये वस्तुएं बहुत लंबे समय तक प्रयोगशाला में उपचारित होने के बाद ही पूर्णतया निर्दोष स्थिति में पहुंच पाती हैं।

कुछ पाषाण की वस्तुओं के एक बड़े भाग को सूक्ष्म जीवों की परत ढक लेती है। इसके फलस्वरूप जो पाषाण के धरातल के नीचे उत्कीर्ण आकृतियां बनी होती हैं वे छिप जाती हैं। इस प्रकार के मामलों में भी बहुत लंबे समय तक प्रयोगशाला में उनका उपचार करने से जीवों को पाषाण की सतह से हटाया जा सकता है।

इन दृष्टांतों से स्पष्ट है कि यद्यपि पाषाण एक मजबूत और सुदृढ़ माध्यम है, पर इसका भी ह्रास होता है। अतएव इसकी भी अन्य कला–वस्तुओं की भांति देखभाल करने की आवश्यकता होती है।

पाषाण से बनी वस्तुओं की अत्यधिक हानि इसमें उपस्थित घुलनशील लवणों से होती है। लवण नमी को ग्रहण करके विलायकों का रुप दे देते हैं और चट्टानों के कोटरों के बीच में स्थान बना लेते हैं। वाष्पीकरण में लवण के विलायक, लवण क्रिस्टलों में परिवर्तित हो जाते हैं, जो प्रायः पाषाण की सतह पर सफेद क्रिस्टलों का आकार ले लेते हैं। लवणों के अनवरत विलयन और क्रिस्टलीकरण से पाषाण बार–बार प्रभावित होते हैं और अंततः पाषाण की सतह पाउडर में परिवर्तित होने लगती है। अतः समाधान के लिए समस्त पाषाण सामग्रियों को उत्खनन के बाद तुरंत लवणहीन जल से बार–बार धो लेना चाहिए, जिससे सामग्रियों में विद्यमान लवण की मात्रा पूरी तरह निकल जाए। लवण से प्रभावित प्रस्तर के उपचार का सबसे प्रभावी तरीका कागज–लुगदी प्रविधि है। इस प्रविधि में, कागज की लुगदी को साना जाता है और इसके बाद उस गीली लुगदी के सूखने की प्रक्रिया में लुगदी उसमें व्याप्त लवण को प्रस्तर से बाहर खींच लेती है। जब लुगदी पूरी तरह सूख जाती है तो उसे वस्तु से अलग कर देते हैं। लवण की मात्रा, पाषाण से पूर्णतया निकल गई है, उसे सुनिश्चित करने के लिए परीक्षण कर लिया जाता है। फिर भी यदि पाषाण में लवण की उपस्थिति के संकेत मिलते हैं तो इस प्रक्रिया को फिर से दोहराया जाता है और इसे तब तक बार–बार दोहराया जाता है जब तक लवण की मात्रा वस्तु से पूरी तरह समाप्त नहीं हो जाती।

यदि पाषाण की सतह कमजोर या पाउडरी हो जाती है तो संयोजी घोलों का प्रयोग पाषाण में उपस्थित समस्त लवण की मात्रा को निकाल लेने के बाद किया जाता है। बालू–पत्थर और मूर्तियों में मुख्यतया परतों का पार्थक्य देखने को मिलता है। प्रयोगशाला विशेषज्ञों की राय लेने पर वे पाषाण की परतों को परस्पर समेकित करने के लिए रेजिन या अन्य विलयनों के प्रयोग को महत्व देते हैं।

पाषाण से बने भवनों और वस्तुओं में नमी बढ़ने का मुख्य कारण है कि वे धरातल से जुड़े रहते हैं और पृथ्वी के भीतर जल का स्तर बढ़ने के कारण जल वस्तु के धरातल तक पाषाण में विद्यमान छिद्रों में पहुंच जाता है। इसलिए पाषाण की वस्तुओं को भूतल या सीमेंट के चबूतरों पर प्रदर्शन के लिए नहीं रखना चाहिए। पाषाण की मूर्तियों को पाषाण या ईंटों से बने चबूतरे में तभी रखना चाहिए जब नमी को रोकने वाली प्लास्टिक की चादरों को चबूतरों के ऊपर बिछा दिया जाए।

प्रायः पाषाण की मूर्तियों में मुख्यतया धूल और मिट्टी जमा हो जाती है और उसमें धब्बे पड़ जाते हैं। धूल को बड़ी सरलता से निकाला जा सकता है। प्रायः साधारण जल से अलग–अलग प्रकार की धूल को वस्तु पर से हटाया जा सकता है। कभी–कभी हल्के डिटरजेंट का इस्तेमाल किया जा सकता है। जरा–सा भी अम्ल चाहे उसे कितना भी पतला क्यों न किया गया हो, का प्रयोग पाषाण को साफ करने के लिए नहीं किया जाना चाहिए। ऐसा केवल उसी स्थिति में किया जाना चाहिए जब किसी प्रशिक्षित संरक्षणविद्, जिसे इसका ज्ञान हो कि विभिन्न प्रकार के पाषाणों पर इसके प्रयोग का क्या प्रभाव पड़ेगा, का सुझाव प्राप्त कर लिया जाए। चिकनाई के धब्बों, तेल की परतों, पेंट तथा मोम इत्यादि जो पाषाण में लगे हुए थे, उन्हें पाषाण से हटाने के लिए उपयुक्त प्रकार के कार्बनिक विलायकों जैसे टोल्यून, एसिटोन, ट्राइक्लोरोएथिलीन, ट्राइएथेनॉलैमीन इत्यादि या इनके मिश्रणों का प्रयोग किया जा सकता है।

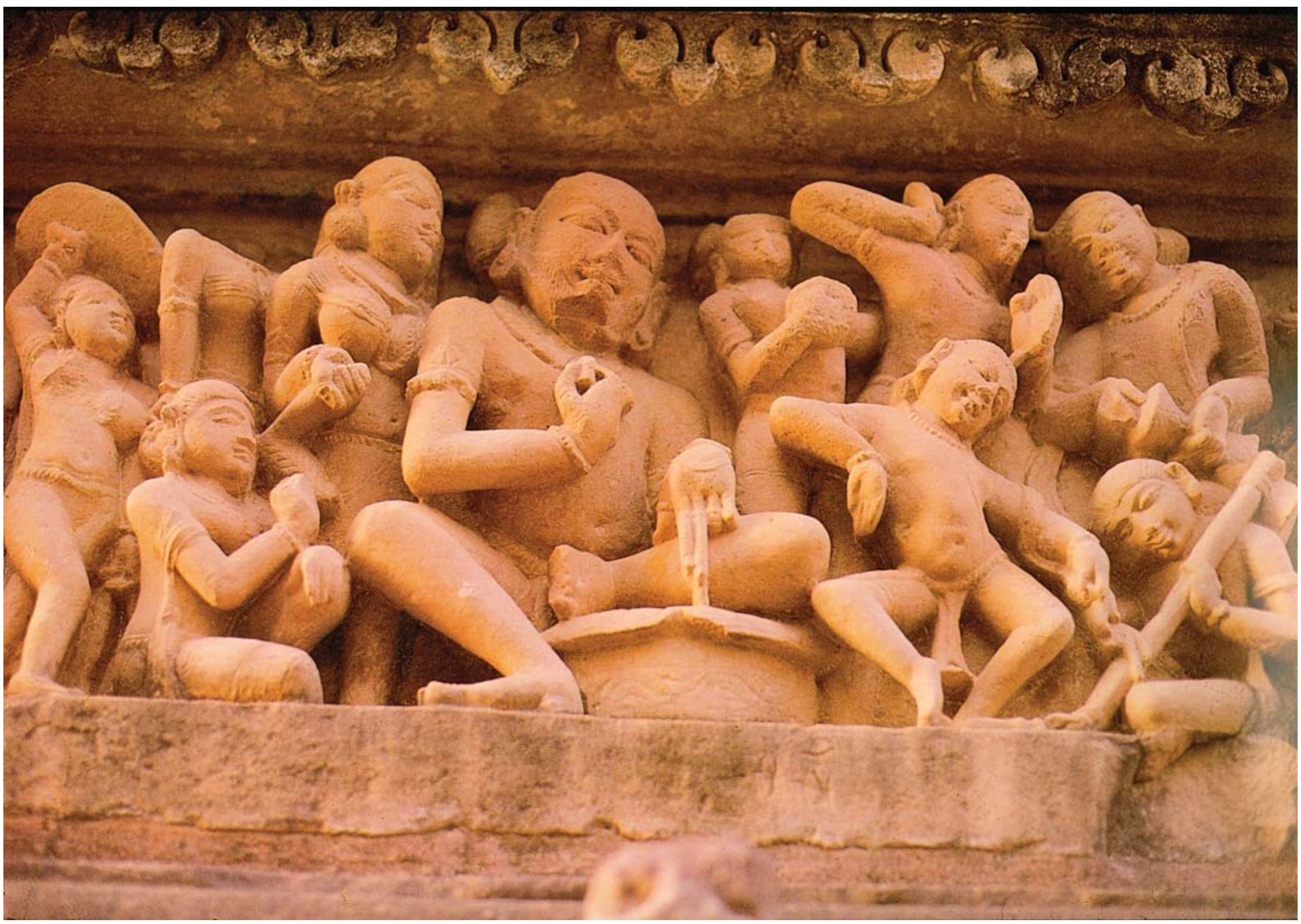

नृत्य–कक्षा, लक्ष्मणमंदिर, खजुराहो

पाषाण की वे वस्तुएं, जो कुछ समय तक खुले स्थानों में पड़ी रहती हैं उन पर काई, शैवाल लग जाती है। ये पाषाण की आकृति को बदरंग ही नहीं बना देती हैं वरन् उसके धरातल को चकत्तेदार, हरा और काला रूप दे देती हैं, जिसके कारण पाषाण के धरातल में गड्ढे पड़ जाते हैं तथा पाषाण की संरचना कमजोर पड़ जाती है। एक प्रशिक्षित संरक्षण को काई के संचय को हटाने में सक्षम होना चाहिए। यह कार्य अपने आप नहीं करना चाहिए क्योंकि इसके लिए इस्तेमाल रसायनों का प्रयोग खतरनाक होता है।

शैवाल को हटाने के लिए प्रायः 5 से 10 प्रतिशत अमोनियम हाइड्रॉक्साइड के घोल का प्रयोग किया जाता है। रुई के फाहे से घोल का प्रयोग किया जाता है। रुई के फाहे को घोल में भिगोकर और प्रभावित भाग पर 10 से 15 मिनट की अवधि तक रखने के बाद नारियल या नाइलोन के ब्रश से उसे साफ किया जाता है। इसके लिए धातु के तार से बने ब्रश अत्यंत हानिकारक सिद्ध हो सकते हैं और इनका कदापि प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए। ये वस्तु की सतहों को छील देते हैं, जिससे वस्तु पर खरोचें पड़ जाती हैं।

कभी–कभी यह प्रश्न भी उठाया जाता है कि संरक्षण हेतु क्या पाषाण की सामग्रियों को किसी रेजिनी आलेपों से विलेपित किया जाना चाहिए? सामान्यतया ऐसे किसी भी आलेप की सिफारिश नहीं की जाती है, जब तक कि किसी वस्तु की ढहती सतहों को बचाने के लिए विशेष स्थिति में इसका प्रयोग बहुत आवश्यक न हो।

पाषाण की मूर्तियों, स्तंभों तथा अन्य वस्तुओं का रखरखाव तथा भारी वजन के कारण उन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान पर लाना ले जाना अन्य वस्तुओं की तुलना में अधिक कठिन कार्य है। भारी वस्तुओं को ट्राली में ले जाना चाहिए यद्यपि फोर्क लिफ्ट काफी महंगी होती है। इसको मजबूत रस्सियों से वस्तु को चारों ओर से बांधकर चार या पांच व्यक्ति उठाकर उसे ट्राली में रख सकते हैं और वस्तु को खंभे में लटकाकर भी ले जाया जा सकता है। ऐसी स्थिति में यह बहुत ही आवश्यक है कि रस्सी और वस्तु के बीच में गद्देदार पैड रखे हुए हों, नहीं तो रगड़ से वस्तु को हानि पहुंच सकती है। वस्तु को इधर–उधर ले जाते समय रस्सी और पाषाण की वस्तु के बीच में काफी अधिक मात्रा में गद्देदार सामग्री जैसे पुरानी साफ रजाइयों के टुकड़े या टाट के बोरों के गद्दे बनाकर रखने चाहिए।

पाषाण की वस्तुएं एक स्थान से दूसरे स्थान पर लाते–ले जाते समय टूट सकती है या क्षतिग्रस्त हो सकती हैं, अतः उन्हें पैक करते समय अत्यधिक सावधानी बरतनी चाहिए। सबसे पहले, उन सारे क्रेटों को जिनमें वस्तुओं को पैक किया गया है। काफी मजबूत होना चाहिए। क्रेटों के अंदर, वस्तुओं को रखते समय, वस्तु के चारों ओर काफी मात्रा में लोचदार सामग्री रखनी चाहिए जिससे वस्तुओं को लाते–ले जाते समय झटका और आघात न लगे। कभी–कभी बड़े आकार की प्रस्तर की वस्तुओं को पैक करते समय दो क्रेटों का प्रयोग किया जाता है, जिसमें बड़े क्रेटों के अंदर, वस्तु के माप के बराबर एक छोटे आकार का क्रेट रख दिया जाता है। भीतरी क्रेट में रखी हुई वस्तु के चारों ओर गद्देदार, लचीली सामग्री को बांध दिया जाता है तथा भीतरी और बाहरी क्रेट के बीच में काफी मात्रा में लचीली सामग्री पर झटके नहीं लगते। वस्तु को पैक करते समय उनकी बाँहों, टांगों और दूसरे नाजुक अंगों की रक्षा के विशेष प्रबंध करने चाहिए।

दीवारों पर डिस्टेंपर और पेंट करते समय, पाषाण की वस्तुओं पर उनके छींटे पड़ सकते हैं। ऐसी स्थिति में उन्हें पॉलिथीन या कपड़े की चादर से ढक देना चाहिए। फिर भी यदि वस्तु पर रंग लग जाए तो उसे तत्काल जल या उचित विलायकों जैसे, जाइलीन, एसिटोन, मेथिलीन, स्पिरिट, पेंट–रिमूवर लगाकर साफ कर लेना चाहिए। पेंट के सूख जाने के बाद उसे निकालना अधिक कठिन हो जाता है।

प्रायः पाषाण की वस्तुओं को भंडारण के समय उस समय क्षति पहुंचती है जब छोटे और बड़े आकार की वस्तुओं को साथ रख दिया जाता है। इससे कुछ वस्तुओं में रगड़ लग जाती है या वे टूट–फूट जाती हैं। इसके बचाव का सबसे श्रेष्ठ तरीका है कि वस्तुओं को अलग–अलग शैल्फों और चबूतरों पर काफी मात्रा में पैड रखकर रखा जाए। आधार इतना सुदृढ़ होना चाहिए कि मूर्तियों का भार वहन करने मे समर्थ हो।

डॉ. बृजेश कुमार
ग्राम–सारिलचक (नालंदा)
जिला एवं पोस्ट– नालंदा
बिहार

जगदीश प्रसाद बरनवाल 'कुन्द'

जिन्होंने यूरोप को संस्कृत के सौंदर्य से परिचित करवाया : सर विलियम जोंस

संस्कृत विश्व की प्राचीन भाषाओं में से एक है। भारतवर्ष में इस भाषा में विपुल साहित्य की सृजनाएं हुई हैं। पंचतंत्र, हितोपदेश, अभिज्ञान शाकुन्तलम्, मुद्राराक्षस आदि अगणित ग्रन्थ संस्कृत भाषा एवं साहित्य की समृद्धि के परिचायक हैं। विविध कारणों से जब भारतवर्ष की धरती पर विदेशियों की दृष्टि पड़ने लगी तो उनका ध्यान व्यापार एवं आधिपत्य स्थापित करने की मानसिकता के साथ ही यहां की सभ्यता, संस्कृति, साहित्य के अध्ययन की ओर भी आकृष्ट हुआ। भारतीय संस्कृत साहित्य की प्रशंसा सुनकर इंगलैंड से कलकत्ता पहुंचे हुए सर विलियम जोन्स के मन में भी संस्कृत भाषा का अध्ययन करने की ललक पैदा हो गयी थी। 1783 ई0 में वे कलकत्ता के सुप्रीम कोर्ट में जज नियुक्त हुए तथा सर की उपाधि से विभूषित किए गए। न्यायाधीश के रूप में उन्हें ऐसा अनुभव हुआ कि हिन्दुओं के मामले में निर्णय लेने में हिन्दू धर्मशास्त्रों एवं विधिशास्त्र का अध्ययन आवश्यक है। अतः उन्होंने संस्कृत सीखने का मन बना लिया। लेकिन तत्कालीन परिस्थितियों में, जब एक अंग्रेज को विदेशी, मलेच्छ मानकर लोग उसकी छाया से भी दूर भागते थे, उन्हें संस्कृत सिखाए कौन? यदि कोई ब्राह्मण ऊंची तनख्वाह के लालच में तैयार भी होता था तो उसे जाति–समाज से बहिष्कृत करने का भय दिखाकर, न पढ़ाने को बाध्य कर दिया जाता था।

बड़ी मुश्किल से ब्राह्मण तो नहीं लेकिन सलकिया हावड़ा के पास के एक संस्कृतज्ञ वैद्यराज, जिनका नाम रामलोचन कविभूषण था, उनको एक सौ रूपया मासिक वेतन एवं सलकिया से चौरंगी तक मुफ्त पालकी सेवा पर संस्कृत सिखाने को राजी हुए। किंतु उन्होंने इतनी शर्तें रख दी थीं कि कोई भी व्यक्ति संस्कृत सीखने से बाज आता। श्री जोन्स जीवट के धनी थे, उनका संस्कृत प्रेम अटूट था, फलतः उन्होंने सारी शर्तें स्वीकार कर लीं। वैद्य जी को भी जाति–समाज से बहिष्कृत होने का भय नहीं था क्योंकि वह पत्नी, पुत्र, परिवार विहीन अकेले व्यक्ति थे। बंगले में स्थित जो कमरा पढ़ाने के लिए पसंद किया गया, उसके फर्श पर संगमरमर बिछवाया गया। एक हिन्दू नौकर इसलिए रखा गया कि वह प्रतिदिन हुगली से जल लाकर कमरे के फर्श को एवं थोड़ी ऊंचाई तक दीवारों को धोवे। कमरे में स्थित लकड़ी की कुर्सियां एवं मेज भी रोज धुले जाते थे। पढ़ाने का समय प्रातःकाल निश्चित हुआ। श्री जोंस को आदेश था कि पढ़ने के पूर्व मात्र एक प्याला चाय ही पीकर बैठें। उनके अध्ययन की अवधि तक बंगले के अंदर गौ, वृष एवं शूकर मांस का प्रवेश वर्जित कर दिया गया। अध्यापक जी जिस वस्त्र को पहनकर पढ़ाते थे, प्रति दिन उसकी भी धुलाई होती थी। श्री जोंस टूटी फूटी हिन्दी जानते थे, जिसकी सहायता से एवं अन्य सारी व्यवस्थाओं के बाद उन्होंने संस्कृत सीखना प्रारम्भ किया। इस अध्ययन के ही दौरान उन्हें संस्कृत के समृद्ध नाटकों की जानकारी हुई। कालिदास की कृति 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' को पढ़कर तो उनकी खुशी का कोई ठिकाना ही नहीं रहा। इस घटना का उल्लेख करते हुए आचार्य पं0 महावीर प्रसाद द्विवेदी ने

सौजन्यः एशियाटिक सोसाइटी, कोलकाता

सर विलियम जोंस

'हिन्दुस्तान रिव्यू' के जून 1907 ई0 के अंक में प्रकाशित श्री एस0के0 सान्याल के लेख के आधार पर 'सरस्वती' जून 1908 ई0 के अंक में एक रोचक लेख ही लिख डाला, जिसका शीर्षक था ''सर विलियम जोंस ने कैसे संस्कृत सीखी?''

संस्कृत का ज्ञान प्राप्त कर उन्होंने अनेक संस्कृत ग्रंथों का परिश्रमपूर्वक अध्ययन किया। कालिदास के ''अभिज्ञान शाकुन्तलम्'' ने उनके मन पर एक अमिट छाप छोड़ी। यह कृति उन्हें सर्वाधिक पसंद आयी और उन्होंने संस्कृत के इस ग्रंथ की उत्कृष्टता से प्रभावित होकर यूरोपीय समाज को इसके रचना–लालित्य से अवगत कराने का निर्णय लिया एवं स्वयं ही अभिज्ञान शाकुन्तलम का अंग्रेजी में 1789 ई0 में अनुवाद कर डाला। इस अनुवाद की इतनी चर्चा हुई कि जर्मनी के महाकवि गेटे भी इसे पढ़ने को उत्सुक और बाध्य हो उठे। उन्होंने इस कृति की प्रशंसा में एक कविता ही लिख डाली। इसके पश्चात संस्कृत के अन्य महत्वपूर्ण ग्रंथों का विदेशी विद्वानों द्वारा अनुवाद करने की एक परम्परा ही चल पड़ी। श्री जोंस ने ऋतुसंहार का भी संपादन किया था तथा इसका एक संस्करण छपवाया भी। मनुस्मृति के अनुवाद का भी उन्होंने 1790 ई0 में मानवधर्मशास्त्र के नाम से प्रकाशन कराया था। हितोपदेश तथा गीतगोविन्द का भी उनके द्वारा अंग्रेजी में अनुवाद किया गया था। संस्कृत से उनकी आत्मीयता कितनी निकट की थी, इसका अनुमान एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल के 1788 ई0 के अधिवेशन में व्यक्त उनके इस उद्‌गार से लगाया जा सकता है। उन्होंने कहा था कि संस्कृत परम अदभुत भाषा है। वह यूनानी से अधिक पूर्ण और लातीनी से अधिक संपन्न है।

1740 ई0 में इंगलैंड में उत्पन्न विलियम जोंस एक प्रसिद्ध प्राच्य विद्याविद तथा न्यायवेत्ता थे। उनकी शिक्षा दीक्षा आक्सफोर्ड में हुई थी। 1774 ई0 में बैरिस्टरी पास कर उन्होंने इंगलैंड के कानून पर आधारित कई पुस्तकों की रचना की जो काफी चर्चित हुईं। यूरोपीय भाषाओं के अतिरिक्त उन्हें अरबी, फारसी, चीनी, हिन्दी का भी अच्छा ज्ञान था। नादिरशाह की फारसी भाषा में लिखी जीवनी का उन्होंने फ्रेंच भाषा में अनुवाद भी किया था। फारसी भाषा का व्याकरण (1771 ई0) एवं मुस्लिम उत्तराधिकार कानून तथा मुस्लिम दयाधिकार कानून (1782 ई0) नामक ग्रन्थों की भी रचना उन्होंने की है।

कलकत्ता निवास के समय उनके मन में प्राचीन भारतीय साहित्य के संरक्षण एवं लुप्त होती जा रही ललित कलाओं के उत्थान की भावना जागृत होने लगी और उन्होंने उनके पुनर्जीवन के लिए जनवरी 1784 ई0 में एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल की स्थापना की तथा मृत्युपर्यन्त 1794 ई0 तक स्वयं इसके अध्यक्ष रहे। इस संस्था की ओर से केवल भारत ही नहीं बल्कि एशिया से संबंधित विभिन्न अनुसंधान कार्यों को भी प्रोत्साहित किया गया। दुर्लभ पाण्डुलिपियों को संरक्षित एवं पुनर्प्रकाशित कराया गया। यदि यह कहा जाए कि वह पहले व्यक्ति थे जिन्होंने संस्कृत साहित्य की समृद्धि से यूरोप को सबसे पहले अवगत कराया तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। विद्वान दार्शनिक डा0 एस0 राधाकृष्णन के अनुसार सर विलियम जोन्स ने पूर्वीय सभ्यताओं के अध्ययन में एक क्रान्ति ला दी थी। उन्होंने अनेक यूरोपीय भाषाओं की संस्कृत से समानता को प्रमाणित किया है। संस्कृत के विकास के लिए किए गए उनके योगदान की प्रशंसा प्रसिद्ध जर्मन वेदज्ञ प्रोफेसर मैक्समूलर ने भी किया है। डा0 रामधारी सिंह ''दिनकर'' ने उन्हें भाषा के अदभुत भक्त की संज्ञा देते हुए तुलनात्मक भाषा विज्ञान का जनक बताया है तथा लिखा है कि तुलनात्मक भाषा विज्ञान का जो महत्त्व फ्रांज बाप, मैक्समूलर और ग्रिम ने खड़ा किया, उसकी नींव जोंस ने ही रखी थी। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि ''सर विलियम जोंस ने शकुन्तला नाटक को पढ़कर उसका अनुवाद अंग्रेजी में किया। इस नाटक ने यूरोप के विद्यारसिक जनों की आंखें खोल दीं। तब तक यूरोप वाले भारतवासियों को निरे जंगली समझते थे। उनका ख्याल था कि भारत में कुछ साहित्य नहीं है और जो कुछ है भी वह किसी काम का नहीं। पर शकुन्तला को पढ़कर उन लोगों का यह भाव एकदम तिरोहित हो गया। शकुन्तला की कविता, उनके पात्रों का चरित, उनकी भाव प्रवणता आदि देखकर वे लोग मुग्ध हो गये। शकुन्तला से यूरोप वालों को मालूम हो गया कि नाट्‌यविद्या हिन्दुस्तान में उन लोगों से यदि बढ़ी हुई नहीं है तो कम भी किसी तरह नहीं। वे यह भी जान गये कि जिस ग्रीक भाषा के साहित्य की श्रेष्ठता के वे लोग इतने कायल हैं, संस्कृत का साहित्य उससे भी किसी अंश में आगे बढ़ा हुआ है।''

जगदीश प्रसाद वरनवाल 'कुन्द'
रेलवे स्टेशन बाजार
आजमगढ़

अनामिका पाठक

निज़ाम के आभूषण : एक राष्ट्रीय धरोहर

''हीरा है सदा के लिए'', डिबियर डायमंड कम्पनी का यह विज्ञापन याद दिलाता है हैदराबाद के निज़ाम की और गोलकुण्डा खदान के हीरों की। आज जब न निज़ाम की सल्तनत रही और न ही गोलकुण्डा खदान में हीरे, परन्तु निज़ाम द्वारा एकत्रित गोलकुण्डा के हीरों का संग्रह सचमुच 'सदा के लिए' है जिसे आज दुनिया 'निज़ाम के आभूषण' के रूप में जानती है। 'निज़ाम के आभूषण' दुनिया का वह अनूठा संग्रह है जिसका एक–एक गहना सर्वोत्तम श्रेणी के रत्नों से गढ़ा गया है। हीरा है तो गोलकुण्डा की खदान का, मोती हैं तो बसरा के, पन्ने कोलंबिया की खदानों से निकले हैं तो माणिक बर्मा से। दुनिया भर के इन नायाब नगीनों को देशी–विदेशी कारीगरों ने बहुत खूबसूरती से सतलड़ा (सातलड़ियों वाला) या तीन लड़ियों वाले हार, चौड़ी–सी पायजेब, बड़े–बड़े बाजूबंद और छोटे–बड़े आकार के सरपेंच जैसे गहनों में गढ़ा है। जितने सुन्दर ये रत्न हैं, उतनी ही खूबसूरत उनकी चमक है और इस चमक को चार गुना करती हुई मीनाकारी की छटा है जो ज्यादातर गहनों के पृष्ठ भाग पर की गई है। कारीगरों की कार्यकुशलता, निज़ाम शासकों की पारखी नज़र और सुन्दर रत्नों, आभूषणों को एकत्रित करने का शौक और वह भी जुनून की हद तक, का ही नतीजा है यह संग्रह; जिसकी चकाचौंध और चमक से न कोई तब बच पाया था और न अब। संग्रह देखकर मन में बरबस यह प्रश्न उठता है कि इन्हें इकट्ठा करने वाले कौन थे? कैसे उन्होंने इस संग्रह को एकत्रित किया? वो कारीगर कौन थे, जिन्होंने इन्हें बनाया, इत्यादि–इत्यादि।

तोड़ा पांव जड़ावी अलमास याकूत ज़मर्रुद

बात 18वीं शती के प्रारम्भ की है जब मुगल सम्राट औरंगजेब ने अपने एक विश्वसनीय एवं साहसी सहयोगी 'मीर कमरुद्दीन' को अपने साम्राज्य के सबसे समृद्ध प्रांत, दकन का वायसराय नियुक्त किया। 1707 में औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् कमजोर पड़ते मुगल वंशजों के काल में अनेक प्रांत मुगल सत्ता से अलग हुए। अपने प्रांत को सुदृढ़ करते हुए 1720 के लगभग कमरुद्दीन ने औरंगाबाद में अपने आप को स्वतंत्र घोषित करते हुए आसफ जाह राजवंश की स्थापना की जिसने लगभग 228 वर्षों (1720–1948) तक हैदराबाद, गोलकुण्डा और उसके आस–पास के क्षेत्र पर शासन किया। कमरुद्दीन की सैन्य एवं प्रशासनिक योग्यता से प्रभावित मुगल सम्राट फर्रुखसियर ने उन्हें 'निजाम–उल–मुल्क फतेह जंग' की उपाधि से सम्मानित किया जिसका उपयोग सभी आसफ जाह शासकों ने किया।

सरपेच बचखानी अल्मास कंवल वा मनी ज़मर्रुद

जैसा कि हमेशा होता है, एक सुदृढ़ नींव पर ही बुलन्द इमारत खड़ी होती हैं। अपने 24 वर्षों के कार्यकाल में कमरुद्दीन ने अनेक ऐसे प्रशासनिक कदम उठाये जिसकी वजह से राज्य में स्थिरता एवं संपन्नता आई। यद्यपि निजाम शासकों ने दकन क्षेत्र पर शासन किया परन्तु उन्होंने मुगलों की जीवन शैली, दरबारी परम्पराओं और प्रशासन–पद्धति का ही अनुकरण किया। सम्पत्ति की महत्ता और खजाने के मूल्य को समझते हुए पीढ़ी–दर–पीढ़ी इसे पुनरावृत्त करते रहे। प्रत्येक निजाम ने आसफ

अंगुश्तरी ज़मर्रुद

जाह खजाने को बढ़ाने में भरपूर सहयोग दिया। अपने इस लक्ष्य की प्राप्ति में उन्हें उस पुरानी निषेधाज्ञा ने सहयोग दिया कि खदान से निकाले गए सर्वोत्कृष्ट रत्न शासक को ही दिए जाने चाहिए। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक भी गोलकुण्डा की खदानों में अच्छी गुणवत्ता के रत्न पाये जाते थे जिन्होंने निज़ाम के खजाने को और भी समृद्ध किया। ऐसा कहा जाता है कि गोलकुण्डा खदान से लगभग 12 लाख कैरट हीरे निकले थे जिसमें से ज्यादातर निज़ाम के खजाने में ही सुरक्षित रहे।

'नज़राना' की रस्म के अनुसार शासक और उसके परिवार को वफ़ादारी की अभिव्यक्ति के रूप में स्वर्ण, रत्न और रत्नजड़ित आभूषणों के उपहार दिए जाते थे। इस परम्परा के अनुसार अमीरों एवं जागीरदारों में निज़ाम को भेंट देने की बढ़ती होड़ ने भी उनके खज़ाने को समृद्ध ही किया। 1748 में पहले निज़ाम की मृत्यु के समय, आसफ जाह का खजाना रत्नों और रत्नजड़ित आभूषणों से परिपूर्ण था जिसे पूर्व दकनी राज्यों से संकलित किया गया था। इसी वजह से निज़ाम का दरबार दिल्ली के बाद सर्वाधिक वैभवपूर्ण था। प्रथम निज़ाम के उत्तराधिकारियों में छठे निज़ाम, मीर महबूब अली खान (1869–1911) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। आश्चर्यपूर्ण बात यह है कि महबूब पाशा स्वयं ज्यादा आभूषण धारण करने के शौकीन नहीं थे परन्तु रत्न पारखी निज़ाम ने अनेक ऐसे रत्न खरीदे जिससे खज़ाना न केवल समृद्ध हुआ बल्कि दुर्लभ एवं अद्वितीय भी बना।

महबूब अली पाशा के पश्चात् अंतिम निज़ाम उस्मान अली खान ने अपनी पैतृक संपत्ति के संरक्षण के लिए 1951–1952 में 'एच0ई0एच0 निज़ाम ज्वैलरी ट्रस्ट' और 'एच0ई0एच0' निजाम सप्लीमेंट ज्वैलरी ट्रस्ट' की संस्थापना की। लगभग दो दशकों से ज्यादा कानूनी लड़ाई भारत सरकार एवं निज़ाम के वंशजों के बीच चली। राष्ट्रीय संग्रहालय के तत्कालीन महानिदेशक डा0 एल0पी0 सिहारे के अथक प्रयासों से यह राष्ट्रीय धरोहर देश में ही सुरक्षित रही और अंततः 1995 में भारत सरकार ने 2,178,189,128 रूपये की कीमत पर 173 उत्कृष्ट आभूषणों का संग्रह निज़ाम के वंशजों से अर्जित किया। उसके पश्चात् भारत सरकार प्रदर्शनी के माध्यम से इस धरोहर को समय–समय पर जनमानस के सम्मुख प्रदर्शित करती आई है। पहली बार इसे 29 अगस्त से 31 अक्टूबर 2001 में नयी दिल्ली के राष्ट्रीय संग्रहालय में प्रदर्शित किया गया। उसके पश्चात् हैदराबाद के सालारजंग संग्रहालय में नवम्बर 2001 से 2002 तक प्रदर्शित रही। जनता की उत्साहपूर्ण प्रतिक्रिया से प्रोत्साहित भारत सरकार ने 2005 में पुनः विचार किया। 2005–2006 में सालारजंग संग्रहालय में और 2007 में राष्ट्रीय संग्रहालय में प्रदर्शित हुई है।

इस संग्रह का सबसे महत्त्वपूर्ण रत्न है ''इम्पीरियल हीरा'', जिसे आज दुनिया ''जैकब डायमंड'' के नाम से जानती है। 1884 में दक्षिण अफ्रीका की किम्बर्ली खदान से निकला यह इम्पीरियल डायमंड

सरपेंच

कंठहार

जुड़े एक रोचक तथ्य के अनुसार, महबूब अली पाशा ने इस हीरे को सामान्य रत्न की ही भांति अपने संग्रह में रखा था और उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके बेटे उस्मान अली खान को अचानक अपने पिता के स्लीपर के अंगूठे में ''चौमहल'' में पड़ा मिला था और उन्होंने स्वयं जैकब डायमंड का प्रयोग एक पेपरवेट के रूप में किया था।

जैकब डायमंड के अतिरिक्त इस संग्रह में 22 आयताकार और अष्ट–भुजाकार सपाट तराशे हुए कोलंबियाई पन्नों का संकलन है। इनका कुल भार 413.50 कैरट है। सबसे बड़ा पन्ना 59 कैरट और सबसे छोटा पन्ना 6.50 कैरट का है। आकार, गुणवत्ता और गहरे हरे रंग की चमक से पूर्ण ये रत्न निश्चित रूप से उच्च श्रेणी के हैं। ऐसा माना जाता है कि 18वीं शताब्दी में पुर्तगाल से होते हुए ये पन्ने मुगल सम्राट के पास पहुंचे थे और उसके पश्चात् निज़ाम के खजाने में।

अपरिष्कृत रत्नों के अतिरिक्त इस संग्रह के सभी आभूषण विभिन्न रत्नों से सुसज्जित हैं। इसमें सबसे उल्लेखनीय है 'सरपेच' का संग्रह। एक सरपेच सपाट तराशे हुए पन्ने, पुराने ढंग से तराशे हुए हीरे, पन्ने की लटकनों और स्वर्ण जड़ित

अपने अपरिष्कृत रूप में लगभग 457.50 कैरेट भार का था। इसे एमस्टर्डम में तराशा गया और यह हीरा कैरट, रंग और स्पष्टता का सुन्दर मिश्रण है। 58 फलक वाले और 184.75 कैरट भार वाले इस हीरे को एलेक्जेंडर मैलकम जैकब ने 1891 में महबूब पाशा को बेचा। तयशुदा 'एक करोड़ और बीस लाख' की कीमत की अग्रिम राशि के रूप में महबूब पाशा ने जैकब को 23 लाख रूपये दिए। इसकी खरीद के लिए उनके द्वारा किए गए लेन–देन से दांडिक वाद उत्पन्न हुआ और निज़ाम को एक कमीशन के समक्ष साक्ष्य देने का अपमान सहन करना पड़ा। और अंत में मात्र अग्रिम राशि मूल्य में ही महबूब अली को यह हीरा प्राप्त हुआ। 1995 में जब भारत सरकार ने निज़ाम के वंशजों से इस खजाने को खरीदा था उस वक्त जैकब डायमंड की कीमत 400 करोड़ रुपये आंकी गई थी। इस हीरे से

पायज़ेव याकूत वा अल्मास बाजू मरनूय

नाशपाती के आकार की हीरे की लटकनों से युक्त है। वहीं एक अन्य सरपेच सुन्दर तराशे हुए माणिक्य की लटकनों से भी युक्त है। एक छोटी–सी चिड़िया से सजा, सपाट तराशे हीरे, छोटे गोलाकार लटकन से युक्त छोटे सरपेच निश्चित रूप से राजकुमारों के लिए ही बने थे। निज़ाम की बेगमों द्वारा प्रयोग की गयी 'तावीज चोटी' इस संग्रह का आकर्षक शीर्ष आभूषण है जिसे बालों में बांध कर आगे की ओर करके पहना जाता था। मोती की माला से बंधा अग्र फलक दोनों तरफ से हीरों से जड़ा है।

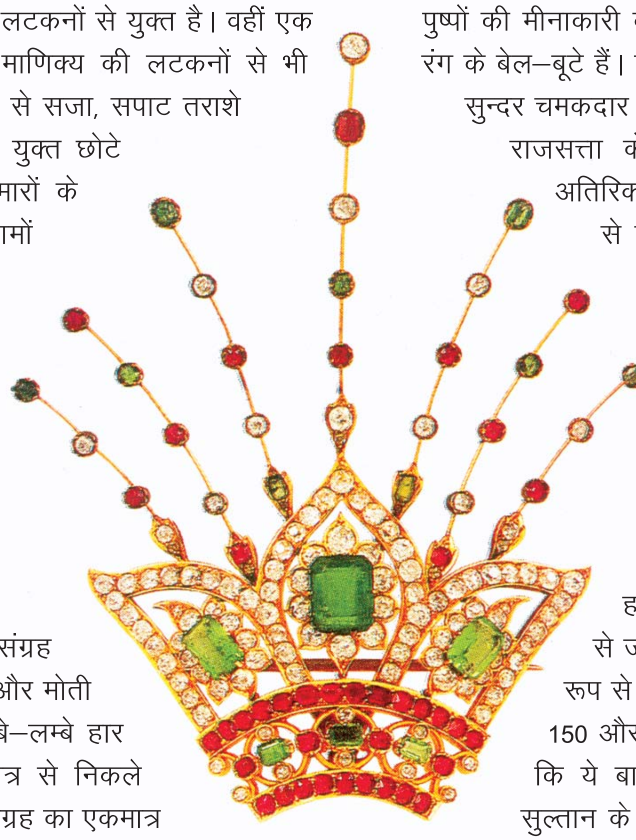

तुर्रा–ए–ज़मर्रुद कंवल अलमास वा याकूत

'कंठी' अथवा 'हार' का संग्रह बहुत समृद्ध है जिसमें हीरे, पन्ने और मोती से बने चिन्तक, हंसुली और लम्बे–लम्बे हार भी हैं। कश्मीर के किश्तवार क्षेत्र से निकले नीलम से जड़ा चिंतक हार इस संग्रह का एकमात्र नीलम का आभूषण है। सुन्दर तराशे हुए हीरे और नीलम रत्नों के फलक एवं लटकन इस चिंतक को और भी सुन्दर बनाते हैं। तीन लड़ों वाली कंठी में हीरे के मनके लगे हैं। बसरा के श्रेणीकृत मोतियों से निर्मित सतलड़ा सुन्दर कंठहार है। अग्रभाग में त्रिभुजाकार संयोगी पेंच लगाए

बाज़ूबंद मुरस्सा

गए हैं और केन्द्र में छोटे हीरों के समूह के मध्य बड़ा पर्णयुक्त सपाट तराशा हुआ हीरा है। पृष्ठ भाग पर गहरे लाल रंग के पुष्पों की मीनाकारी की गई है और श्वेत आधार पर हरे रंग के बेल–बूटे हैं। इस कंठहार में पिरोए गए 465 मोती सुन्दर चमकदार हैं। इस प्रकार के कंठहार भारत की राजसत्ता के चरम प्रतीक थे। सतलड़ा के अतिरिक्त मोती और माणिक्य से बने लम्बे से हार की छटा देखते ही बनती है।

कंठहार के पश्चात् निज़ाम आभूषणों में विभिन्न आकार, डिजाइन के बाजूबंद, कंगन, चूडियां हैं जो कि हीरे से जड़ित हैं। ज्यादातर के पृष्ठभाग में सुन्दर, आकर्षक मीनाकारी की गई है। इन सभी हाथों के आभूषणों में कोलंबियाई पन्ने से जड़े तावीज बाजूबंद का जोड़ा विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनका भार लगभग 150 और 100 कैरट है। ऐसा माना जाता है कि ये बाजूबंद कभी मैसूर के शासक टीपू सुल्तान के थे और निज़ाम अली खान, आसफ जाह द्वितीय, ने इन्हें टीपू सुल्तान से लूटे गए माल के रूप में प्राप्त किया था।

52 अंगूठियों के संग्रह में हीरे, पन्ना, मोती, नीलम, फिरोजा, लहसुनिया, माणिक्य पुखराज जैसे रत्नों से जड़ी अंगूठियां है। इन अंगूठियों में छोटे–बड़े रत्नों को सुन्दर ढंग से तराश कर सजाया गया है। स्वर्ण में जड़ित तीन नगी हीरे और तीन नगी माणिक्य की अंगूठी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। पन्ने की एक अंगूठी को उत्कर्णित किया गया है। पन्ने जैसे नाजुक रत्न पर उत्कीर्णन निश्चित रूप से भारतीय रत्नकारों की परिष्कृत कला की ओर इंगित करता है। सबसे असाधारण अंगूठी है स्वर्ण में जड़ित एलेक्जेंड्राइट रत्न की अंगूठी। यह विश्व के दुर्लभ रत्नों में से एक है और इस रत्न की विशेषता है कि कृत्रिम प्रकाश में देखने पर इसका रंग प्राकृतिक दिन के प्रकाश के पन्ने जैसे हरे रंग से परिवर्तित होकर भूरा सदृश लाल हो जाता है।

बाजूबंद अलमास या मोती

अंगूठियों के इस नायाब संग्रह की ही भांति बेल्ट का संग्रह भी उल्लेखनीय है जिसका उपयोग निज़ाम बड़े चाव से किया करते थे। सोने के तारों अथवा ज़ारी के धागों से बनी पेटी पर तरह–तरह के बगलुस (बकल) का उपयोग किया गया है। इनमें प्रमुख है नवरत्न से जड़ित, आयाताकार पन्नों से सजे, छोटे परन्तु आकर्षक माणिक्य, चमकदार पेरीडॉट और सपाट एवं पुराने ढंग के तराशे हीरों से सजे बकसुए। ज्यादातर बकसुए फूलों की आकृति में सजे हैं परन्तु एक बकसुए पर सिंह की आकृति बहुत मनमोहक है। अनुष्ठान के समय पहनी जाने वाली बेल्ट अपनी लम्बाई की वजह से विशेष आकर्षण का केन्द्र है।

जेब घड़ी और घड़ी चेन का समूह भी इस संग्रह में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। मोती, हीरे और पन्ने की यह आकर्षक घड़ी चेन निज़ाम के उच्च शौक की ओर ही इंगित करती है। सुर्ख लाल रंग के माणिक्य, गहरे लाल रंग के पन्ने और सपाट एवं सुन्दर तराशे हुए हीरों से जड़े अचकन के बटन के भी अनेक सेट हैं। कफलिंक एवं अचकन के बटन का उपयोग महबूब अली पाशा ने काफी किया है।

लू लू याकूत वा अलमास कंवल वा लाडली

बटन, कफलिंक, बेल्ट, बाजूबंद, हार, सरपेच और अंगूठियों से बना यह निज़ाम के आभूषणों का संग्रह निश्चित रूप से भारत के विशालतम और समृद्ध संग्रहों में से है। किन्तु यह निज़ाम के पूर्ण खजाने का एक भाग ही है। ऐसा कहा जाता है कि निज़ाम अपने मोतियों को गेहूं की भांति बालटियों में भर–भर कर जब अपने महल की छत पर धोने के पश्चात् डालता था तो महल की पूरी छत भर जाती थी। बीसवीं शती के प्रारम्भ में विदेशी पत्रकारों ने भी छठे निजाम को दुनिया के सबसे ज्यादा दौलतमंद व्यक्ति के रूप में ही वर्णित किया है जिसका मूल्यांकन करना बहुत कठिन था। जनवरी 1950 में जब दिनशाह जे0 गजदार को निज़ाम ने अपनी दौलत का मूल्यांकन करने के लिए बम्बई में बुलाया तब उसने फलकनुमा महल के कलात्मक कृतियों के बाद 'किंग कोठी' महल के तहखाने में कई दिन बिताये। कहते हैं कि 120 फुट लम्बा और 40 फुट चौड़ा कमरा आभूषणों और अन्य पैतृक धरोहरों से भरा हुआ था। गजदार, जो कि बम्बई का एक मशहूर सुनार था, ने एक–एक रत्न एवं आभूषण को देखा, परखा और सराहा और अंत में उसने निजाम से कहा कि, ''अब मुझे यदि इनकी अनुकृति भी बनाने को कहा जाए तो मैं नहीं बना पाऊंगा। निश्चित रूप से यह दुनिया का एक अद्भुत खजाना है जिसका मूल्यांकन करना मेरे लिए बहुत कठिन है।'' यह राष्ट्रीय धरोहर बरबस याद दिलाती है कि हमारा देश वाकई में सोने की चिड़िया था।

अनामिका पाठक

संग्रहाध्यक्ष, राष्ट्रीय संग्रहालय

नई दिल्ली

सुरेश सलिल

गंजीफ़ा :

बावन पत्तों का शोकगीत

''चल, दिदिया चल! इस मुहल्ले में लाल पान की बेगम बसती है।'' फणीश्वरनाथ रेणु की एक बहुचर्चित कहानी का यह संवाद जंसी की पतोहू द्वारा बिरजू की मां की तरफ़ छोड़ा गया व्यंग्य बाणभर नहीं है, बल्कि इस बात का सबूत भी है कि लोक संस्कृति की कितनी बारीक पकड़ उस अमर कथाकार को थी। जिस कुर्माटोली गांव में 'ठेठर–बैसकोप का गीत' सिर्फ़ 'पतुरिया' के हिस्से रहता हो, उसी गांव में लाल पान की बेगम' जैसे मुहावरे का आमफ़हम होना लोक संस्कृति के उस पहलू को उजागर करता है, जिसका एक सिरा, 'जलसाघर' और 'ताशेरदेश' के भद्रलोक की संस्कृति से जुड़ा है, तो एक और सिरा बम्बई की फिल्मी दुनिया, महानगरों, पांच सितारा होटलों और जुआरी क्लबों तक चला गया है।

लाल पान की बेगम। यानी ताश की गड्डी का एक बड़ा पत्ता, जो एक ओर अगर आंचलिक स्पर्श पाकर घटते–घटते 'पान की बेगी' रह जाता है, तो दूसरी ओर औपनिवेशिक मानसिकता से ग्रस्त स्काइ–हाइ अट्टालिकाओं में पहुंच कर 'क्वीन आफ़ हार्ट' हो जाता है।

ताश का खेल दुनिया का शायद एकमात्र 'इन डोर' खेल है जिसे वर्ग भावना का संक्रामक रोग छू तक नहीं पाया है। जमींदार साहब की चौपाली रंगरेलियों के बीच ताश की गड्डी है, तो सुनसान चरागाहों की फुफकारती दुपहरी में किसी दरख़्त की दुबकी छाया या गुंगुआती शामों में चरियल मैदान के किसी घेरे में नंग–धड़ंग चरवाहों के बीच भी पिसती– फिरती–बंटती ताश की गड्डी देखी जा सकती है। मदरसों में मुदर्रिस अगर लड़कों को काम दे–दिला कर वक़्त बिताने के लिए ताश की बाजी बिछा रहे हैं, तो उधर 'ख़ुराफ़ाती' छोकरे भी पानी पीने या पेशाब के बहाने क्लास से चुपके से खिसक कर किसी झाड़ी की आड़ में दुबके पत्ते बांट रहे हैं। जेलर साहब और वार्डनों के पास अपनी ताश की गड्डी है, तो हाजत में बंद क़ैदियों ने भी किसी तरह कुछ दे–दिला कर एक गड्डी स्मगल कर ली है। गर्ज यह है कि मजदूर से लेकर ज़मींदार तक और चपरासी से लेकर मंत्री तक हर कहीं ताश की गड्डी पाई जा सकती है। दिल्ली में चांदनी चौक, नई सड़क पर पहाड़गंज के व्यापारियों– मुनीमों–दलालों

को रविवार या छुट्टी के दिन किसी दुकान के ख़ाली पड़े प्लेटकार्म या सड़क की फुटपाथ पर ताश के पत्तों के साथ वक़्त काटते असानी से देखा जा सकता है, तो रोज़ सुबह–शाम गाज़ियाबाद से दिल्ली और दिल्ली से गाजियाबाद करते बाबुओं–किरानियों को 'शटल' गाड़ियों में कुछ इसी तरह की गहमा–गहमियों के बीच आप अक्सर देख सकते हैं। जो सीट हासिल करने में कामयाब रहते हैं वे सीट पर फड़ जमा देते हैं और या जिन्हें सीट नहीं मिलती वे किसी सीट के सहारे अपने ब्रीफकेस को टिका कर उसी पर, खड़े–खड़े, पत्ते बांटने लग जाते हैं।

लेकिन इन सारे हल्कों में ताश के खेल की हैसियत वक़्त काटने से आगे कभी कभार ही जा पाती है, जबकि पांच सितारा होटलों में, सभी तरह की ऐय्याशियों से भरे क्लबों में पहुंचते ही वही ताश की गड्डी तरह–तरह की आर्थिक साजिशों, अपराधों की हैसियत पा लेती है और लाल पान की बेग़म 'लाल परी' और महंगी सिगरेटों की सहेली बन जाती है। ताश के महज किसी एक पत्ते पर हजारों–लाखों के वारे–न्यारे हो जाते हैं'–काला धन ताश के पत्तों के इशारों पर नाचता नजर आता है। जुआघरों में पहुंचकर वही ताश की गड्डी तरह–तरह के अपराधों का काला लबादा ओढ़ने तक से नहीं संकुचाती। और भोला–भोला सीधा–सा 'गाइड' राजू एक लाख के बैंक चैक पर फर्जी दस्तख़त करने के जुर्म में हथकड़ी पहना कर जेल भेज दिया जाता है।.....

लेकिन ताश के जिन पत्तों से कोर्ट पीस, फ्लैश–रमी आदि जिन खेलों से हमारी वाकफ़ीयत है, वे हमारे अपने नहीं हैं, बल्कि पिछले तीन–चार सौ सालों की विदेशी औपनिवेशिक घुसपैठों के रास्ते पुर्तगालियों, फ्रांसीसियों, बर्तानियों के जरिये हम तक पहुंचे और हमारे बीच जड़ें जमाकर बैठ गये और हमें अपने मुग़लई, दशावतारी, रामायणी गंजीफ़ों का ख्याल तक नहीं रह गया! अब तो तथाकथित ग्लोबल कल्चर के नाम पर उपभोक्तावाद के सैलाब में सब कुछ बहा जा रहा– हम कुछ भी सहेज नहीं पा रहे! गंजीफ़ा! यानी ताश के खेल का वह पारंपरिक नाम, जो कुछ अरसा पहले तक मुल्क हिंदुस्तान के मुख़्तलिफ़ हल्क़ों के अलावा नेपाल, ईरान, तुर्की और कुछेक अरब मुल्क़ों में आमफ़हम था। हालांकि ताश के खेल के जन्म और इतिहास की बाबत कई तरह की बातें जुबानी और लिखित रूप में सामने आती रही हैं, और यूरोप–एशिया के मुल्क़ इस बात का दावा पेश करते रहे हैं कि दिमाग़ी कसरत के इस नायाब खेल की शुरूआत इनके यहां

से हुई, लेकिन तसल्लीबख़्श सबूत का तर्क उनमें से कम मुल्क़ ही दे पाये। बहरहाल ताश के खेल के जन्म और इतिहास का जो सबसे यकीनी सूराग अब तक हाथ लग सका है वह है युसूफ़ इब्न तागरी बिर्जीस के ग्रंथ 'एनल्स आफ इज़िप्ट एंड सीरिया' में दर्ज एक वाक़या, जो शायद 1399 से 1412 के दरमियान का दमिश्क का है। उसमें बताया गया है कि एक ममलूक ओहदेदार ने, जो बाद में सल्तनत की गद्दी पर बैठा, दूसरे ओहदेदारों के साथ 'कंजिफ़ह' खेला और जीत के बतौर एक मोटी रकम हासिल की। इसमें शक की कोई गुंजाइश नहीं है कि वह 'कंजिफ़ह' एक तरह का ताश का खेल ही नही रहा होगा, क्योंकि उससे काफ़ी–कुछ मिलता–जुलता 'कंजफ़ह' लफ़्ज़ ताशों की उस प्रसिद्ध गड्डी के एक पत्ते पर खुदा पाया गया है, जिसे 'ममलुक सेट' के नाम से जाना जाता है। तुर्की के वही 'कंजिफ़ह' और 'गंजफ़ेह' हो गये और आमफ़हम बोलचाल तक पहुंच कर 'गंजीफ़ा' बन गये।

फ़ारस में 16वीं सदी के आखिरी सालों और 17वीं सदी के शुरू चौथाई हिस्से के दौरान, जब वहां शाह अब्बास अव्वल की हूकूमत थी, आठ रंगों वाले गंजीफ़े का प्रचलन था। उसके बाद शाह अब्बास दोयम की हुकूमत के दौरान गंजीफ़े के खेल को वहां कुछ इतने गहरे दफ़ना दिया गया कि अरसे तक सिर न उठा पाया।

सही मायने में देखा जाये तो गंजीफ़े के खेल का असली निखार–संवार अपने यहां, हिंदुस्तान में हुआ। अंदाज़ा लगाया जाता है कि ताश के पत्ते और उनके खेलने का तरीका हिंदुस्तान में बाबर लाया होगा, क्योंकि बाबर के जून 1527 के रोजनामचे में एक जगह ज़िक्र आता है कि ''जिस रात मैंने आगरा छोड़ा, बख़्तरबंद मीर अली को तत्ता के शाह हसन के पास गंजीफ़ा की गड्डी पहुंचने वास्ते भेजा गया, जो उसे बेहद पसंद थी और जिसके लिए उसने खासतौर पर कहा था।''

बाबर के रोजनामचे से हालांकि यह बात साफ़ नहीं हो पाती कि वह किस तरह के गंजीफ़ा की गड्डी रही होगी, फिर भी बहुत मुमकिन है कि वह आठ रंगों की गड्डी रही हो। बाबर की बेटी और हुमायूं की बहन बेग़म गुलबदन ने भी कई मजेदार और मनोरंजक खेल खेले जाने की ताईद की है। 16वीं सदी में तो गंजीफ़ा की कई क़िस्में वजूद में आ चुकी थीं। अबुल फ़जल ने आईन–ए–अकबरी के जिस हिस्से में बादशाह अकबर के पसंदीदा खेलों का बयान किया है, उसमें गंजीफ़ा की दो तरह की गड्डियों का ज़िक्र आता है : ''यह एक जाना–पहिचाना खेल है। जहांपनाह ने इसके कुछ पत्तों में तब्दीलियां की हैं। बुजुर्गों ने एक रंग के बारह पत्ते तय पाये थे और बारहवें पत्ते को सबसे पायेदार माना था। लेकिन उनका ध्यान इस बात की तरफ़ नहीं गया कि बारहों बादशाह (अमीर) बारह अलग–अलग क़िस्म के होने चाहिए। जहांपनाह नयी क़िस्म की गड्डी से खेलते हैं।'' आईन–ए–अकबरी में आठ रंगों वाले और बारह रंगों वाले गंजीफा कार्डों का पूरा ब्यौरा दिया गया है।

सत्रहवीं– अठारहवीं सदियों के दौरान गंजीफ़ा तक़रीबन हिंदुस्तान के सभी शाही इलाकों में मनबहलाव के एक बहुत प्रचलित साधन के रूप में स्वीकार कर लिया गया था। दिल्ली में लाल क़िले के दरबारे–ख़ास से लेकर मुल्क के तमाम सुल्तानों, नवाबों, सूबेदारों, ताल्लुकेदारों, जागीरदारों की महफ़िलें, महल–दुमहले और हवेलियां गंजीफ़े के तरह–तरह के खेलों से बा–रौनक रहती थीं। उधर जनानखानों में भी उसकी रसाई हो चुकी थी और दिन–रात हरमों में कैद रहने वाली पर्दानशीं बेग़मों के दिलबहलाव का एक साधन हाथ आ गया

सत्रहवीं– अठारहवीं सदियों के दौरान गंजीफ़ा तक़रीबन हिंदुस्तान के सभी शाही इलाकों में मनबहलाव के एक बहुत प्रचलित साधन के रूप में स्वीकार कर लिया गया था। दिल्ली में लाल क़िले के दरबारे–ख़ास से लेकर मुल्क के तमाम सुल्तानों, नवाबों, सूबेदारों, ताल्लुकेदारों, जागीरदारों की महफ़िलें, महल–दुमहले और हवेलियां गंजीफ़े के तरह–तरह के खेलों से बा–रौनक रहती थीं।

था। इस तरह आठ रंगों और 96 पत्तों वाला मुग़लई गंजीफ़ा सारे मुल्क में फैल गया और उसे एक आवाज़ में मंजूर भी कर लिया गया। लेकिन केरल–तमिलनाडु जैसे दक्षिण के अंदरुनी हलक़ों में यह खेल उतनी तेज़ी से नहीं फैल पाया। इसकी अपनी सांस्कृतिक वजहें थीं।

मुग़ल शैली के बाद गंजीफ़ा के विकास का अगला चरण दशावतारी गंजीफ़ा माना जाता है। इस नयी शैली की शुरूआत कब–किसने–कहां की, इसके ठीक–ठीक ऐतिहासिक प्रमाण अभी सुलभ नहीं हो पाए हैं, लेकिन अनुमानतः गंजीफ़ा की यह नयी शैली उत्तर–दक्षिण और हिंदू–मुस्लिम संस्कृतियों के मिलन–स्थल आंध्र में विकसित हुआ होगा। इसे एक तरह से गंजीफ़ा का हिंदवी संस्करण भी माना जा सकता है। यह दशावतारी गंजीफ़ा न सिर्फ राजस्थान, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, महाराष्ट्र, कर्नाटक, आंध्र, बंगाल आदि देश के व्यापक हिस्सों में तेजी के साथ फैला और लोकप्रिय हुआ, बल्कि नेपाल तक इसनें अपनी शोहरत के डंके बजाये। स्टैंडर्ड मुग़लई गंजीफ़ा सेट में आठ रंगों के कुल 96 पत्ते थे– हर रंग के बारह–बारह, हर रंग के दो पत्ते चेहरेशाही और दस हिंदसेदार। दशावतारी गंजीफ़ा में आठ की जगह दस रंग कर दिए गए और उनके नाम विष्णु के दस अवतारों से जोड़े गए। बाद में उड़ीसा में एक नयी गड्डी तैयार की गई, जिसमें गणेश और स्कंद को और जोड़कर रंगों की संख्या 12 कर दी गई। आगे चलकर यह सिलसिला 16 और 20 रंगों तक गया।

गंजीफ़ा के भारतीय विकास का एक सिरा महाराष्ट्र से भी जुड़ा है। दशावतारी गंजीफ़ा के अस्तित्व में आने के बाद वहां आठ, नौ, दस और बारह रंगों वाले न जाने कितने गंजीफ़ा–सेटों

का जन्म हुआ और उन्हें लोकप्रियता भी मिली। आठ रंगों का 'नवग्रह सेट', बारह रंगों का 'दिक्पाल सेट', नौ रंगों का 'राशि सेट' आदि। इसी हिंदवी शैली में 'रामायणी सेट' भी विकसित किया गया।

महाराष्ट्र की ही तरह, दक्षिण में कर्नाटक में भी नये गंजीफ़ा सेटों की खूब भरमार रही। 19वीं सदी के दौरान मैसूर के शासक कृष्णराज तृतीय ने इस खेल में तरह–तरह के प्रयोग किए, जिनका विस्तृत ब्यौरा उनके यादगार संदर्भ ग्रंथ 'तत्व निधि' के अंतिम अध्याय में सुरक्षित है।

गंजीफ़ा के पत्ते हस्तशिल्प के उत्कृष्ट नमूने होते थे। जब तक यह खेल राज–दरबारों और राज–परिवारों तक सीमित था, इनके निर्माता चित्रकारों की संख्या भी सीमित थी और हाथी दांत, कछुए की खोल या पॉलिशयुक्त कीमती धातुओं के टुकड़ों पर कलाकारी करके गंजीफ़ा के पत्ते बनाये जाते थे। पत्तों का आकार गोल होता था और उनकी पीठ पर आलंकारिक डिज़ाइन उभारी जाती थीं। लेकिन जैसे–जैसे खेल की लोकप्रियता बढ़ती गई और तरह–तरह की शैलियां अस्तित्व में आईं, वैसे–वैसे गंजीफ़ा सेटों की मांग में भी तेजी आई। जब यह खेल महलों–हवेलियों तक सीमित रहने के बजाय सामान्य जन तक पहुंचा तो गंजीफ़ा सेटों की दो श्रेणियां हो गईं। एक दरबारी, दूसरी बाज़ारी। बाज़ारी गंजीफ़ा गड्डियों की मांग इस तेज़ी से बढ़ी कि गंजीफ़ा–कलाकारों का एक बहुत बड़ा तबका देशव्यापी स्तर पर अस्तित्व में आया, जो क्षेत्रीय सांस्कृतिक विशिष्टताओं से मुक्त तरह–तरह के गंजीफ़ा सेटों पर बड़े पैमाने पर उत्पादन करने लगा।

लेकिन गंजीफ़ा पत्तों की निर्माण–प्रक्रिया इतनी श्रमसाध्य थी कि कलाकार परिवारों के सभी सदस्यों को उसमें जुड़ना पड़ता था। बाज़ारी श्रेणी के गंजीफ़ा के पत्ते कपड़े के टुकड़ों पर बनाए जाते थे कपड़ों के गोल टुकड़ों को काट कर सबसे पहले गोंद से एक के ऊपर एक कई परतें चिपकाई जाती थीं, माड़ लगाकर सुखाई जाती थीं, इमली के घोल की परतें चढ़ाई जाती थीं और तब उस पर चूने की परत चढ़ाकर चिकनी और गोल सतह वाले पत्थर के टुकड़ों से तब तक घोंटा जाता था जब तक कि चिकनी और चमकदार सतह तैयार न हो जाए। इस तरह पट–निर्माण की प्रक्रिया पूरी होने के बाद उन पर कई–कई बार रंग चढ़ाया जाता था और सबसे अनुभवी वरिष्ठ चित्रकार बारीक कूची से उन पर आकृतियां उभारता था। छोटे–नौसिखुआ चित्रकारों के जिम्मे छोटे यानि हिंदसे वाले पत्तों का काम सौंपा जाता था। सामान्यजनों के उपयोग वाले इन पत्तों का पिछला हिस्सा प्रायः सादा रखा जाता था। कभी–कभार उनके गोल किनारे रंग दिए जाते थे, या बीच में एक छोटा–सा फूल बना दिया जाता था। पत्तों की गड्डी रखने के लिए कलात्मक क़िस्म के बक्से भी बनाये जाते थे, जिनकी कलाकारी पत्तों की कलाकारी जैसी ही रखी जाती थी।

लेकिन जैसे–जैसे यूरोप के साम्राज्यवादी मंसूबे हिंदुस्तान पर अपना काला साया फैलाते गए, यह सारा नज़ारा तेज़ी से ख़त्म होता नज़र आने लगा। पहले पुर्तगाली आये, फिर बर्तानवी और फ्रांसीसी। वे अपने साथ अपने–अपने ताश के खेल भी लाए। नतीजतन मुग़लई, दशावतारी, गंजीफ़ा और दूसरे तरह–तरह के गंजीफ़ा तो हाशिये पर खिसकते गए और यूरोपी ताश की गड्डियां प्रचलन में आती गईं। उन्नीसवीं सदी में तो मशीनों से छपे चमक–दमक पाले गुलाम–बेग़म बादशाह और पान (हार्ट), ईंट (डायमंड), हुकुम (स्पेड) और चिड़ी (क्लब) वाले ताश के पत्तों का प्रचलन हो चला। चार रंगों और बावन पत्तों के खेल में सारा हिंदुस्तान सिमट गया। न यह गंजीफ़ा रहा, न गंजीफ़ा के वे कलाकार रहे। बिडम्बना देखिए, कि जिन यूरोप वालों ने हमें हमारे पारंपरिक गंजीफ़ा खेल से वंचित किया, वहीं उसे अपने संग्रहालयों में क़ैद किए हमें मुंह चिढ़ा रहे हैं। उनकी लाल पान की बेग़म कुर्माटोली की जंसी की पतोहू की ज़ुबान पर मुहावरा बन कर थिरक रही है और बिरजू की मां सुन–सुन कर लाल हुई जा रही है: ''ठीक ही तो कहा उसने। हां, मैं लाल पान की बेग़म हूं। यह तो कोई बुरी बात नहीं! हां, मैं सचमुच लाल पान की बेग़म हूं।''

_सुरेश सलिल_
_गली नं. 5, सादत पुर,_
_दिल्ली–110094_

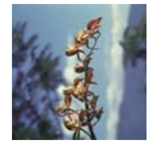

राजेन्द्र अवस्थी

सिक्किम के पहाड़ों में

पहाड़ों से टकराती आवाज़ें

नये दिन के सफर की थकान के बावजूद मुझे नींद नहीं आ रही थी। तंबू से बाहर निकल कर देखा, घुप्प अंधेरा था, दूर–दूर तक कहीं रोशनी नहीं थी, यहां बिजली नहीं थी। मैंने टार्च जला कर देखा– बादल आवारा की तरह घूम रहे थे, बारिश के कारण हवाएं काफी तेज और सर्द हो गयी थीं, सायं–सायं की एक गंभीर आवाज सारे वातावरण में गूंज रही थी।

सुबह के सूरज की पहली किरण के साथ ही जैसे कोई पलकों पर रखी हथेली को हल्के से हटा दे वैसे ही आंख खुल गयी। कैंप से बाहर आकर देखा– हरियाली से भरी गहरी घाटियां और दूसरी तरफ ऊंचे–ऊंचे पहाड़, उनकी तराई में बने धान के सीढ़ीनुमा खेत, ऊपर नीलम सा आकाश, सामने बर्फ से ढका कंचनजंगा का धवल शिखर, ठंडी हवा के स्पर्श से लहलहाती फूलों से भरी लताएं और झूमते हुए वृक्ष, चहचहाते पक्षी, हरे ढलानों पर चलती बकरियां, आस–पास खोलते छोटे–छोटे गोलमोल खूबसूरत पहाड़ी बच्चे और सुबह की सुनहली मीठी धूप। वह आनंद का एक मीठा सुखद अनुभव था।

यह है सिक्किम राज्य का नामची शहर, 4500 फुट की ऊँचाई पर बसा। यहां का वातावरण मशीनी सभ्यता की दौड़ में आगे भागे जा रहे बड़े शहरों से बिल्कुल अलग है। लोग मेहनती, ईमानदार और खुशमिजाज हैं। यहां भूटिया लेप्चा और लिंबू रहते हैं। अब सरकारी हा0 से0 स्कूल भी बन गया है, पास ही बस स्टैंड है और सामने बाजार ,जहां पान–बीड़ी–सिगरेट, फल सब्जी, रेस्त्रां, मेडिकल स्टोर, डिस्पेंसरी, पोस्ट आफिस, पुलिस स्टेशन सभी कुछ तो है।

गंगटोक के राजकीय गुम्पा का शिखर, जहां बहुमूल्य प्रतिमाएं और साहित्य सुरक्षित है।

बाजार का भी अपना मजा है!

अगले दिन हमें अपनी यात्रा पर रवाना होना था, जिसके लिए कुछ जरूरी चीजें खरीदने हम बाजार जाते हैं। हफ्ते में एक दिन यहां बाजार लगता है, जिसे हम 'पैठ' कह सकते हैं। इस बाजार में कपड़े–लत्ते, जड़ी–बूटी, साग–सब्जी, विदेशी सामान और दैनिक प्रयोग की सभी चीजों की दुकानें पटरी पर ही लगी हुई थीं। यही नहीं, सोने के जेवरात भी पटरी पर ही कागज बिछा कर बेचने के लिए रखे हुए थे। हमारे आश्चर्य का ठिकाना न था, बड़े बड़े शहरों में जिस सोने के आभूषणों की दुकानों पर लाखों रूपये सिर्फ सजावट में ही खर्च कर दिए जाते है, उसी सोने के आभूषण यहां किस

सरलता और बेफिक्री से जमीन पर पसार दिए गए थे। मैदानी शहरों में तो इस तरह की ईमानदारी और सरलता केवल मूर्खता ही नहीं, जान की दुश्मन भी बन सकती है।

नहीं भूलते मुस्कुराते चेहरे!

बाजार से कैंप तक सारे रास्ते में हमें स्थानीय लोगों के मुस्कुराहट भरे अभिवादन मिलते रहे। कुछ अध्यापिकाएं, जो स्कूल की छुट्‌टी के बाद घर लौट रहीं थीं, हमें देखकर रूक गयीं। थोड़े समय के बाद ही हम यह भूल गए कि हम इतनी दूर एक अंजान पहाड़ी इलाके में आये हैं। बातचीत के दौरान एक अध्यापिका ने पूछा– दिल्ली तो बहुत बड़ा शहर है, उसे छोड़कर कैसा लगता है यहां?

'दिल्ली तो हिन्दुस्तान का दिल है, समझ लीजिए, हिन्दुस्तान का एक छोटा नमूना जहां हर भाषा, प्रांत, जाति, धर्म और वर्ग के लोग मिल जायेंगे। इस छोटे शहर का प्राकृतिक सौंदर्य और सरलता भरा अपनापन दिल्ली की मशीनी जिंदगी में कम से कम मिलेगा।'

हम बात ही कर रहे थे कि एक छोटा लड़का इशारे से पूछ कर मेरे पास आया और एक चवन्नी लौटाते हुए बोला– 'अंकल, केला एक रूपया पच्चीस पैसे का बारह ठो है।' मुझे याद आया, मैंने एक दर्जन केले का डेढ़ रूपया दिया था, वह भी बड़ी कठिनाई के बाद, क्योंकि जो महिला दुकान पर बैठी थी उसे हिन्दी बिल्कुल नहीं आती थी और मुझे नेपाली। शायद बाद में उसने अपने बेटे से हिसाब लगवाया होगा और फालतू पच्चीस पैसे लौटाने के लिए वह यहां तक चला आया था। मैं उससे ये पैसे रख लेने को कहता हूं। वह मुस्कुरा दिया, उसकी छोटी आंखें और भी छोटी हो गयीं थीं, सिर हिलाकर वह नहीं करता हुआ भाग गया। मुझे उसकी ईमानदारी पर आश्चर्य ही नहीं गर्व भी था, जो हमारे समाज के लिए प्रश्न–चिन्ह लगाता है।

यहां के मकान छोटे जरूर थे, लेकिन रहने वालों की कलात्मकता और सफाई पसंदगी का खास नमूना थी। घरों में रेडियो, ट्रांजिस्टर या टेपरिकार्डर, तिब्बती व जापानी ढंग के चीनी के बर्तन तथा अन्य वस्तुएं काफी मात्रा में देखने को मिलेंगी। नेपाल पास होने से विदेशी सामान आसानी से मिल जाता है।

सिक्कित की लेपचा लड़की जिसने सब बंधन तोड़कर केरल निवासी से विवाह किया।

एक कठिन सफर की तैयारी

अगली यात्रा कठिन थी। हमें हिदायतें दी गयीं और हमारे कैंप लीडर ने हमें समझाते हुए कहा– 'इस साहसिक यात्रा में तुम्हारे पांव तुम्हारे चेहरे से ज्यादा महत्वपूर्ण और खूबसूरत हैं, इसलिए इनकी हिफाजत बहुत जरूरी है।' एक बार फिर हम सब ने अपने पांवों की ओर देखा। चुस्त 'हंटर शू', सधे हुए कपड़े, पीठ पर' 'रूक सैक', चेहरे पर मुस्कान, मन में उत्साह और मजबूत इरादे। हमारे क्वार्टर मास्टर, आयोजक सचिव और निदेशक सभी ने बारी–बारी हमसे हाथ मिलाया और सफल यात्रा की शुभकामनाएं कीं।

पहली यात्रा में सारी ढलान उतरकर जोरथाग से स्टेशन पर पहुंचना था जो सिर्फ 1000 फुट की ऊंचाई पर था। चलते–फिरते कितनी ही बार हम घाटियों से उमड़ते हुए बादलों में घिरे होंगे। कहीं–कहीं बहुत ही रम्य दृश्य थे। ऊंचे पहाड़ों से उमड़ती हुई सिस्ता नदी अनेक घुमाव लेकर नीचे कहीं घाटी में खो गई थी, उस पर बने हुए लकड़ी के हिलने वाले पुल ऊपर से देखने में खिलौने से लग रहे थे और नीचे कोलतार वाली छोटी सी सड़क पर आती हुई सेना की बख्तरबंद गाड़ियों व तोपों का छोटा सा कारवां इसके सीमांत प्रदेश होने की याद दिला रहा था।

ढलान उतरते–उतरते घुटने दर्द करने लगे। हमारे दल के सदस्य अब तीन ग्रुपों में बंट गये थे। मैं बीच में अकेला था, कुछ दूर जाकर मैं रास्ता भूल गया। एक ओर खेत थे और दूसरी ओर जंगल। मैंने जोर से अपने साथियों को, जो आगे निकल गए थे, आवाज दी, लेकिन पहाड़ों से टकराकर मेरी आवाज लौट आयी। दूर खेत में काम कर रही एक महिला से मैंने रास्ता पूछना चाहा, लेकिन वह मेरी भाषा न समझी। अचानक मुझे याद आया कि नेपाली में रास्ते को 'बाट ' कहते हैं और मैंने फिर आवाज देकर पूछा 'मैडम, ए बाट जोरथांग।' उसने इशारे से हाथ मिलाकर मना कर दिया और खेत से निकलकर मुझे सही रास्ते तक छोड़ने आयी।

पूछा– 'ट्रैकर'।

'हां', मैंने सिर हिलाकर हामीं भरी।

मेरे चेहरे पर छलक आये पसीने और घबराहट को देखकर मेरे कहने से पहले ही वह मेरे लिए चीनी के कटोरे में, जिस पर जापानी ढंग की फूल–पत्तियां बनी हुई थीं, पानी लायी और थोड़ा सा गुड़ भी।

वह घटना मुझे कभी नहीं भूलेगी।

कंचनजंघा का हिमाच्छादित धवल शिखर

बंद जूते पर पथराये पांव

हम काफी नीचे उतर आये थे और गरमी बढ़ रही थी, अब ढलान काफी कठिन हो गयी थी। पीछे के लोग भी मुझसे आन मिले थे। बंद जूतों में पांव ऐसे पथरा गये थे, जैसे शरीर का खून पंजों में उतर आया हो। ठहरने की गुंजाइश नहीं थी। पास ही बहते हुए एक झरने पर हमने हाथ–मुंह धोये और एक बोतल में ग्लूकोज मिलाकर थोड़ा–थोड़ा ले लिया।

अब तक 10.30 बज चुके थे और हमें जोरथांग पहुंचकर सोरंग जानेवाली एकमात्र बस भी लेनी थी जो ठीक 12 बजे तक चल पड़ती थी। जोरथांग वही स्टेशन है जो जलपाईगुड़ी नामची आते हुए रास्ते में पड़ता है। कुछ जलपान लेने के बाद हम बस से सोरंग के लिए रवाना हो जाते हैं। सारा रास्ता चढ़ाई का है जिसमें साल के घने जंगल हैं।

सोरंग 4500 फीट की ऊंचाई पर पश्चिमी सिक्किम का खासा शहर है। बस स्टाप के पास ही पुलिस चौकी पर वायरलैस के द्वारा हमारे दल के पहुंचने की सूचना पहले ही दी जा चुकी थी। पास ही गवर्नमेंट हाई स्कूल में हमारे ठहरने का इंतजाम था। खा–पी कर सब सो गए, लेकिन मेरे पांव में दर्द बढ़ता ही जा रहा था। रास्ते में एक जगह गिर जाने से मेरी दाईं कलाई भी दुख रही थी।

संगीत यहां की जिंदगी है

संगीत यहां की जिंदगी का हिस्सा है। गांव में मनोरंजन के शहरी साधन नहीं हैं, इसलिए नाचना, गाना–बजाना, घर में छोटे–बड़े तक सभी को खूब अच्छा आता है। बागवानी का लोगों को बहुत शौक है। लकड़ी के बने छोटे–छोटे दुमंजिले मकान, बाहर निकला हुआ बांस की मुंडेर वाला छज्जा और उसमें सजे हुए रंगीन फूलों के सकलात्मक गमले।

उसके बाद यहां के अध्यापकों से शिक्षण व्यवस्था और समस्याओं पर चर्चा हुई। अध्यापकों ने मिलकर एक 'क्लब' बनाया हुआ था, जहां खाली समय में वे राजनैतिक, सामाजिक व सांस्कृतिक गतिविधियों पर चर्चा किया करते थे। मैंने महसूस किया कि यहां का युवा जगत बहुत जागरूक है। वह अपने समाज को प्रगति की दिशा देना अपना दायित्व समझता है जो सराहना के योग्य है।

मुसलमान और बौद्ध चक्र

स्कूल के प्रधान अध्यापक के घर हम चाय पर आमंत्रित थे। वे जाति से मुसलमान थे, लेकिन उनके घर में बौद्ध–धर्म का प्रार्थना चक्र रखा हुआ था। उन्होंने बचपन से ही कभी मांस नहीं खाया। धर्म–निरपेक्षता का यह अच्छा संयोग था। वे मुझे सिक्किम के राजनैतिक इतिहास के बारे में बताते हैं कि किस तरह अप्रैल 1974 में चोग्याल के विरूद्ध जन आंदोलन ने जड़ पकड़ी और जनता की मांग पर भारत सरकार को हस्तक्षेप करना पडा, तब जनमत के आधार पर सिक्किम भारत का 22वां राज्य बन कर फिर से जन्मा।

वैसे यहां का समाज महिला प्रधान है। विवाह भी चोर पद्धति से होता है। लड़का लड़की को भगा कर ले जाता है। बाद में, लड़के के माता–पिता स्वयं लड़की के मां–बाप के पास जाते हैं और उन्हें कुछ भेंट देकर संबंध को स्वीकार करने की प्रार्थना करते हैं। यदि लड़के के पिता द्वारा भेंट में दी गई शराब लड़की वाले स्वीकार कर लें तो यह संबंध स्वीकृत हो गया अन्यथा लड़की के पिता की मांग के अनुसार लड़के वालों को हरजाना देना पड़ेगा। इसी प्रकार पंचायत में यदि कोई लड़की यह शिकायत कर दे कि अमुक व्यक्ति ने उसके साथ अभद्र व्यवहार किया है तो उस व्यक्ति को दण्डस्वरूप न केवल हरजाना देना होगा, वरन् गांव से बाहर भी किया जा सकता है।

इस तरह के कठोर दण्ड विधान से यहां ऐसे अपराधों की संख्या बहुत कम है।

बढ़ता गया कारवां

हमारा कारवां आगे बढ़ता गया। रात की बारिश से सारा रास्ता फिसलन भरा था। उतरते हुए बहुत सावधानी के बावजूद हमारे कई साथी बार–बार फिसल रहे थे। थोड़ी ही देर बाद बारिश होने लगी, जिसके लिए हम शुरू से ही आशंकित थे। हम प्लास्टिक शीट ओढ़कर चलने लगते, रूकने की कहीं कोई गुंजाइश नहीं नजर आ रही थी।

जैसे–जैसे आगे बढ़ते जा रहे थे, रास्ता और छोटा होता जा रहा था, इतना कि एक पांव रखने की भी गुंजाइश नहीं जान पड़ती थी। उस वक्त हम करीब 4500 फुट की ऊंचाई पर रहे होंगे। तेज बारिश और सर्द हवाओं से हमारे हाथ और होंठ गीले हो गये थे। खाना तो दूर, हममें से किसी ने पानी तक नहीं पिया था। बेहद थके हुए भी हम एक दूसरे का हौसला बढ़ा रहे थे। हम 'शॉर्टकट' लेने के लिए ढलानों के बीच जंगल में से गुजरने लगे थे। बारिश तो खैर, बंद हो गयी थी, मगर पेड़ों से टपाटप 'जोंक' गिर रही थीं। स्थिति और भी अधिक खराब हो गयी थी। जोंक यदि शरीर पर चिपट जाये तो खींचने से नहीं उतरती, उल्टा और लम्बी होकर खून चूसने लगती है, उसे तम्बाकू या नमक लगाकर नष्ट करना पड़ता है। एक साथी की जोंक उतारते तो किसी दूसरे के चिपट जाती। आखिरकार, हमें वापस उसी कच्चे और दलदल भरे रास्ते पर लौटना पड़ा। दूर–दूर तक बादलों की धुंध में डूबे हुए पहाड़ जहां इंसान तो क्या परिंदा भी नजर नहीं आ रहा था। कहीं झाड़ियों में सरसराहट होती तो नये खतरे से रौंगटे खड़े हो जाते, राहत मिलती यह

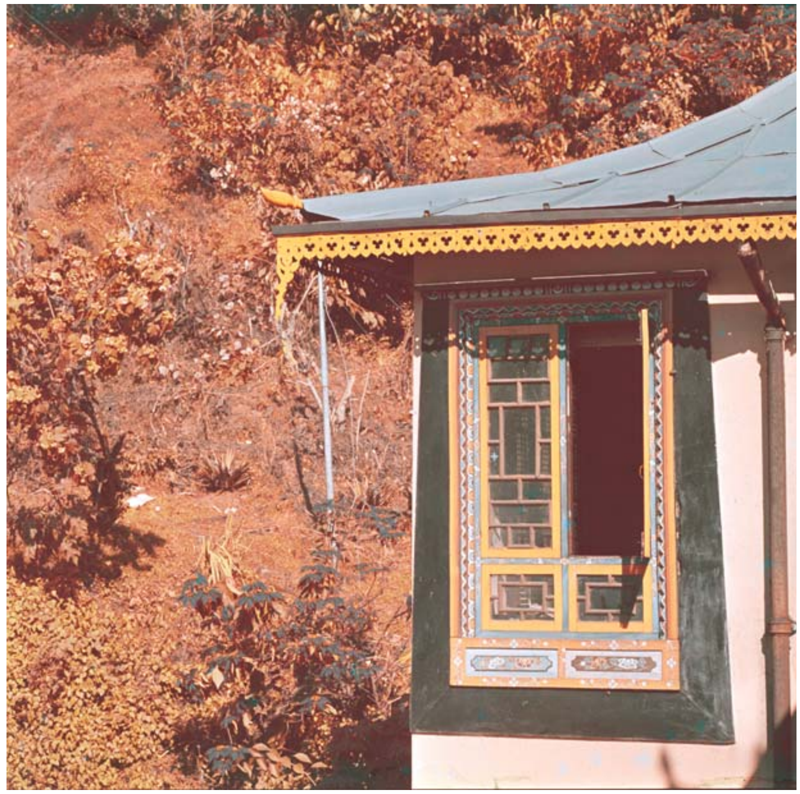

गंगटाका में पुराना और सिक्किम कला पर बना सचिवालय

देखकर कि हमारे ही पैर से खिसका हुआ कोई ढेला हमें ही डराना चाह रहा था।

पहाड़ों से टकराती आवाजें

हमने सहायता के लिए स्थानीय लोगों को पुकारा, पर पहाड़ों से टकराकर आवाज यूं ही लौट आयी। बारिश की क्रूरता, फिसलन भरी पगडंडियां, अंधेरे जंगल और जोकों का कटु अनुभव तो हमें हो ही चुका था, अब इसी तरह भटकते रात हो गयी और रीछ, भालू भी टकरा गये तो क्या होगा। हमारा अंतर्मन कहीं प्रार्थना में जुड़ा था। सिर से पांव तक भीगे, घुटनों तक कीचड़ में सने, पीठ पर 'रूकसैक' लादे हुए, हमारे पैरों को शरीर का वजन उठाना मुश्किल लग रहा था। हम आगे बढ़ रहे थे और उजाला घट रहा था। अंधेरा होने से पहले हर हालत में हमें कैंप पहुंचना था। अनजान दिशा में बढ़ता हुआ हमारा एक–एक कदम गलत होने पर हमें हजारों फीट पीछे लौटाएगा। हमें इसकी भी चिंता नहीं थी तब। तभी दूर हमें दो गड़रिये दिखाई दिए, कुछ आशा बंधी, हमने उन्हें सहायता के लिए पुकारा। उन्होंने हमें बताया कि हम भटककर दो पहाड़ आगे निकल आये थे और पीछे पहुंचने के लिए एक ही छोटा रास्ता है, दो दलदल भरी घाटियों को पार करना। अब कोई और उपाय नहीं रह गया था। दोनों गड़रियों ने हमारे 'रूकसेक' उठा लिए और एक सबसे आगे और दूसरा बीच में साथ–साथ चलने लगा। घाटी हरी काई और दलदल से भरी थी और हम लाठी से रास्ता अंदाजते चल रहे थे। कई बार लगा कि दलदल से हमारे पांव जकड़ गए हैं और अब निकल पाना मुश्किल है। लगभग 40 मिनट की कठिन यात्रा के बाद हम सही रास्ते पर पहुंच सके।

दोनों गड़रिये हमारे लिए देवदूत साबित हुए। बाद में हमने उन्हें कुछ रूपये भी दिए जो शायद उनकी सहायता की तुलना में कुछ नहीं थे। वह घटना भले ही संयोग थी, लेकिन हमारे लिए तो एक चमत्कार था। यदि वे दोनों गडरिये हमें न मिलते तो शायद हम रात भर यूं ही भटकते रहते और शायद यह यात्रा–वर्णन भी लिखने को न मिल पाता।

जब हम कैंप पहुंचे तो 7.30 बज चुके थे और सभी लोग बड़ी बेसब्री से हमारा इंतजार कर रहे थे। यहां पहुंचकर थकान भूल गये थे, पर न जाने क्यों आंखें भर आयीं थीं। उस रात इतनी ठंड में भी हम गरम पानी से नहाये, कपड़े धोये और खाना खाकर जो सोये तो कुछ भी होश नहीं था।

सभी को जुकाम

अगली सुबह हम अपपाले से देंताम के लिए रवाना हुए। पिछले दो दिनों की कठिन यात्रा, निरंतर बारिश में भीगने और ठंडी हवा के कारण सभी को जुकाम होने की शिकायत हो गयी थी। हम पहाड़ी नालों के साथ–साथ उतर रहे थे, एकदम खड़ी ढलान थी।

देंताम 5000 फुट पर छोटा सा कस्बा, अंदर तक जाती छोटी सी सड़क, बस स्टाप, होटल, टूरिस्ट लाज, सड़क के दोनों ओर दुकानें, उनसे हटकर थोड़ी दूर पर बसे हुए घर और पीछे दूर–दूर तक फैले हुए धान के सीढ़ीनुमा खेत और चारों तरफ पहरा देते हुए ऊंचे–ऊंचे पहाड़। देंताम पहाड़ों से घिरी घाटी में बसा हुआ है।

सिक्किम राज्य आर्किड के फूलों के लिए प्रसिद्ध है। यहां आर्किड के फूलों की 454 से भी अधिक किस्में पायी जाती हैं। इस पौधे की विशेषता है कि नमी वाली जलवायु के किसी पेड़ के तने पर भी इसे लगाया जाए तो जड़ पकड़ कर यह फूल देने

आर्किड की एक किस्म 'वंदा सोरूला'

लगता है। सिक्किम से आर्किड का निर्यात किया जाता है।

यहां की जेल, जिसमें कैदियों के लिए बनाये गए दो छोटे–छोटे कमरे खाली होने की वजह से बड़े लग रहे थे। पुलिस सुपरिंटेंडेंट ने बताया–'कभी–कभार 15–20 दिन में दो–चार व्यक्ति शराब पीकर हाथापाई करने या फिर मुरगी आदि चुराने के अपराध में पकड़े जाते हैं।' मुझे बड़े शहरों की याद आ गयी, जहां राहजनी से लेकर कत्ल तक के अपराध दिन दूने रात चौगुने बढ़ रहे हैं, जहां के जीवन में सुविधाएं तो हैं, लेकिन सुरक्षा नहीं।

''रात के गहरे काले आकाश में चांदी के उजले सितारे झिलमिला रहे थे। काफी निचाई पर आ जाने से लग रहा था जैसे किसी ने तारों जड़ी चादर को ऊपर से खींच लिया हो। कई दिनों से हम सांप–सीढ़ी की तरह चढ़–उतर रहे थे। उस रात मुझे बड़े अजीबोगरीब सपने दिखाई दिए।

दूसरे दिन पेलिंग के लिए हमने देंताम छोड़ दिया था, पेलिग 6,800 फुट की ऊंचाई पर बसा खूबसूरत शहर है। रास्ता 16 किलोमीटर, पूरे रास्ते में पक्की सड़क बनी हैं। सारे रास्ते में संतरे के महकते बगीचों और आर्किड के खूबसूरत फूल और संगीत बिखराते असंख्य झरने जैसे हमारा ही स्वागत कर रहे थे।

दोपहर तीन बजे हम पेलिंग पहुंच गये थे। रसद समय पर न पहुंचने के कारण हमारे कैंप में चाय तैयार न हो सकी थी और हमें चाय नीचे बाजार में जाकर पीनी पड़ी। यहां दुकानों पर लेन–देन का काम प्रायः महिलाएं ही करती हैं और इसे किसी प्रकार की कोई 'बिजनेस पॉलिसी' नहीं समझा जाता।

भित्ति चित्रों में बौद्ध दर्शन

पेलिंग का पेमायांसी मठ 6800 फुट की ऊंचाई पर बसा दूसरा प्राचीनतम बौद्ध मठ है। इसका निर्माण 16वीं शती में थेकांग तेकांग नामक दो बौद्ध भिक्षुओं ने स्थानीय जनता के सहयोग से किया था। चटकीले लाल–पीले रंगों से पुता हुआ बड़ा सा भवन जिसके चारों कोनों पर गुम्बद बने हुए हैं और बाहर धर्म–ग्रंथ लिखी हुई श्वेत पताकाएं लहराती रहती हैं। समूचा बौद्ध दर्शन भित्ति चित्रों में प्रदर्शित किया गया है। चित्रों में प्रदर्शित भाव–मुद्राएं तथा रंग संयोजन का पक्ष अद्वितीय है। कई स्वर्ण प्रतिमाएं हैं। यहां के मठाधीश का कहना है कि सोना बनाने की रासायनिक विधि आज भी उनके पास सुरक्षित है, परंतु वे उसे गुप्त ही रखते हैं। सामने भगवान बुद्ध और गुंरूरिमपोछे की स्वर्ण प्रतिमाएं हैं जिनके पृष्ठ भाग का वास्तुशिल्प पश्चिम से प्रभावित है। वैसे भी इस प्राचीन मठ पर तिब्बत व नेपाल द्वारा कई बार आक्रमण किए गए जिनमें बहुत सा स्वर्ण–मिश्रित स्याही से लिखा गया बौद्ध साहित्य जला दिया गया। एक बहुत बड़ा ग्लोब है जिसमें मानव जीवन के वे सात सोपान दिखाए गए हैं जो बौद्ध दर्शन के अनुसार निर्वाण प्राप्ति के लिए आवश्यक हैं। मठ के प्रधान पुजारी को लामा कहते हैं जो जनता में एक बहुत सम्माननीय व्यक्ति गिना जाता है। लामाओं को विवाह करके गृहस्थी में रहने की भी अनुमति होती है। मठ के लामा के. योग्दा हैं जो कभी भारतीय सेना में कैप्टन थे। उन्होंने हमें बताया –''मेरे पिता भी इसी मठ में लामा थे। मुझे शुरू से ही बौद्ध धर्म की शिक्षा मिलती रही, लेकिन मैं तब कभी धार्मिक न बन सका और शिक्षा समाप्त करके भारतीय सेना में भर्ती हो गया। तभी धीरे–धीरे मुझमें आध्यात्मिक भावना पनपने लगी। जब भी मैं यहां जाता, मुझे अपार शांति मिलती और यहां की कई प्रतिभाओं से घंटों बैठकर मैं साक्षात्कार और वार्तालाप करता .... धीरे–धीरे यह आध्यात्मिक आकर्षण इतना बढ़ा कि मैंने सेना से त्यागपत्र दे दिया और तभी से यहां हूं।'

अंजीरों के पेड़ों से ढँका रास्ता

अगली यात्रा और दिलचस्प थी। हम लेंग्शिप के लिए उतर रहे थे, रास्ता अंजीर के पेड़ों से भरा था जिनके बड़े–बड़े लाल पत्ते उड़ने को तैयार बैठी तितली की तरह लग रहे थे। थोड़ी दूर जाने पर बेहद ही रंगीन पत्तों वाले वृक्ष दिखाई दिए जो फूलों से भी ज्यादा मोहक थे। कहते हैं रंगीन पत्तों वाले वृक्ष अधिक विषैले होते हैं। लगभग आधे रास्ते तक बड़े–बड़े पेड़ों से चम्पा जैसे फूल झड़ कर रास्ते में बुरी तरह फैले पड़े थे। दूर कुछ वृक्ष बिल्कुल सफेद दिखाई दे रहे थे, जैसे किसी ने उन पर सफेद पेंट कर दिया हो। पास आकर देखा तो पता चला कि छोटे–छोटे सफेद कीड़ों ने उन्हें ऊपर से नीचे तक ढक रखा था। छोटे टिड्डे के आकार जितना छः पैरों वाला यह सफेद कीड़ा जिसके पूरे शरीर पर छोटे–छोटे रोएं निकले हुए थे, पेड़ पर इस कदर चिपके हुए थे कि तेज से तेज हवा द्वारा जोर से हिलाने पर भी नहीं गिरते थे।

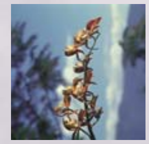

रास्ते में एक गांव पड़ता है जिसके दायीं और बायीं ओर बड़े–बड़े पत्थरों व चट्टानों पर उछलती–खेलती पहाड़ी नदी है, जो ज्यादा गहरी तो नहीं है, पर पानी का बहाव इतना तेज कि चार कदम चल पाना ही मुश्किल हो रहा था और पानी उफ! इतना ठंडा कि नहाते समय सुबकियां आने लगतीं।

हमारा अगला पड़ाव था 'बोके' जो सिक्किम का एक छोटा सा गांव है जिसमें ज्यादातर ईसाई और बौद्ध लोग रहते हैं। एक कैथोलिक चर्च है 80 साल पुराना, और उसमें नेत्रहीन पादरी। हर शनिवार को ईसाई युवक–युवतियां मिलकर सांस्कृतिक कार्यक्रम करते हैं। लोगों में इतनी धर्म उदारता है कि बौद्ध और नेपाली भी इस चर्च में उसी इच्छा से आते हैं जिस इच्छा से ईसाई। पास ही में खूबसूरत गमले, छोटी–छोटी क्यारियां जिसमें गुलाब, चमेली, आरकेड, मेरी गोल्ड, इन्दकमल के लाल, गुलाबी, सफेद, सिंदूरी, नीले, पीले जामुनी असंख्य रंगीन चटकीले फूल मिले थे। हालांकि ज्यादातर फूलों में ठंडी जलवायु के कारण सुगंध नहीं थी, फिर भी उनका सौंदर्य इतना आकर्षण भरा था कि सुगंध का पक्ष गौण ही रह गया। नर्सरी के पीछे एक ओर खेत थे और दूसरी ओर इलायची के बड़े–बड़े बाग। ढलानों से उतरिये तो दूर–दूर तक संतरे, मौसमी, आजू और अमूले जिनमें गदराये फलों की खुशबू से वातावरण गमक रहा था।

वोक की सुनहरी शाम

ढलते सूरज की किरणों में रंगी हुई 'वोक' की सुनहरी शाम मुझे आज भी नहीं भूलती जब मैंने वहां के एक अध्यापक से कहा था कि 'आपका छोटा सा गांव प्राकृतिक सौंदर्य से कितना भरपूर है। रंगीन फूल, रसीले फूलों के बगीचे, हरियाले श्वेत ऊंचे पहाड़, आवारा बादल और लहराती नदी। कहां मिलता है प्रकृति का यह विशाल वैभव।

उसने उत्तर दिया यह तो ठीक है, लेकिन यहां के जीवन में कोई गति नहीं है, कुछ सुविधाएं नहीं हैं। बाजार जाने में ही 3–4 घंटे लग जाते हैं, न मनोरंजन है, न पढ़ने लिखने की और कोई सामग्री। घर से स्कूल और स्कूल से घर।

उसने हमसे अचानक प्रश्न किया– 'दिल्ली में कई तरह की सवारी गाड़ियां चलती होंगीं।

'हां, बस, कार, स्कूटर, ट्रक, तांगा, रिक्शा बगैरा–बगैरा।'

'नौकरी और रहने की जगह तो आसानी से मिल जाती होगी।'

मैं 'ना' कहकर उसे हताश नहीं करना चाहता था, लेकिन इससे पहले ही वह बोल उठा–'मैं एक बार दिल्ली जरूर जाना चाहूंगा। देखो कब किस्मत साथ दे।'

भविष्य के अनेक सपने

उसकी आंखों में दिल्ली के गतिशील जीवन के सपने तैर रहे थे। मैं मन में सोचता हूं, छोटे से गांव के प्राइमरी स्कूल का अध्यापक, दिल्ली जाना तो जैसे उसके लिए विलायत जाने के बराबर है। उसके भविष्य के अनेक सपने और महत्वाकांक्षी दिल्ली की चहल–पहल, ऊँचे बड़े मकान, दौड़ती मोटरगाड़ियों और बड़ी तनख्वाह वाली नौकरियों से जुड़ी होगी। उसे क्या मालूम कि बड़े शहरों के जीवन में सुविधाएं होने पर भी संतोष और सुरक्षा का अभाव ही है।

उस रात कैंप में खाना बहुत अच्छा बना था। स्थानीय लोगों से भेंट में मिले ढेर सारे फल भी हमने खूब जी भरकर खाये। रात को देर तक बारिश होती रही और नाममात्र के 'कैंप फायर' के बाद हम सो गये थे।

अब हमारी यात्रा का अंतिम चरण आ गया था। हमें बेस कैंप 'नामची' वापस पहुंचना था। सुबह 10 बजे तक बारिश के रूकने का इंतजार करते रहे, आखिरकार हल्की–हल्की रिमझिम में निकल ही पड़े। रास्ता कीचड़ और फिसलन भरा था, पर आज हमारी यात्रा का अंतिम दिन था, यही हमारे लिए सबसे बड़ी खुशी थी। चलते–चलते थक जाने पर यही सोचकर हम और साहस जुटा लेते। बहुत चलने के बाद हम एक मचान पर पहुंचे। वह एक अध्यापक का मकान था। मकान पर बना लकड़ी का छोटा सा दुमंजिला घर जिसके नीचे के भाग में मुर्गियों और बकरियों के रहने का स्थान था। आगे की ओर छोटे छज्जे में रंगीन पौधे सजे थे। एक ओर अंगीठी जल रही थी, जिस पर गुंबद के आकार का स्टैंड रखा था और उस पर कपड़े सूख रहे थे। पहाड़ी इलाकों में बरसात व सर्दी के दिनों में इसी तरह

कपड़े सुखाये जाते हैं। वह हमारा परिचय अपनी पत्नी से कराता है जो स्वयं भी अध्यापिका है। थोड़ी ही देर में वह हमारे लिए चाय और उबले हुए अंडे लेकर आयी। थकती हुई शाम में उनके इस सत्कार ने नयी स्फूर्ति दी।

आप इस स्कूल में कब से पढ़ा रहे हैं? –मैंने पूछा।

'दो साल पहले जब 10वीं क्लास पास की थी तभी यहाँ नौकरी मिल गयी थी। इस वर्ष से मेरी पत्नी भी यहीं पढ़ाने लगी है।'

मुझे खुशी और ताज्जुब एक साथ थे। अभी यहां रोजगार की समस्या कतई नहीं है। दसवीं पास प्राइमरी का अध्यापक, स्कूल के बिल्कुल पास ही सरकारी आवास। और क्या चाहिए? दिल्ली जैसे महानगरों में फैलती भयंकर बेरोजगारी, जहां बी.ए, एम.ए. तो क्या, सैंकड़ों पी.एच.डी. बेकार बैठे हैं।

यह यात्रा–वर्णन गंगटोक की चर्चा के बिना अधूरा ही रहेगा। गंगटोक, सिक्किम की राजधानी, समुद्र तल से 5,500 फुट की ऊंचाई पर बसा, प्राकृतिक सौंदर्य से परिपूर्ण एक ऐसा शहर है जिसमें आधुनिक सभ्यता के विकसित चरण स्पष्ट दिखाई देने लगे हैं। जून में भी हल्के–हल्के कोहरे से भरी घाटियां, बौद्ध गुम्बाओं से आते शहनाई के मधुर स्वर, घरों के ऊपर लगीं श्वेत पताकाएं और आफिसों में लगी भगवान बुद्ध और बौद्धिसत्वों की मूर्तियां सांस्कृतिक संपन्नता की द्योतक हैं। गंगटोक के बाहरी क्षेत्र में अनेक बड़े–बड़े उद्योग स्थापित किए जा रहे हैं। सबसे ऊपर बना है–बुकलाखांग गुम्बा, यह शाही मंदिर राजप्रसाद के पास ही बनाया गया है। आजकल यहां सिक्किम की असेंबली की बैठक होती है।

गंगटोक शहर के प्रवेश–द्वार बहुत ही आकर्षक हैं, विशेषकर तांशिलिंग, जहां सचिवालय है। इसके दक्षिणी पार्श्व में लगभग हजार फुट गहरी घाटी में डियर पार्क बना है, जहां सिक्किम तथा पड़ोसी देशों में पाये जाने वाले मृग सुरक्षित हैं। गंगटोक सिक्किम का महत्वपूर्ण व्यापार केन्द्र है।

गुम्बा का प्रवेश–द्वार तथा दीवारें महायानी बौद्ध–गाथाओं से चित्रित हैं। भीतर जमीन से छत को छूती हुई भगवान बुद्ध तथा अन्य बोधिसत्वों की विशाल प्रतिमाएं हैं। इस मंदिर के सामने ही योरोपीय शैली में बना राजप्रासाद है। विश्व में अपनी तरह का अकेला तिब्बती शोध संस्थान है जहां भगवान बुद्ध के उपदेश ग्रंथ व अनुवाद (24,000) सुरक्षित हैं। बौद्ध धर्म की महायान शाखा के अनेक देशी–विदेशी विद्वान यहां शोध के लिए आते हैं।

गंगटोक के दोनों ओर लम्बे–लम्बे रास्ते हैं, एक तिब्बत को जाता है, दूसरा कंचनजंगा को। कंचनजंगा, एवरेस्ट के बाद हिमालय का दूसरी उच्चतम शिखर है। गंगटोक से नाथूला तक पक्की सड़क बनी है। नाथूला वह क्षेत्र है, जहां भारत और चीन की सीमा मिलती है। 1962 के युद्ध के समय यहां अनेक बार आक्रमण हुए। ऊंचाई 14,200 फुट, बर्फ से ढँकी गगनचुंबी शिखर, बीच–बीच में पानी से भरे कुंड, कम ऑक्सीजन वाली सर्द हवाएं और उद्याम झरने। यह क्षेत्र सामान्य पर्यटकों के लिए निषिद्ध है।

गंगटोक शहर में हम एक ऐसे परिवार से मिले जिसमें लेपचा जाति की एक महिला ने केरल की मलयाली भाषी महिला से विवाह किया। भाषायी और सांस्कृतिक विभेदों में भी नया और सुखद जीवन जीता हुआ यह परिवार सांस्कृतिक एकता के नाम पर दूसरों के लिए अनुकरणीय उदाहरण हो जाता है।

इसी तरह अनजाने लोगों से मिलते–जुलते आखिर वह मोड़ भी आ ही गया जहां से हमें नामची में लगे हमारे तम्बू दिखाई देने लगे । बेहद थकान के बावजूद हमारे चेहरे खुशी से खिल रहे थे। हमारे कैंप–मास्टर और अन्य लोग हमारी प्रतीक्षा में बाहर खड़े थे, उन्होंने आगे बढ़कर हमारी अगवानी की और हमारे सफल पद–भ्रमण पर मुबारकबाद दी।

ढलती शाम, तैरते बादल और खुशनुमा सर्द हवाओं में हमारी थकान जैसे कहीं खो गयी थी। हमने गर्म पकौड़े और कॉफी पी। मन में अपार संतोष था, जैसे सब–कुछ सपना सा था। हम 10 दिनों तक 10,000 फुट तक की ऊंचाई जैसे चढ़े और चले, जैसे कुछ पता ही न चला।

राजेन्द्र अवस्थी
एफ/12 जंगपुरा एक्सटेंशन
नई दिल्ली–110014

डॉ. वन्दना वर्मा

भारतीय पर्व एवं लोक कला चित्रण

समस्त विश्व में भारत ही एक ऐसा देश है, जहां पर्व एवं त्यौहारों का क्रम वर्ष भर चलता रहता है। लोक जीवन में इन धार्मिक उत्सवों और हर्षोन्मुख त्योहारों की इतनी बहुलता है कि संपूर्ण जीवन, मानव इनसे अविच्छिन्न रहता है। विवाह आदि संस्कारों के उपलक्ष्य में बनने वाली कलाकृतियों के अतिरिक्त प्रकृति संबंधी, सामाजिक एवं धार्मिक उत्सवों पर अनेक लोक कला बनाई जाती हैं। ये पर्व हैं जैसे– नागपंचमी, रक्षाबंधन, कृष्ण जन्माष्टमी, दशहरा, करवा चौथ, अहोई अष्टमी, दीपावली, गोवर्धन, भैयादूज, देवउठनी एकादशी आदि।

ग्राम जंधेड़ी, जिला सहारनपुर, प्रदेश यू.पी. में सक्सेना परिवार में नागपंचमी पर बनने वाला चित्र

नागपंचमी का पर्व श्रावण मास की शुक्ल पक्ष की पंचमी को मनाया जाता है। इस दिन नाग देवता की पूजा की जाती है। स्त्रियां घर की दीवारों के दोनों कोनों पर नागों के चित्र बनाती हैं। इन चित्रों की यथा विधि पूजा की जाती है। इसके अतिरिक्त लोक जीवन में यह विश्वास प्रचलित है कि नागपंचमी के दिन सर्पों को दूध पिलाने से सर्पदंश का भय नहीं रहता। अतः इस दिन सर्पों को दूध पिलाने का विशेष महत्व है। नागपंचमी के दिन नागों की आकृतियां बनाने का तरीका विभिन्न जातियों में अलग–अलग है। नागों की आकृतियाँ बनाने के तीन रूप विशेष रूप से देखे गए। उनमें से कुछ तीन सर्पों की आकृतियां बनाते हैं, कुछ पांच सर्पों की आकृतियां व कुछ सात सर्पों की आकृतियां बनाते हैं। परन्तु एक बात विशेष है कि सर्पों की आकृतियों में सर्पों की संख्या हमेशा विषम होती है।

रक्षाबन्धन का त्योहार श्रावण मास के शुक्ल पक्ष की पूर्णिमा को मनाते हैं। इस दिन बहनें अपने भाई को राखी बांधकर उनकी दीर्घ आयु की कामना करती हैं और भाई बहन की आजीवन रक्षा का संकल्प लेते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में रक्षाबंधन को सलूनो भी कहा जाता है। यह दैविक पर्व है, जिसे

विशेष रूप से ब्राह्मण वर्ग से संबंधित माना गया है, परन्तु आजकल सभी वर्गों के लोग इसे उत्साह के साथ मनाते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में सोन ज्यामितीय आकारों में बनाये जाते हैं। कहीं–कहीं पर इन सोनों में मानव आकृति भी बनाई जाती है।

श्रीकृष्ण जन्माष्टमी भाद्र पद मास के कृष्ण पक्ष की अष्टमी को मनाई जाती है। यह त्योहार भगवान श्रीकृष्ण जी के जन्मदिवस के उपलक्ष्य में बड़ी धूमधाम व हर्षोल्लास से मनाया जाता है। इसकी तैयारी लगभग 10 दिन पूर्व प्रारम्भ कर दी जाती है, क्योंकि जन्माष्टमी के दिन जगह–जगह पर मेले लगाए जाते हैं तथा छोटे–छोटे बच्चों को विभिन्न देवी–देवताओं के रूप में सजाकर झांकियाँ बनाई जाती हैं। श्रीकृष्ण जन्मोत्सव से सारे शहर व गांव रोशनी से जगमगाते हैं। श्रीकृष्ण जन्माष्टमी के दिन जनमानस अपने घरों की भित्ति पर चित्र भी बड़ी श्रद्धाभाव से अंकित करते हैं, जिनको बहुत बड़े आकार में विभिन्न रंगों द्वारा अंकित किया जाता है। इसमें श्रीकृष्ण जी के जन्म संबंधी व दिव्य लीलाएं दर्शाई जाती हैं। वस्तुतः श्रीकृष्ण जी को विष्णु जी का अवतार माना जाता है तो विष्णु जी के दूसरे अवतार रामचंद्र जी से संबंधित घटनाएं भी अंकित की जाती हैं।

सहारनपुर शहर, प्रदेश यू.पी. में वर्मा परिवार में दशहरे पर बनने वाला भूमि अलंकरण

ग्राम सरसावा, जिला सहारनपुर, प्रदेश यू.पी. में सैनी परिवार में बनने वाला करवाचौथ का चित्र

'दशहरा' या 'विजयदशमी' का त्योहार अश्विन शुक्ल दशमी को मनाया जाता है। यह महिषासुर आदि प्रबल दैत्यों पर विजय अथवा दुर्दान्त रावण पर भगवान श्रीराम जी की विजय या असत्य पर सत्य की विजय के रूप में मनाया जाता है। यह शक्ति पूजा अथवा वीर पूजा का पर्व है। इसे विशेष रूप से क्षत्रिय वर्ण से संबंधित माना जाता है। विजयदशमी के दिन आटे से राम बनाने की प्रथा प्रचलित है, जिसे स्थानीय भाषा में दशहरा बिछाना बोलते हैं। दशहरे को घर के आंगन में खुले में बिछाया जाता है। पूजन करने के पश्चात् दोपहर बाद भोजन के उपरान्त इसे उठा दिया जाता है। दशहरे को सभी जातियों में पूजा जाता है।

करवा चौथ का पर्व समस्त भारत में प्रचलित है। यह लोकोत्सव कार्तिक मास कृष्ण पक्ष की चतुर्थी को मनाया जाता है। इस दिन समस्त सौभाग्यवती हिन्दू महिलाएं उपवास करती हैं। यह व्रत हिन्दू महिलाओं के सौभाग्य संवर्द्धन हेतु अथवा चिर सौभाग्यवती बने रहने हेतु किया जाता है। इस दिन सुहागिन महिलाएं निर्जल रहकर अपने पतियों की दीर्घायु होने की कामना करती हैं। हिन्दू स्त्रियां इसे सुहाग का पर्व समझती हैं। करवा चौथ के दिन दीवार पर देवी की आकृति बनाकर पूजा की जाती है। ये आकृतियां विभिन्न प्रकार की होती हैं। इन आकृतियों को अंकित करने के लिए पहले दीवार को तैयार किया जाता है। दीवार को धोकर उस पर गोबर का पतला लेप किया जाता है। लेप के सूखने के पश्चात् भीगे चावलों को पीसकर घोल बनाते हैं व इसी घोल से सारा चित्रण कार्य किया जाता है।

अहोई अष्टमी का त्योहार कार्तिक मास की कृष्ण पक्ष की अष्टमी के दिन मनाया जाता है। लोक जीवन में इस पर्व को अति उल्लास के साथ मनाया जाता है। इस दिन महिलाएं अहोई को अंकन करती है तथा समस्त दिन उपवास रखकर रात्रि का अहोई देवी की पूजा करती है। यह व्रत सन्तान की दीर्घायु होने की कामना से किया जाता है। जिस दीवार पर अहोई देवी का अंकन किया जाता है, उसी के पास जल की भरी हुई मिट्टी की दोघट रखी जाती है। यह पर्व पुत्रवती नारियां ही करती हैं। अहोई अष्टमी के दिन लोक कलाकृतियों का चित्रण किया जाता है। ये आकृतियां मुख्यतः आयताकार अथवा वर्गाकार रूप से बनाई जाती हैं, जिसमें नीचे की ओर दायीं व बायीं ओर हाथ व ऊपर सिर बनाया जाता है। एक घर में जितनी स्त्रियां व्रत करती हैं, आकृति के उतने ही सिर बनाते हैं।

दीपावली कार्तिक मास की अमावस्या को मनाई जाती है। लोक जीवन में दीपावली पर्व के संबंध में यह कथा प्रचलित है कि रावण वध के उपरान्त जब अयोध्या से रामचन्द्र जी का आगमन हुआ, तब अवधवासियों ने सर्वत्र दीपक जलाकर अपने

ग्राम बहेड़की, जिला सहारनपुर, प्रदेश यू.पी. में ठाकुर परिवार में बना गोवर्धन का चित्र

हर्षोल्लास को अभिव्यक्त किया था। उसी के उपलक्ष्य में दीपावली का त्योहार प्रचलित हुआ। दीपावली के दिन लक्ष्मी जी, गणेश जी की मिट्टी की आकृति खरीदने की परम्परा है तथा पुरानी मूर्तियों को पानी में विसर्जित कर दिया जाता है।

गोवर्धन पूजा का उत्सव कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा को मनाया जाता है। प्राचीन काल में ही गोवर्धन की पूजा का उल्लेख मिलता है। सर्वप्रथम श्रीकृष्ण ने ब्रज भूमि में प्रचलित इन्द्र पूजा का विरोध करके गोवर्धन पूजा का महत्व प्रतिष्ठित किया था। कुछ क्षेत्रों में गोवर्धन पूजा को गोधन पूजा के नाम से जाना जाता है। गोवर्धन की पूजा सभी जातियों में की जाती है, परन्तु गोवर्धन की आकृति उन्हीं घरों में बनाई जाती है, जिनके घरों में गायें या भैंसे होते हैं, वह उतना ही सम्पन्न समझा जाता है। गोवर्धन की विभिन्न आकृतियाँ प्रचलित हैं, जिनमें आयताकार, वर्गाकार, गोल व पान के आकार में बनाई जाने वाली आकृतियाँ प्रमुख हैं। इन आकृतियों को बनाने के लिए दिन भर के ताजे गोबर का प्रयोग किया जाता है।

भैयादूज का पर्व कार्तिक मास की शुक्ल पक्ष की दूज को मनाया जाता है। यह पर्व भाई व बहन की दीर्घायु के लिए मनाया जाता है तथा इसका मुख्य उद्देश्य भाई–बहन का मिलाप है। इस दिन प्रातः स्नान करके बहन अपने भाई की दीर्घायु की कामना से व्रत करती हैं। भैयादूज मनाते समय बहनें अपने भाई के आगमन के स्वागतार्थ रंगोली व अल्पनाएं बनाकर घरों को सजाती हैं व जिस दहलीज पर खड़ा करके भाई को तिलक करती हैं, उसे हल्दी व आटे से सजाती हैं।

कार्तिक मास की शुक्ल पक्ष एकादशी को देवउठनी एकादशी त्योहार मनाया जाता है। यह एक प्रसिद्ध लोक पर्व है। जन साधारण का यह मानना है कि वर्षा ऋतु के चतुर्मास में सोये हुए देव गण इस दिन से जागृत हो जाते हैं। इसलिए विवाह आदि मांगलिक कार्य जो पिछले चार माह से बन्द थे, वे प्रबोधिनी एकादशी को देवी–देवताओं के उठने के पश्चात् पुनः प्रारम्भ कर दिए जाते हैं। इस दिन को देवोत्थान अथवा देवउठनी एकादशी भी कहते हैं। इस दिन लोक जीवन में घरों को लीपपोत कर उन्हें खड़िया, गेरू और मिट्टी से चित्रित करते हैं। घर के आंगन और फर्श पर खड़िया व गेरू से चौकों का चित्रण किया जाता है। यह लोकोत्सव लोक कला का प्रदर्शन करता है।

अपने घर के चौकों को शुभ अवसरों पर पूरने की परम्परा भारतीय समाज में अत्यन्त प्राचीन है। घर के मुख्य द्वार, आंगन व पूजा स्थल को चौक पूरने से सजाने की परम्परा बहुत पुरानी है। भारत में अलग–अलग स्थानों पर इसे विभिन्न नामों से जाना जाता है। जैसे बंगाल में अल्पना, बिहार में आरियल, राजस्थान में माण्डला, उत्तर प्रदेश में चौक पूरना, गुजरात, महाराष्ट्र में रंगोली व दक्षिण में इसे कोलम के नाम से जाना जाता है। चौक पूरने में रंगों का प्रतीकात्मक महत्व होता है। जैसे सफेद रंग शान्ति व पवित्रता के लिए, पीला रंग समृद्धि के लिए तथा लाल रंग को सौभाग्य का प्रतीक माना जाता है, जिन्हें चौक पूरने में यथा स्थान भरा जाता है।

लोक कला का लुभावना और मनोहारी पक्ष मेहन्दी लगाने की कला है। यह लोक कला का ऐसा रूप है जो नारी श्रृंगार के साथ जुड़ा है। सावन के माह में सभी जाति एवं वर्ग की स्त्रियां व लड़कियां बड़ी रूचि व उत्साह के साथ हाथों एवं पैरों पर मेहन्दी लगाती हैं। इसके अलावा भी तीज–त्योहारों पर, विवाह शादी के अवसर पर तथा सौंदर्य के वशीभूत होकर नारी मेंहदी को श्रृंगार के लिए प्रयोग करती है। मेंहदी ने कोमल, कमनीय देहयाष्टि की स्वामिनी नारी को आभूषणों के समान सौन्दर्य प्रदान किया है। इसी कारण धार्मिक अनुष्ठानों से परिपूरित ग्रामवासियों की जीवन परम्परा में सौन्दर्य का यह अलंकरण आज भी सजीव है।

लोक पर्वों पर बनने वाली लोक कलाओं को जीवन्त रखने एवं रूप प्रदान करने में स्त्रियों की विशेष व उल्लेखनीय भूमिका रही है, जिसे हमें निर्विवाद स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं करना चाहिए क्योंकि स्त्रियाँ ही अपने घर की सुख–शान्ति, समृद्धि एवं मंगल कामना की भावना से ओत–प्रोत होकर यह चित्रण बड़े श्रद्धा एवं विश्वास के साथ करती हैं।

डॉ. वन्दना वर्मा
वरिष्ठ प्रवक्ता
चित्रकला विभाग
जे.के.पी. (पी.जी.) कॉलेज,
मुज्फ़फरनगर, यू.पी.

डॉ. पद्मा देवी

हमारी लोक–कला ऐपण : सन्दर्भ कूर्मांचल

कला शब्द 'कल्' धातु से निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है सुन्दर। कला से तात्पर्य है रेखा, आकृति, रंग, ताल तथा शब्द, रेखा–चित्र, रंजन–कला, मूर्ति–कला, नृत्य, संगीत, कविता, साहित्य आदि के रूप में मानव प्रवृत्तियों की बाहय और आन्तरिक अभिव्यक्ति। कला का उद्गम एवं विकास सृष्टि के साथ ही माना जाता है। मानव–विकास के साथ ही साथ संस्कृति का विकास विभिन्न रूपों में हुआ है। इसी विकास क्रम में स्थानीय कलाओं का भी प्रादुर्भाव हुआ है जिसकी अद्भुत छाप नगर व ग्रामों में आज भी विकासावस्था में दिखाई देती है। किसी भी प्रकार की प्रसिद्धि, प्रलोभन और प्रोत्साहन की अपेक्षा किए बिना लोक–कला की यह अजस धारा हमारे पारिवारिक, मांगलिक संस्कारों और धार्मिक जीवन की परम्पराओं के साथ सम्बद्ध हो घरेलू संबंधों से जुड़कर लोक की आत्मा से जुड़ी रही है।

वात्स्यायन–कामसूत्र की चौसठ कलाओं में से एक कला अल्पना भी है। उत्तराखंड में अपनायी जाने वाली लोक–कला ऐपण भी मूलतः पूरे भारत में अपनायी जाने वाली इसी लोक–कला का ही एक रूप है, जो अपने आप में कुछ विशिष्टताएं समाहित किए हुए हैं। ऐपण परंपरा महाराष्ट्र से प्रारम्भ होकर पूरे देश में प्रसारित हुई है, ऐसा माना जाता है। इस कला को राजस्थान में मांडवा या मरहना, मधुबनी, कहजर, बंगाल में अल्पना, गुजरात में सतिया, महाराष्ट्र में रंगोली, बिहार में अरिपन, उड़ीसा में अल्पना, दक्षिण भारत में कोलम, आन्ध्र प्रदेश में भुग्गल, मध्य प्रदेश में और उत्तर प्रदेश में चौक पूरना व सांझी के नाम से जाना जाता है।

अल्पनाओं का इतिहास काफी पुराना माना जाता है। कुछ लोगों का मत है कि पूजा एवं शुभ कार्यों में दी जाने वाली अल्पना आर्यों के युग से भी पूर्व की है। मान्यता है कि इनका आरम्भ वैदिक काल से भी पूर्व प्रागैतिहासिक काल में हो गया था। यह विश्वास भी प्रचलित है कि ब्रह्मा ने सृष्टि के समय पृथ्वी पर स्त्री की आकृति बनाई यही आकृति अल्पना का पहला रूप है। रामायण में सीता के विवाह मंडप की चर्चा में भी अल्पना का वर्णन मिलता है। आनन्दकुमार स्वामी तथा गुरू सहाय दत्त ने कमल के फूल को, जिसे सभी प्रदेशों की अल्पना में पाया जाता है, मोहन जोदड़ो के समय का प्रतिरूप माना है। पर्वतीय क्षेत्रों में ऐपणों का आगमन यक्षों के साथ हुआ जिससे इस कला को यक्ष संस्कृति की देन भी कहा जाता है। उत्तराखंड में ऐपण परम्परा की उत्पत्ति का ठीक–ठीक समयानुमान लगाना कठिन है, परन्तु इस अंचल में आये लोगों द्वारा उनकी लोककलाओं को, जिन रूपों और आकारों से सजाया गया, उन्हीं में से एक कला को ऐपण कला के नाम से जाना जाता है।

उत्तराखंड में यह कला देश के अन्य भागों में बनाई जाने वाली रंगोली की तरह ही बनाई जाती है, फर्क सिर्फ इतना है कि रंगोली में रंग मिश्रित बुरादे, आटे, फूल, पत्तियों को उपयोग में लाया जाता है, परन्तु ऐपणों में लाल मिट्टी, गाय के गोबर, गेरू, बिस्वार आदि को प्रयोग में लाया जाता है। समय के साथ अब ऐपण पेन्ट से भी बनाये जाने लगे हैं अथवा बाज़ार में बने बनाये ऐपण भी उपलब्ध हो जाते हैं। मुख्यतः इस कला के दो

रूप सामने आते हैं – आनुष्ठानिक तथा कलात्मक। किसी अनुष्ठान के समय में बनाए जाने वाले ऐपण आनुष्ठानिक तथा कल्पना के आधार पर विभिन्न आकृतियों का प्रयोग कर बनाए जाने वाले ऐपण कलात्मक ऐपणों के अन्तर्गत आते हैं। विभिन्न मंगल कार्यों में बनाए जाने वाले ऐपणों को चौकी की संज्ञा दी गयी है तथा भिन्न–भिन्न कार्यों में बनाई जाने वाली चौकियों को पृथक–पृथक नाम से जाना जाता है। इन अलग–अलग आकृतियों के पीछे एक विशिष्ट चिंतन और उद्देश्य निहित होता है।

मिट्टी के घरों में ऐपण देने के लिए गोबर और लाल मिट्टी का प्रयोग किया जाता है। लिपाई के बाद मुख्य द्वार (देहरी) में गेरू भिगोकर लगाया जाता है जिसके सूखने के बाद बिस्वार, जो चावल को भिगोने के बाद पीसकर गाढ़े पानी के रूप में बनाया जाता है, से विभिन्न चित्र, आकृतियाँ, बसनधारे, (सीधी रेखाएँ) चौकोर, तिरछी, गोलाकार रेखाएँ अंकित की जाती हैं। सृष्टि के मूल में अणु की अवधारणा ऐपणों में आध्यात्मिक चिंतन होने के कारण एक बिन्दु से आरम्भ करने में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। तत्पश्चात् बिन्दु के चारों ओर विशिष्ट पूजा या अवसर के समय की विशिष्ट चौकी का प्रतीक बनाकर बेलबूटों से अंतिम परिधि तक विस्तृत कर रूप दिया जाता है। ऐपण सर्वप्रथम घर के मंदिर उसके बाद आंगन से देवस्थान तक बनाए जाते है जिनमें लक्ष्मी के पैर बनाना भी जरूरी समझा जाता है। कहीं–कहीं बिस्वार में सगुन के लिए हल्दी भी मिलाते हैं।

कुमाऊँ के कुछ ऐपण तथा चौकियों में ज्योति, बारबूंद, पट्टा, डिकर, प्रकीर्ण, वसनधारा, जन्मदिन चौकी, नामकरण चौकी, विवाह चौकी, धूलि–अर्ध चौकी, द्वार चौक, स्नान चौकी, वर चौकी, सरस्वती पीठ, देवी पीठ, लक्ष्मी पीठ, लक्ष्मी पौ, शिवार्चन पीठ, शिव शक्ति पीठ नौ बिन्दुओं की स्वस्तिक तेरह बिन्दुओं की देवी पीठ, देहली ऐपण, भद्र, नीम्बू आदि आते हैं।

ज्योति – वैदिक पद्धति के आधार पर ज्योति मातृशक्ति के रूपों को प्रस्तुत करती है। पराशक्ति के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिए जीवमातृकाओं, जिन्हें कुमाऊँ में ज्योति संज्ञा से अभिहित किया गया है, की संरचना कर कार्य की निर्विघ्न समाप्ति के लिए उनका आह्वान किया जाता है। यह पूजा स्थल की भित्ति पर या कागज पर निर्मित की जाती है। यहां छुट्टी, नामकरण, विवाह संस्करण की पारम्परिक चित्र रचना में महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती देवियों, मूषक सहित गणेश तथा शंकआकार सोलह सरल रेखाओं में षोडश मातृकाओं को चित्रित किया जाता है। इन्हें समूह में बांटकर या पंक्तिबद्ध कर बनाया जाता है। एक के ऊपर एक रखकर बनाने से ये शिखर का रूप ले लेती हैं। ऊपर दोनों ओर सूर्य और चन्द्रमा संरचित कर चित्रभूमि का शेष भाग प्रतीकों एवं पाम्परिक अलंकारों से पूर्ण किया जाता है।

बारबूँद – ज्योति और प्रकीर्ण भी ऐपण के ही रूप माने जाते हैं जो धरातल पर निश्चित संख्या कागज या भित्ति चित्र के रूप में बनाए जाते हैं। बारबूंद में बिन्दु बनाकर उन्हें रेखाओं से मिलाकर कोई आकृति बनाई जाती है जिसमें विभिन्न रंग भी प्रयोग में लाए जाते हैं।

पट्टा– मोटे कागज पर दशहरा, दिवाली आदि पर्वों पर देवताओं के प्रतीक स्वरूप चित्र बनाया जाता है जिसे पट्टा नाम से जाना जाता है।

डिकर – हरेला आदि पर्वों पर बनाई जाने वाली मिट्टी की मूर्तियाँ डिकर कहलाती हैं। कुछ पर्वों पर केले के पेड़ बांस आदि से भी इन्हें तैयार किया जाता है।

प्रकीर्ण – प्रकीर्ण में स्या तथा दशार दो चित्र बनाए जाते हैं। स्या चौराहे पर और दशार गंगा दशहरा के समय कागज में बनाकर घर के दरवाजे पर लगाया जाता है जो विकास और समृद्धि का सूचक माना जाता है। कहीं–कहीं लोक विश्वास है कि दशहरा घर को आकाश विद्युत से सुरक्षा प्रदान करता है। स्या नामक चित्र किसी संस्कार के पूर्ण होने पर देवविसर्जन से लौटते समय चौराहे पर नारियों द्वारा बनाया जाता है जिसमें प्रति दुरात्माओं से मुक्त रहने का विश्वास प्रचलित है

वसन्धारे

वसनधारे – ऐपणों में वसनधारों का स्थान सर्वप्रथम आता है। ये पवित्र माने जाते हैं और विषम संख्या में बनाए जाते हैं, जिनके बीच–बीच में कुछ रिक्त स्थान छोड़ा जाता है। इनको बनाने का मतलब भूमि पूजन से है। पूजा आदि में शहद, घी, दूध से भी वसनधारा दी जाती है। इन्हें मध्यमा, अनामिका और कनिष्ठिका अँगुलियों के पैरों को एक साथ डुबोकर बनाया जाता है। केवल श्राद्ध के अवसर के अतिरिक्त अन्य सभी शुभ अवसरों में इनका चित्रण शुभ माना जाता है।

देहरी के ऐपण – कुमाऊंनी – लोक परम्परा में किसी भी शुभ अवसर पर देहरी में ऐपण बनाने को शुभ का प्रतीक मानते हैं जिसमें बसनधारे, पौ, बेलबूट इत्यादि आते हैं। घर के प्रतिष्ठित मंदिर के बाद देहरी में ऐपण बनाकर ही घर में अन्य स्थानों पर ऐपण बनाये जाते हैं।

पूजा–स्थल के ऐपण– पूजा स्थल जहां देवताओं को स्थापित कर पूजा की जाती है उसे ठ्या कहा जाता है जिसका तात्पर्य देवताओं के विराजने की जगह से लिया जाता है। यहां पर पारम्परिक ऐपण दिए जाते हैं। देवताओं के इस स्थान को वेदी कहते हैं। पूजा करने के लिए बैठने के उपयोग में लिए जाने वाले स्थल पर शुभ–अशुभ कार्यों, अवसरों, उत्सवों और अनुष्ठानों में दोहरी चौकी का रेखांकन अनिवार्य समझा जाता है। पूजा स्थल में केवल अनामिका अंगुली से ही ऐपण दिए जाते हैं। बेदी के खड़े भाग में बसन्धारे देने के बाद सरस्वती, लक्ष्मी, स्वस्तिक या भद्र की संरचना की जाती है।

गणेश पीठ –कुमाऊँ में प्रत्येक शुभ कार्य करने से पूर्व गणेश पूजा को स्थान दिया गया है। इसके बाद मातृकाओं का पूजन होता है। प्रत्येक शुभ कार्य के आरम्भ में गणेश पूजा के लिए लकड़ी के तख्ते पर षोडश मातृकाओं और गणेश को ऋद्धि–सिद्धि के साथ चित्रित किया जाता है। जिस पर गोबर, दूध रोली इत्यादि का प्रयोग किया जाता है। चौकी के ऊपर दोनों किनारों पर सूर्य और चन्द्रमा बनाते हैं।

सरस्वती पीठ – सरस्वती पीठ को देवताओं का आसन माना जाता है। बालक के यज्ञोपवीत के समय मिट्टी की एक बेदी बनाई जाती है जिस पर गेरू लगाकर यह चौकी निर्मित कर देवताओं की स्थापना की जाती है और अखण्ड दीप जलाया जाता है। इस पीठ में कई समानान्तर रेखाओं द्वारा सरस्वती की उपस्थिति के प्रतीक एक दूसरे में गूंथे त्रिभुज बनाए जाते हैं। जिनके मध्य में एक पंचकोण अपने आप बन जाता है। इस पीठ के मध्य में बने पंचकोण तथा उसके पांचों सिरों पर बनने वाले पाँचों त्रिभुज बनाते समय एक सिरे में आरम्भ कर पांचवें व अन्तिम सिरे पर पहुंचकर ही हाथ हटाया जाता है। इसके चारों ओर वृत्तों के घेरे बनाकर उसके बाहर कमल की सोलह पंखुडियाँ बनाई जाती है। बाहर की ओर वृत्ताकार रूप में बेलों से सजा दिया जाता है। वैदिक संस्कृति के अनेक संस्कारों की तरह अक्षरारम्भ के समय बालक को सर्वप्रथम अक्षरलेखन का ज्ञान देने के लिए माता सरस्वती की पूजा करने का विधान है। इसके पूजन के लिए पूजा–स्थल पर इस पीठ को चित्रित किया जाता है।

लक्ष्मी पीठ – लक्ष्मी की पूजा के लिए लक्ष्मी की मूर्ति के स्थान पर लक्ष्मी पीठ भी बनाई जाती है, इसमें दो त्रिभुज एक दूसरे को काटते हुए बनाए जाते हैं जिसके बाहर कमल की पंखुड़ियाँ बनाई जाती हैं जो संख्या में चौबीस होती हैं। इसके मध्य में लक्ष्मी पौ चित्रित किए जाते हैं लक्ष्मी पौ का अर्थ लक्ष्मी के पैरों की आकृति से है। वैसे तो ये सभी ऐपणों में बनाए जाते हैं परन्तु दीपावली के अवसर पर इनको विशिष्ट स्थान दिया जाता है। बाहर की ओर वृत्ताकार रूप से बेलों से सजा दिया जाता है।

लक्ष्मीपीठ

शिव शक्ति पीठ – भगवान शंकर की अराधना के लिए जमीन पर गैरू व बिस्वार(पिसे हुए चावलों का पतला घोल) से अष्टकोणीय ऐपण बनाए जाते हैं जिसके ऊपर ताँबे की परात में एक सौ आठ या अपने सामर्थ्य के अनुसार पार्थिव लिंगों को पूजा जाता है। शिव शक्ति पीठ में श्वेत वस्त्र पर एक दूसरे को काटती दो त्रिकोण आकृतियाँ बनाई जाती है।

विष्णु पीठ – नवग्रह शान्ति के लिए नौ बिन्दुओं का स्वस्तिक बनाया जाता है जिसे विष्णु पीठ कहा जाता है। पूजा–स्थल, तुलसी–वृन्दावन तथा विवाह–मण्डप में यह संरचना निर्मित की जाती है। इसमें अनेक स्वस्तिक स्वतः ही बन जाते हैं जो किसी भी दिशा से देखने में स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। स्वस्तिक पूर्ण होने पर इसके चारों ओर अष्टदल कमल का चित्रण किया जाता है। जो विष्णु और लक्ष्मी का कमलासन कहलाता है। विवाह मण्डप में कन्यादान सम्पन्न होने वाले स्थान पर भी इसकी संरचना का विधान है। नौ बिन्दुओं के स्वस्तिक की वर और कन्या पक्ष दोनों को दो–दो चौकियाँ दी जाती हैं। शेष स्थान को आलंकारिक ऐपणों द्वारा सजाया जाता है।

स्वस्तिक – स्वस्तिक का प्रतीक धन में खड़ी रेखा ज्योतिर्लिंग तथा आड़ी रेखा सृष्टि का विस्तार बताती है। इस चिह्न का प्रयोग विश्व में विभिन्न रूपों कहीं धन चिह्न तो कहीं गुणन चिह्न के रूप में होता रहा है। इसकी चार भुजाएं चार दिशाओं की द्योतक हैं और उनके अन्त में बनी छोटी रेखाएं जीवन की गतिशीलता की प्रमाण मानी जाती है। आचार्य की चौकी में स्वस्तिक ही बनाया जाता है। इसके अतिरिक्त इसे घर की दीवार व पूजा स्थान में अंकित किया जाता है।

द्वार चौकी – भूमि पर बिना आसन के बैठकर कोई भी पूजन करना उचित नहीं माना जाता, इसलिए किसी भी मंगल कार्य में पूजा अर्चना के लिए बनाई जाने वाली चौकी जिस पर यजमान बैठकर पूजा अर्चना करते हैं निर्मित की जाती है जिसे द्वार चौक या दोहरी चौकी कहते हैं।

स्नान चौकी – सभी संस्कारों में यहां पर अलग–अलग चौकियां निर्मित की जाती हैं। यह चौकी चार–चार रेखाओं में निर्मित की जाती है जिसमें नौ वर्ग बन जाते हैं तत्पश्चात् इन रेखाओं के छोरों को इस प्रकार मिलाया जाता है कि इनके बाहर से कमल की सोलह पंखुड़ियां बन जायें। पुनः बाहर की ओर अलंकृत कर इसे गोलाकार रूप दिया जाता है जिसके ऊपर परात रखकर जन्मदिन, नामकरण, यज्ञोपवीत आदि के अवसर पर स्नान कराया जाता है।

षष्टी पूजन – षष्ठी देवी को बालक की अधिष्ठात्री देवी माना जाता है जो बच्चों की रक्षा करती है और उन्हें दीर्घायु बनाती है। कुमाऊं में इस पूजा की चौकी पीले रंग या हल्दी से रंगे लकड़ी के पट्टे के तीन भाग कर सरल एवं वक्र रेखाओं से तीन आकार गोमय से बनाई जाती है जिसमे जौ रोपे जाते हैं। इसमें रचित आकृतियां प्रसूति गृह की रक्षिका, षष्ठी माता, स्कन्द और प्रद्युम्न का प्रतिनिधित्व करती हैं। इसमें आंखों को कौड़ियों से बनाया जाता है। अन्य रिक्त स्थानों को रोली, अक्षत, आटा तथा अबीर–गुलाल से पूर्ण किया जाता है।

नामकरण चौकी – नवजात शिशु को जन्म के ग्यारहवें दिन नामकरण संस्कार सम्पन्न करने के साथ ही पहली बार सूर्य–दर्शन करवाया जाता है। प्रांगण में चौकी निर्मित की जाती है जिसमें सूर्य–चन्द्रमा, शंख आदि बनाये जाते हैं। इस चौकी की सूर्य चौकी के नाम से भी जाना जाता है।

जनेऊ चौकी – यह चौकी जमीन पर अथवा पटरे पर गेरू के आलेपन के ऊपर बिस्वार से बनाई जाती है। लीपे हुए स्थान पर तरह बिस्वार द्वार अनामिका अंगुली से पन्द्रह बिन्दुओं को सीधा चित्रित किया जाता है। उसके बाद ऊपर और नीचे दोनों ओर दो बिन्दुओं के बीच में फिर बिन्दु रखे जाते हैं। इस प्रकार दोनों ओर संख्या घटती जाती है। जब दोनों ओर बिन्दुओं की संख्या आठ रह जाती है तब बीच में और किनारें में बिन्दुओं को मिलाकर छः कोने वाले सात तारे बनाए जाते हैं। ये सात तारे सप्त ऋषियों के प्रतीक माने जाते हैं। बाहर से इन प्रतीकों को रेखाओं और बिन्दुओं से बन्द कर देते हैं। इसके चारों ओर पांच चौकियाँ बनाने का विधान भी देखने को मिलता है। श्रावण पूर्णमासी को प्राचीन परंपरा के अनुसार परिवार के पुरुष वर्ग तथा सम्बन्धों या पड़ोस के पुरुष वर्ग एक साथ पूजा संपन्न कर जनेऊ धारण करते हैं तथा उनके बैठने के स्थान पर उतनी ही चौकियां निर्मित की जाती हैं।

धूलिअर्ध चौकी– कुमाऊँ में वैदिक पाणिग्रहण संस्कार पद्धति के अनुसार सायंकाल बारात के कन्या पक्ष के घर पहुंचने

पर कन्या पक्ष द्वारा बारात के प्रथम स्वागत के रूप में धुलिअर्ध संपन्न किया जाता है जिसके लिए कन्या पक्ष के आंगन में यह चौकी बनाई जाती है। इसमें चार भाग होते हैं। केन्द्र में एक वृत्त के अन्दर मुख्य संस्कार संबंधी चिह्न बिन्दु या स्वस्तिक के अतिरिक्त समकोण पर काटती सीधी रेखाएं बनाई जाती हैं जो हवन प्रज्वलित करने के लिए प्रयुक्त अरणी की प्रतीक मानी जाती है। इसका शीर्ष भाग पूर्वोन्मुख बनाया जाता है। इसके बाहर से कई तरह की बेलें आदि बनाकर इसको सुन्दर आकार दिया जाता है।

वर चौकी – इस चौकी में लकड़ी के चौके पर बीच में सम्बद्ध दो त्रिभुजों की संरचना की जाती है। उनको वृत्त में बन्द कर चौबीस कमल की पंखुड़ियाँ रेखांकित की जाती है। बाहर से पदचिह्न बनाते हुए जड़, शीर्ष तथा शाखाओं का रेखांकन किया जाता है। शीर्ष में श्रीफल और दूर्वा, ऊपर सूर्य–चन्द्रमा, नीचे शंख–घण्ट, चौकी के दोनों ओर क्लश, केले के पेड़ तथा तोतों की संरचना की जाती है। अन्त में पारम्परिक सुदर आलेखनों द्वारा चौकी को पूरा किया जाता है।

आचार्य चौकी – आचार्य की चौकी में स्वस्तिक, सूर्य–चन्द्रमा, शंख–घंट बनाए जाते हैं। बाहर से चारों ओर आलेखन द्वारा सजाया जाता है। यह चौकी पीले रंग से रंग कर लाल, हरे और सफेद रंगों से चित्रित की जाती है।

विवाह चौकी– बारात के कन्या के घर की ओर प्रस्थान करते समय वर पक्ष की स्त्रियों द्वारा घर के आंगन में अक्षत, पुष्प, द्रव्य और जल आदि मांगलिक वस्तुओं से चौकी पर खड़े हुए वर का अभिषेक किया जाता है। बारात जब वधू को लेकर वापस आती है तब इसी के साथ एक छोटी चौकी और चित्रित की जाती है तथा लक्ष्मी पद–चिह्न चौकी से आरम्भ कर पूजा स्थल एवं भंडार गृह तक पूरे किए जाते हैं।

अष्टदल कमल– किसी भी वैदिक पूजा के सम्पन्न होने पर हवल की वेदी के निर्माण करने के स्थल को शुद्ध कर गेरू से लीपा जाता है, तत्पश्चात् विस्वार द्वारा अष्टदल कमल की संरचना चित्रित की जाती है। दो–दो सीधी और आड़ी रेखाओं को ऐसे मिलाया जाता है कि आठकोण बन जाते हैं जिन्हें कमल की पंखुड़ियों की आकृति से आपस में जोड़ दिया जाता है। बीच में स्वस्तिक तथा अन्य खाली जगह को पुष्पाकृतियों से अलंकृत कर दिया जाता है। इसके ऊपर हवन की वेदी निर्मित की जाती है। वेदी में आटे से समिधा, ज्वाला, जिह्वा चित्रित की जाती है। बची हुई खाली जगह में रोली, अबीर, गुलाल आदि से अलंकृत कर दी जाती है।

भद्र – भद्र की रचना उद्यापन, प्रतिष्ठा तथा यज्ञादि आनुष्ठादिक कर्मों में की जाती है। ये बारह, उन्नीस, चौबीस, छत्तीस बिन्दुओं से निर्मित किए जाते हैं। चौबीस और छत्तीस के भद्र बारबूंद भी कहलाते हैं। भित्ति में बनाये जाने वाले भद्र ज्योति के चारों ओर और विवाह आदि शुभ अवसरों पर प्रयोग किए जाते हैं जिनमें लाल, पीले, हरे, काले और सफेद रंगों को प्रयोग में लाया जाता है। भद्रों में सर्वतोभद्र चक्र बहुत मांगलिक तथा कल्याणकारी माना गया है, इसमें नियत स्थानों पर अक्षतपुंजों या सुपारियों से मण्डलस्थ देवताओं का पूजन किया जाता है। इसकी संरचना चौकोर, चौकी या वेदी के ऊपर सफेद वस्त्र बिछाकर की जाती है जिसमें चावल, तिल, नीला या हरा लाल, तथा पीले रंग का प्रयोग किया जाता है। बीच में कमल ब्रह्मा का आसन माना जाता है।

डाली – जब बच्चे का नामकरण संस्कार होता है तब जनमकुण्डली के अनुसार उसका नाम रखा जाता है, जिसके लिए पीले वस्त्र के राशि के अनुसार रोली से उसका नाम लिखकर शंख को वस्त्र में लपेट दिया जाता है। उसके बाद शंख को वस्त्र सहित शिशु के कान के पास ले जाकर उसका नाम उच्चारित किया जाता है। अन्नप्राशन के दिन पीले वस्त्र का झबला शिशु को पहनाया जाता है। पहनाने से पूर्व उसमें रोली से डाली नामक संरचना निर्मित की जाती है। इस संरचना को आठ बिन्दुओं से शुरू कर ऊपर की ओर पन्द्रह बिन्दुओं तक बढ़ाया जाता है, तत्पश्चात् क्रमशः एक–एक कर आठ की संख्या तक बिन्दु घटाकर मध्य बिन्दु को केन्द्र मानते हुए तारे की आकृति बनाते हुए बाहर की ओर बढ़ाते हैं जो षटकोणी तारे की आकृति ग्रहण कर लेता है। इसके प्रत्येक कोण के बाहर की ओर नौ–नौ छोटे–छोटे वर्गों की चतुर्भुजाकार तैयार होती है। इसके बाद बाह्य परिधि को स्वेच्छापूर्वक आलंकारिक रूप देकर अंतिम रूप दिया जाता है।

नागपंचमी – कुमाऊं में भाद्र–शुक्ल पंचमी को नाग और सप्तऋषियों की पूजा की जाती है। इसे ऋषि पंचमी के नाम से

नागपंचमी

जाना जाता है जिसमें नाग का आकार बनाकर ऐपण पूरे किए जाते हैं।

रक्षाबन्धन– रक्षाबन्धन के दिन द्वार पर भाई–बहन अंकित कर सेवई से जौ चिपकाकर भाई–बहन के पवित्र त्योहार को मनाया जाता है।

नीम्बू– यह संरचना भित्ति से चित्रित की जाती है। कुमाऊं में विवाह आदि अवसरों पर नीम्बू को शुभ माना जाता है। इसी आशय से इसको भित्ति पर निर्मित किया जाता है। इसमें कुल पच्चीस आकृतियां जो पहली पंक्ति में एक, दूसरी में दो, तीसरी में तीन, चौथी में चार, पांचवी में पांच तक बनाकर क्रमशः चार, तीन, दो, एक कर पूरी आकृति तैयार की जाती है।

घुइया– कुमाऊँ में घुइयां से तात्पर्य ऐसे व्यक्ति से लगाया जाता है जिसके कारण घर अव्यवस्थित रहता हो। अतः हरबोधिनी एकादशी की रात्रि को घर से निकालने के लिए सूप में इसकी आकृति चित्रित की जाती है।

अल्पनाओं में बनाए जाने वाले चिहन और अन्य आकार किसी न किसी प्रतीक के रूप में माने जाते हैं। वृक्ष, पत्तियां, फल, फूल कमल, पशु–पक्षी, आदि शुभ और मंगलकारी माने जाते हैं। ज्यामितीय आकृतियाँ, बिन्दु, वृत्त, रेखा, वर्ग पंचकोण, षटकोण, स्वस्तिक, कलश, शंख, कमल आदि का भी प्रयोग किया जाता है। इनमें वर्ग सम्पूर्णता बिन्दु शक्ति, वृत्त गति, त्रिभुज देवी शक्ति, एक दूसरे में गुंथे दो त्रिभुज ब्रह्माण्ड की सृजनात्मकता, कमल को संसार, मछली को सौभाग्य और वैभव, हाथी ज्ञान, भरे हुए कलश को आराध्य देवों की उपस्थिति, स्वस्तिक मंगल चिह्न के रूप में स्वीकृत किया जाता है जिसे खड़ी रेखा से बनाते हैं। आड़ी रेखा सृष्टि के विस्तार सूचक मानी जाती है। यह चिह्न कहीं धन के रूप में तो कहीं गुणन के रूप में बनाया जाता है। शंख को मंगल तथा घट को मोक्ष का प्रतीक माना जाता है। मेघदूत (उत्तरमेघ) में भी यक्ष मेघ को प्रवेश द्वार में बने ऐपणों के रेखांकन का उल्लेख कर अपने भवन की पहचान बताते हुए कहता है – दरवाजे पर दोनों तरफ शंख और पद्म लिखे हुए देखकर तू मेरा भवन पहचान लेना। द्वारेपान्ते लिखितवपुषौ शंखपद्मौ च दृष्ट्वा ।

इस प्रकार इन प्रतीकाभिव्यक्तियों से स्पष्ट है कि हमारी लोक कलाएं विशेष रूप से मांगलिक पर्वों पर चित्रकारी के ऐसे रूप दर्शन की आभा को विविध प्रकार व्यंजित करते हैं। जीवन की शुभावहता के लिए ऐसी योजनाएं आस्था, विश्वास और संस्कारों से गहरी जुड़ी हुई है। दक्षिण भारत में शुभ के प्रतीक रूप में रंगोली की नैतिक क्रिया दृष्टिगोचर होती है। व्यक्ति जब घर से निकलता है तो ये शुभ शकुन का कारण बनती है और जब कोई व्यक्ति अतिथि घर आता है तो स्वागत और मंगल अभिनंदन को व्यक्त करती है।

यह कला केवल हमारे देश में ही नहीं अन्य देशों में भी पुरातन से चली आ रही है। यूरोप में पेन्टाग्राम प्रेतबाधा हटाने के लिए जमीन पर बनाये जाने वाले रेखाचित्रों में, अफ्रीका में पुराने कबीलों में ओझा द्वारा जमीन पर, ताबीज में बनाये जाने वाले रेखाचित्र, तिब्बत के किंखोर जो छः या सात फिट व्यास तक के वृत्त में बनाए जाते हैं इसी का एक रूप माने जा सकते हैं। इनमें फर्क सिर्फ इतना है कि इनका प्रयोग कहीं जादू टोना, कहीं कवच, कहीं मंत्र सिद्धि के लिए किया जाता है।

डॉ. पदमा देवी
31 लक्खीबाग, देहरादून
उत्तराखंड

रमेशचन्द्र मिश्र

इस्लामी मकबरा शैली के अद्‌भुत नमूने

हुमायूँ का मकबरा

भारत में मुस्लिम शासकों के आने से परम्पराओं और प्रथाओं के एक नए दौर और स्थापत्य कला की एक नई शैली का आविर्भाव हुआ। सन् 1192 ईस्वी में तराई के युद्ध में राजपूत शासक पृथ्वीराज चौहान की घुड़ के मोहम्मद बिन साम के हाथों पराजय से दिल्ली में सुल्तान सत्तासीन हो गए और उसने अपने गुलाम कुतुबुद्दीन ऐबक को दिल्ली में शासन की बागडोर संभलवा दी और सन् 1206 ई. में मुहम्मद की मृत्यु के बाद वह दिल्ली का शासक बन गया। गुलाम वंश के बाद मुस्लिम शासकों के विभिन्न वंशों ने लगातार लगभग 7 शताब्दियों तक शासन किया।

लोदी वंश के अंतिम शासक इब्राहीम लोदी (सन् 1517–26 ई.) ने अपने अंतिम समय में सामन्त वर्ग और यहां तक कि रियासत के गवर्नरों के साथ दुर्व्यवहार करना शुरू कर दिया। इससे इस वर्ग में रोष बढ़ा और लाहौर के गवर्नर दौलत खां ने इब्राहिम लोदी पर आक्रमण करने के लिए बाबर से सांठगाठ की। सन् 1526 ई. में हुई पानीपत की पहली लड़ाई में बाबर ने इब्राहिम लोदी को मौत के घाट उतार दिया और विशाल उत्तर भारत में अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया।

सन् 1707 में ई. में औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद मुगलों का प्रभाव समाप्त हो चुका था और जब 1857 में भारत में ब्रिटिश शासन

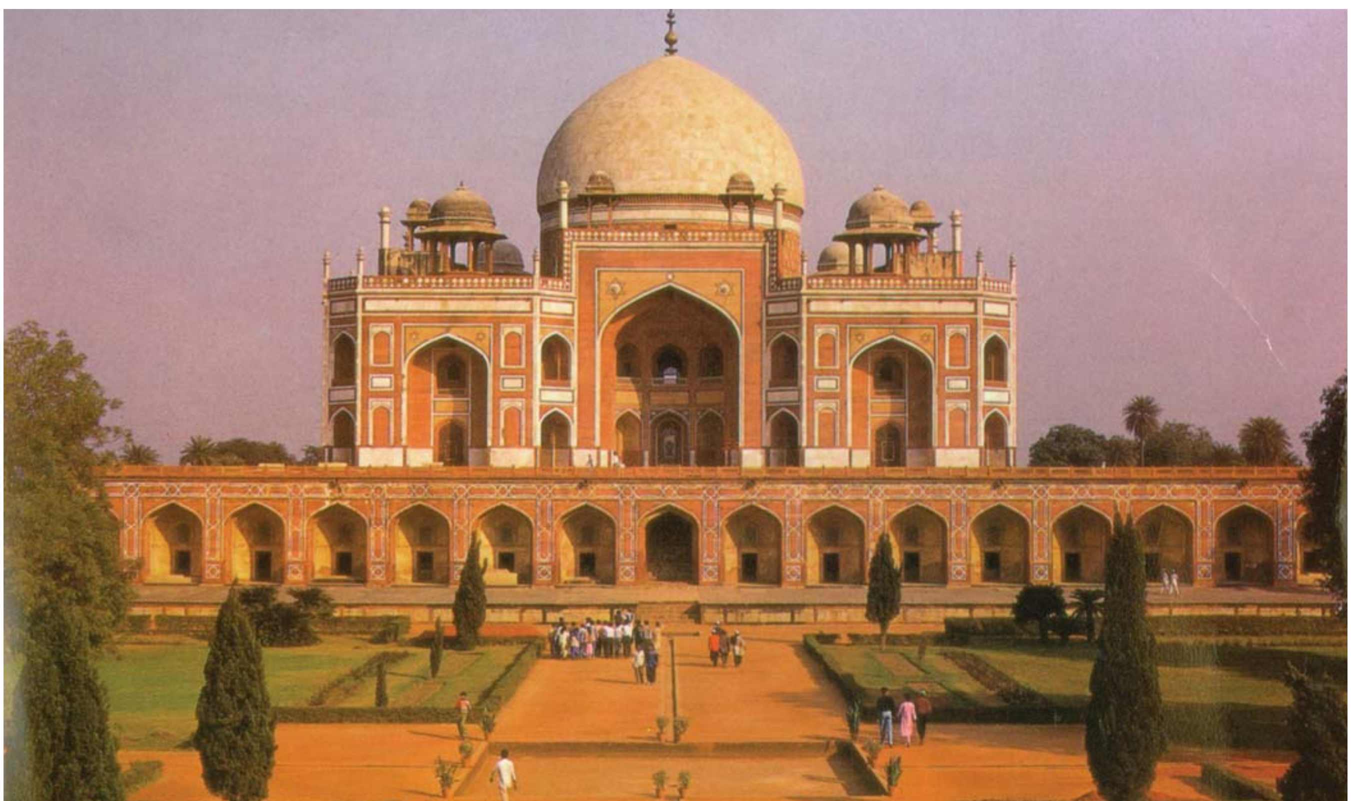

हुमायूं का मकबरा, दिल्ली

ने अपने पैर जमाए तो मुग़लों की ताकत बिल्कुल क्षीण हो चुकी थी।

दिल्ली के बाद बाबर के बेटे हुमायूं ने आगरा पर कब्जा किया और काबुल के पहाड़ी भू–भागों में बागीचों की तरह भारत में टीलानुमा बागीचों की नई कला की शुरूआत करते हुए आगरा में आराम बाग, जिसे अब राम बाग कहा जाता है, बनवाया। अपने छोटे से शासनकाल में उसने उत्तर भारत के राजाओं को पराजित किया और अपने उत्तराधिकारियों के लिए ठोस शासन की नींव डाली। स्वयं बाबर या उसके संरक्षकों द्वारा निर्मित कुछेक इमारतों में पानीपत का काबुली–बाग मस्जिद, सम्भल की जामा–मस्जिद तथा आयोध्या की मस्जिद प्रमुख है।

सन् 1530 ई. में शासन की बागडौर संभालने के बाद ही उसे सुर के अफ़गान इब्राहिम खां के उत्तराधिकारी, शेरशाह के विरोध का सामना करना पड़ा और 1540 में पराजित होने के बाद उसने ईरान में जाकर शरण ले ली जहां उसके बेटे अकबर ने जन्म लिया। सन् 1555 ई. में फारसी सेना के साथ वापिस आने पर उसने शेरशाह सुर के बेटे सिकन्दर शाह सुर को हराया। अन्ततः सन् 1556 ई. में अपने पुस्तकालय की सीढ़ियों से गिरकर उसकी मृत्यु हो गई।

हुमायूं ने विरासत में मिले साम्राज्य के विस्तार पर ध्यान तो नहीं दिया लेकिन उसने निर्माण में अपनी रूचि को बढ़ाते हुए सन् 1533 ई. में 10 माह के भीतर सीरी फोर्ट से लाई गई सामग्री से यमुना नदी के किनारे दिनपनाह नामक किले का निर्माण करवाया जिसमें बाद में शेरशाह ने व्यापक फेरबदल करते हुए इसका रूप बदल दिया। महरौली, दिल्ली की जमाली–कमाली मस्जिद, कच्छपुरा, आगरा की मस्जिद आदि के निर्माण में भी हुमायूं का योगदान रहा।

सन् 1556 ई. में हुमायूं की मृत्यु के बाद सन् 1565 ई. में उनकी विधवा बड़ी बेग़म ने हुमायूं के मक़बरे का निर्माण शुरू करवाया।

भारत–इस्लाम वास्तुकला

भारत में मुस्लिम शासकों के आगमन से भवन निर्माण के क्षेत्र में अब तक मन्दिरों और अन्य धार्मिक भवनों में अपनाई जा रही शैली से भिन्न नई–नई शैली का समावेश किया जाने लगा।

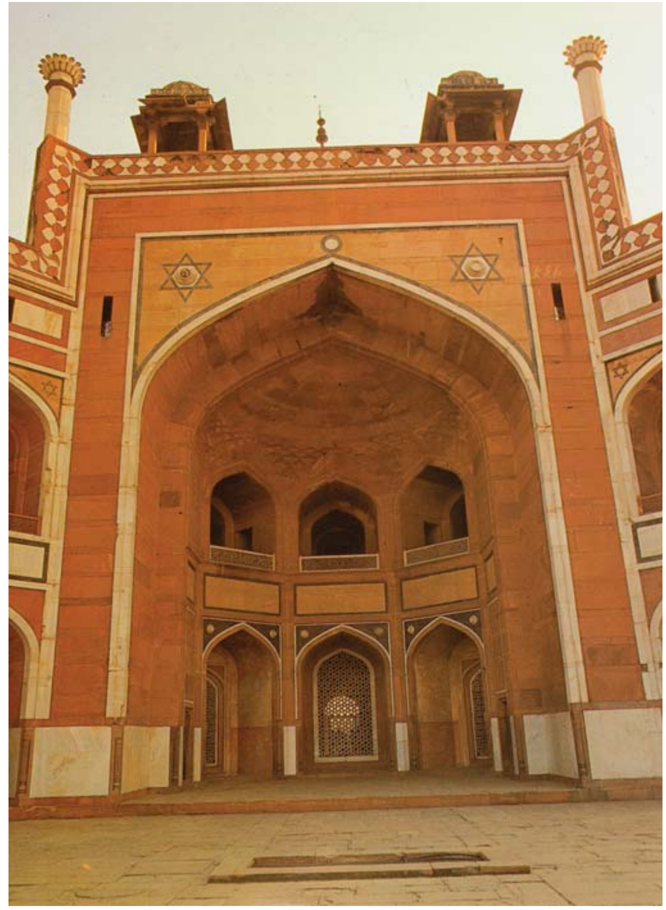

अग्रभाग, हुमायूँ का मकबरा, दिल्ली

इस शैली का मुख्य आकर्षण मेहराब और गुम्बद थे और निर्माण की यह चापाकार शैली भारतीय भवन निर्माण की स्तम्भों, बीमों और लिन्टरों की त्रिकोणीय शैली से अलग थी और वंश की कृत्रिम मेहराबों और गुम्बदों के बाद कुतुब मीनार के साथ बने अलाई दरवाजे से असली गुम्बदों और मेहराबों के निर्माण की शुरूआत हुई।

इस निर्माण शैली में विभिन्न मान्यताएं उभर कर आईं। इस्लामी शैली में भारतीय शैली का भी मिश्रण किया गया और इसका नमूना सजावटी ब्रैकेटों, बालकॉनियों, लम्बाकार ढांचों में और छतरियों, मीनारों और अर्ध–गुम्बदीय द्वि–प्रवेश द्वारों में स्पष्ट दिखाई पड़ता है। इस्लाम में मूर्ति पूजा के वर्जन से इमारतों तथा अन्य ढांचों को व्यापक ज्यामितीय तथा अरबस्क डिजाइन से सजाया गया। कम उभार से पत्थर पर नक्काशों, प्लास्टर में गढ़े, चित्रित जड़ाऊ ये डिजाइन बहुत आकर्षक थे।

इस्लाम धर्म में शव के दफन की प्रथा से मकबरे का निर्माण उसकी एक अलग विशेषता थी जिसमें एक गुम्बद वाला कमरा जिसे इजरा कहा जाता है, बीच में पश्चिम की ओर मेहराब के साथ स्मारक और फिर जमीन के नीचे कमरा बनाकर कब्र बनाई जाती थी बाद में जिसके आस–पास बागीचे का विकास भी शुरू किया गया।

बागीचे के बीच में चार वर्गाकार कक्षों से घिरे इस परिसर को चार बाग कहा जाता था। जानकार लोग बागीचे विकास की इस चार बाग पद्धति को मुगलों की मूल भूमि काबुल घाटी से लिया जानते हैं। जहां भू–दृश्य तथा भू–भाग के अनुरूप बागीचे और आवासीय परिसर बनाए जाते थे। मुगलों ने भारत में भिन्न भू–भाग को देखते हुए इस बागीचा शैली में खुबसूरती से फैरबदल कर दिया। गुम्बद स्थापत्य की द्वि–गुम्बद तथा जुड़ाऊ सजावट की पियत्रा–दूरा शैली को शुरू करने का श्रेय भी मुगलों को जाता है।

मकबरा परिसर

कहा जाता है कि हुमायूं के शव को पहले पुराना किला में दफनाया गया और फिर इसे 1556 में हेमू के आक्रमण के कारण इसे सिरहिन्द ले जाया गया और अकबर द्वारा हेमू को पराजित करने पर इसे फिर दिल्ली में शेरमण्डल लाया गया। अन्ततः हुमायूं के मकबरे को उसकी पत्नी हाज़ी बेगम द्वारा 1569 में दिल्ली में बनाए जाने को सत्य माना जाता है जिसके बाद मुगलकाल में प्रमुख इमारतों का निर्माण शुरू हुआ।

लाल बलुआ पत्थर और सफेद मार्बल के मिश्रण से मुगलकालीन भवन शैली, फारसी स्थापत्य और भारतीय शैली का आकर्षक संगम है जो सन् 14वीं शताब्दी के दिल्ली के सुल्तानों के स्थापत्य कला के अलाई दरवाजे के रूप में झलकता है। लाल बलुआ पत्थर पर सफेद संगमरमर की खूबसूरत सजावट के अन्य उदाहरण जमाली–कमाली (सन् 1528–29) किला–ए–कुहना मस्जिद (सन् 1534 ई.) तथा अत्गा खां का मकबरा (1556–67) हैं।

विशाल बागीचे में निर्मित चार कक्षों और अनेक छोटे वर्गाकार ढांचों से घिरा यह मकबरा मुगलकालीन चार बाग का नमूना है जिसमें छोटे–छोटे अन्तराल पर जलमार्ग और जलकुण्ड और उन पर सेतु बनाए गए हैं। मकबरे के चारों ओर अनगढ़े पत्थरों की दीवार है और इसके पश्चिम ओर दक्षिण में प्रवेश द्वारा बनाए गए हैं। अब दक्षिण छोर का बंद प्रवेश द्वार 15.5 मीटर ऊंचा है और इसके मध्य में अष्टभुजाकार हॉल और उसके साथ आयताकार कमरे हैं। इस द्वार के प्रथम तल पर वर्गाकार और आयताकार कमरे हैं। बाहर की ओर आवरण दीवार में मेहराबनुमा कोटरिकाएं बनी है। दक्षिण द्वार के ठीक पश्चिम की ओर बाहरी दीवार के साथ 146 X 32 मीटर आकार का एक आहाता बनाया गया है। कम ऊंचाई की छत वाली इस इमारत में 25 मेहराबनुमा प्रवेश द्वार हैं जो शाही मकबरे के रखवालों को देखने के लिए बनाए गए थे। दर्शक 7 मीटर ऊंचे दो मंजिले पश्चिम द्वार से मकबरे में जाते हैं जो दक्षिण द्वार की तुलना में छोटा है।

चार दीवारों की उत्तरी, दक्षिणी और पश्चिमी दीवारें अनगढ़े पत्थरों से बनी हैं और इनके भीतरी भाग में कोटरिकाओं की मेहराब बनाई गई हैं। पूर्वी छोर पर आहते पर आहते की दीवार कम ऊंचाई की है जिसे साथ में बह रही यमुना नदी पर जाने के लिए छोटा रखा गया है।

यह विशिष्ट मकबरा 6.5 मीटर ऊंचे चबूतरे पर बना है और इसके अग्र भाग में चारों ओर अनेक कोटरिकाएं बनाई गई हैं जबकि चार प्रवेश जीनों यानि चारों दीवारों के मध्य में एक–एक जीने में कोटरिकाएं नई बनाई गई है। चारों ओर 17–17 कोटरिकाएं बनाई गई हैं और कोनों को काटा गया है। कोटरिकाओं के साथ कटे कोनों से समूचा स्मारक बहुत सुन्दर लगता है।

हुमायूं के मकबरे के निर्माण में तीन तरह के पत्थर नामतः लाल बलुआ पत्थर, सफेद पत्थर तथा स्फटिक का इस्तेमाल किया गया है। अहाते की दीवारें तथा दो द्वार स्थानीय स्फटिक से बने हैं और उनके ऊपर लाल बलुआ पत्थर संगमरमर लगाया गया है। मुख्य मकबरे के चबूतरे की सीढ़ियों को भी स्फटिक से सज्जित किया गया है। स्फटिक, दिल्ली के पथरीले क्षेत्र में ही मिल जाता है जबकि लाल बलुआ पत्थर, आगरा के निकट तातपुर की खदानों से लाया गया और सफेद संगमरमर, राजस्थान की प्रसिद्ध मकराना खदानों से आया।

एतमादुद्दौला का मकबरा, आगरा

खुर्सान के प्रधान मंत्री ख्वाजा मुहम्मद शरीफ के बेटे और नूरजहां के पिता मिर्ज़ा गियास बेग को एतमादुद्दौला या ''महान खजांची'' के नाम से जाना जाता है और उन्हें यह नाम उनके दामाद सम्राट जहांगीर ने दिया। अपने पिता की मृत्यु के बाद एतमादुद्दौला भारत आए और वे अकबर के दरबार में शामिल हो गए। नूरजहां के जहांगीर से विवाह के बाद उन्हें 2000 जाट (कार्मिक) और 500 सवारों की मनसबदारी और फिर वजीर की जिम्मेदारी सौंप दी गई। 1619 तक उन्हें स्टैण्डर्ड और ड्रम के साथ 7000 जाट और 7000 सवारों की मनसबदारी मिल चुकी थी। 1662 में एतमादुद्दौला की मृत्यु हो गई।

1622 और 1628 के बीच जहांगीर की पत्नी नूरजहां ने अपने पिता का सुन्दर मकबरा बनवाया जो यमुना नदी के बायीं ओर स्थित है। इसके नीचे की ओर आराम बाग, चीनी का रौजा जैसे अन्य प्रसिद्ध स्मारक हैं।

चारों ओर से ऊंची दीवारों से घिरे 165 मीटर के विशाल बगीचा परिसर के मध्य में स्थित यह मुख्य मकबरा, मुगलकालीन चार बाग मकबरा शैली का प्रतीक है। इसके पूर्व में इसका भव्य प्रवेश द्वार बनाया गया है। नदी के तट पर केन्द्रीय कक्ष और गलियारे के साथ एक ऐसा ही भव्य जलमण्डप बनाया गया है। इस बागीचे की सिंचाई नदी तट पर खड़ी की गई पानी की टंकियों से लघु जल मार्गों के माध्यम से की जाती थी।

मुख्य मकबरा

मुख्य मकबरा सफेद संगमरमर तथा अन्य ढांचे लाल बलुआ पत्थर से बने हैं और इसमें जड़ाऊ कार्य किया गया है। अकबर के समय के लाल बलुआ पत्थर के बजाय इसमें जहांगीर और शेरशाह के समय के सफेद संगमरमर का इस्तेमाल किया गया है। इस प्रकार एतमादुद्दौला का यह मकबरा संक्रमण काल के वास्तुशिल्प का महत्वपूर्ण नमूना है।

लाल बलुआ पत्थर के ऊंचे चबूतरे पर बना यह मकबरा वर्गाकार है। मुख्य मकबरे के केन्द्रीय मेहराब के सामने इस चबूतरे पर चार टैंक हैं और प्रत्येक छोर पर बीच में एक–एक फव्वारा है। प्रवेश द्वार और अन्य मण्डप लाल बलुआ पत्थर के हैं और इनमें हर जगह सफेद संगमरमर का जड़ाऊ कार्य किया गया है। चारों कोनों में अष्टभुजाकार टॉवर है जो छज्जों की ऊंचाई के बाद गोलाकार हो जाते हैं और इनके ऊपर छतरियां बनाई गई है।

मकबरे के बाहरी भाग में तीन मेहराब–बीच का मेहराब आने और जाने का रास्ता है और बाजू की दोनों मेहराबों को डिजाइन वाली जालियों से बंद किया गया है। ज्यामितीय शैली की ये जालियां बहुत सुन्दर हैं। बाहरी भाग में कोटरिकाओं के ऊपर नक्काशीशुदा ब्रैकटों से छज्जा बनाया गया है। ये जाली और जंगले उत्कृष्ट कारीगरी का नमूना है। कई विद्वानों का यह मानना है कि ये हाथी दांत की कारीगरी की नकल हैं और इन्हें बहुत ही लालित्यपूर्ण तरीके से इस्तेमाल किया गया है।

मकबरा परिसर की संरचना में एक केन्द्रीय वर्गाकार हॉल उसके चारों ओर एक–एक आयताकार कक्ष और मकबरे के चारों कोनों में एक–एक वर्गाकार कक्ष है। इन कक्षों का रास्ता एक–दूसरे से मिलता है। केन्द्रीय कक्ष में मिर्जा ग्यास बेग और उनकी पत्नी अस्मत बेगम के स्मारक हैं।

भूतल के केन्द्रीय कक्ष के ठीक ऊपर मकबरे की ऊपरी मंजिल भी एक वर्गाकार कक्ष है। बारादरी नाम के इस कक्ष के तीनों ओर कोटरिकाएं हैं। उत्तर और पूर्वी छोर की कोटरिका खुली है जबकि 2 अन्य में खूबसूरत जालियां लगाई गई हैं। अग्रभाग में एक छज्जा है। कक्ष की छत पिरामिड के आकार की है जिसके ऊपर कमल के फूल की पतियों की छत और फिर उसके ऊपर चारों कोनों में चार कलश बनाए गए हैं। इसके वास्तुशिल्प की सीधे भूतल के चार कोनों पर अष्टभुजाकार टावरों के ऊपर चार गोलाकार टावर इस इमारत के वास्तुशिल्प की मुख्य विशेषता है।

मकबरे की सजावट पद्धति

एतमादुद्दौला का यह मकबरा, उस समय की सजावटी पद्धति, रूपों तथा शैलियों की प्रदर्शनी का उत्कृष्ट नमूना है। ऐसा माना जाता है कि जड़ाऊ कार्य के इस उत्कृष्ट नमूने के बाद ही ताजमहल में ऐसा सजावटी कार्य किया गया। मकबरे के तल को कई लम्बी पट्टियों और बॉर्डरों से सजाया गया है

और सीधे और लम्बे पैनल भी बनाए गए हैं। डैडों के ऊपर लम्बी पट्टियां और उसके किनारों पर कार्टउचेस बनाए गए हैं। टॉवरों के ऊपर तक, कमरों के अन्दर दीवारों के ऊपर तथा छज्जे आदि सभी पर इस तरह की सजावट की गई है। इसके अलावा डिजाइन के रूप में कप, गुलदस्ते बनाए गए हैं जो जहांगीर काल की सजावट शैली का अनुसरण है। डैडों के ऊपर प्रवेश मेहराबों के दोनों ओर गहन जड़ाऊ पच्चीकारी की गई है। अलग–अलग डिजाइनों, पच्चीकारियों, रंगीन पत्थरों और इसके सीधे और लम्बे पैनलों के कारण कहीं भी इतनी सजावट नीरस नहीं लगती।

एतमादुद्दौला का मकबरा, आगरा

एतमादुद्दौला के मक़बरे की तस्वीर

ऊपरी मंजिल के मण्डप और इस कमरे के खडंजे को भी भूतल की भांति जड़ाऊ काम और अरबुस्क शैली में फूल की पत्तियों, बेलों, मेघ–आकृति आदि से सजाया गया है। भूतल के कक्षों के अन्दर गचकारी और रंग–बिरंगे, गुलदस्ते सरू और अन्य फारसी सजावट कला से चित्रित किया गया है। पैनलों तथा आलों में 'त्वी' नामक चीनी मेघ–आकृतियों बनाई गई हैं और छतों पर नीले, लाल तथा सुनहरी रंगों से उत्कीर्णशुदा गचकारी में आरोही निक्षेप के डिजाइन बनाए गए हैं।

मकबरे में ज्यामितीय तथा पच्चीकारी के साथ–साथ जानवरों की आकृतियां भी बनाई गई हैं। इनमें मयूर की आकृति का अधिक प्रयोग किया गया है। इस्लामी कला में मानव–आकृतियां इस्तेमाल नहीं होती परन्तु यहां सजावटों में मानव–आकृतियों का भी उपयोग किया गया है। कई गुलदस्तों में छतरी की सजावट की गई हैं और गुलदस्ते के अन्दर एक मानव–आकृति को रखा गया है।

कुछ विद्वानों का मानना है कि मकबरे में अधिकांश डिजाइन स्वदेशी हैं। ऐसे जड़ाऊ सजावटी कार्य से पहले हुमायूं के मकबरे और लाल किला, आगरा के महलों में लाल बलुआ पत्थर में सफेद, संगमरमर का जड़ाऊ कार्य किया गया होगा जो बहुत पहले कुतुब परिसर के अलाई दरवाजे का अनुसरण हैं इस प्रकार एतमादुद्दौला तथा ताजमहल जैसे बाद के संगमरमरी स्मारकों के जड़ाऊ कार्य में स्वदेशी शैली का इस्तेमाल है।

अन्त में कहा जा सकता है कि एतमादुद्दौला का यह मकबरा सजावटी जड़ाऊ कला के साथ–साथ मुगल स्थापत्य के संक्रमण काल का उत्कृष्ट नमूना है।

रमेशचन्द्र मिश्र
अपर सचिव एवम् वित्तीय सलाहकार
संस्कृति मंत्रालय
शास्त्री भवन, नई दिल्ली
अंग्रेजी से अनुवादः ***आर.के. शर्मा***

मृदुला सहाय

प्राचीन भारत में वनस्पति

सौजन्यः रामपुर रजा लाइब्रेरी

चित्रित फारसी बाल्मीकि रामायण, अनुवादक सुमेर चन्द 1719 ई0

प्राचीन भारतीय समाज में शरीर और प्रकृति के सम्बध का विज्ञान समृद्ध था। वैदिक काल (1500ई. पू.) से प्राप्त विवरण इसकी पुष्टि करते हैं। परन्तु, उत्तर वैदिक काल विशेषतः उपनिषद् साहित्य में इसका लगभग अभाव मिलता है, जबकि, उपनिषद का साहित्य ब्राह्मण ग्रन्थों के कर्मकाण्डों के विरूद्ध रचा गया। यह प्रश्न महत्वपूर्ण है कि वानस्पतिक सम्पदा के वैदिक काल के समृद्ध विवरण के बावजूद औपनिषदिक साहित्य में इसकी धारा शिथिल क्यों पड़ी है?

उत्तर वैदिक काल में उपनिषद साहित्य को छोड़ शेष में वानस्पतिक सम्पदा का विवरण मिलता है। इस काल (1000–500 ई.पू.) में वनस्पतियों और धातुओं के रसायनिक मिश्रण और उनसे प्राप्त नयी औषधि का विवरण भी मिलता है। ऋग्वेद को छोड़ शेष वैदिक साहित्य में वनस्पतियों की जीवन–विषयक व्याख्या मिलती है। जहां वनस्पतियों का विवरण मिलता है, वहीं चिकित्सा विज्ञान के जानकारों की सामाजिक उपेक्षा का भी उल्लेख हुआ हैं। कृषि के विकास के साथ वर्ण–व्यवस्था में ब्राह्मण और क्षत्रिय के प्रभुत्व की भी चर्चा हुई है। पेशों के वर्णगत परिवर्तन के बावजूद पुराहितों के प्रभाव को कम करके नहीं आंका गया है। निःसंदेह कृषि के विस्तार के साथ व्यापार का मार्ग प्रशस्त हुआ है। नगरीकरण का यह एक प्रमुख सोपान है। कृषि के प्रसार के साथ वनस्पतियों के उपयोग का क्षेत्र भी व्यापक हुआ है। उत्तर वैदिक साहित्य में खेतों के बीच विभाजन या मेड़ पर चुने हुए पेड़ों को लगाने का उल्लेख यह दर्शाता है कि जंगल के काटे जाने के बाद उस समय का समाज वनस्पतियों के प्रसार के प्रति संवेदनशील था। कुछ विशिष्ट वनस्पतियों और उनके उत्पाद की बिक्री और उनके काटे जाने पर भी

प्रतिबंध था, जैसे लाक्षा (लाख या लाह), फ्लाश आदि।

प्रायः रचनाकाल की दृष्टि से वैदिक साहित्य को दो भागों में बांटा जाता है, पूर्व वैदिक काल और उत्तर वैदिक काल। वैदिक साहित्य की रचना एक ही समय में नहीं हुई है। ऋग्वेद के प्रथम और अंतिम (दशम् मंडल) को क्षेपक भी माना जाता है। कई विद्वान भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से श्लोकों की व्याख्या करते हैं और मंडलों के श्लोकों में काफी अंतर पाते हैं। फिर भी, मोटे तौर पर ऋग्वेद का रचनाकाल 1500–1000 ई.पू. माना जाता है। निःसंदेह कृषि समाज का समग्र ढांचा ऋग्वेद परवर्ती वेदों में मिलता है। परन्तु इसके प्रारंभिक स्रोत ऋग्वेद में मौजूद थे। पशु के रूप में गाय और अग्नि का महत्व ऋग्वेद और परवर्ती ऋग्वैदिक साहित्य में मिलता है। अन्य पशु भी आये हैं, घोड़ा भेड़, बकरी इत्यादि, लेकिन ऋषियों का सारा ध्यान गाय पर ही केन्द्रित रहा है। मुख्य धंधा पशु–चारण था। पशु व्यावसायिक लेन–देन का भी माध्यम था। ऋग्वेद में अन्न के लिए 'यव' शब्द आया है, जो बाद में 'जौ' का पर्याय बना। यह सभी प्रकार के अन्नों के लिए प्रयुक्त होता था। ऋग्वेद में खेतों के जोतने का भी प्रसंग आया है। पेय के रूप में सोम (दूध और दही का मिश्रण) का वर्णन यह दर्शाता है कि कृषि और पशु–पालन दोनों उस काल में मौजूद थे, जो बिल्कुल प्रारंभिक अवस्था में थे। चिकित्सा की प्रारंभिक जानकारी भी ऋषियों को रही होगी। ऋग्वेद के प्रथम भाग (श्रीपाद दामोदर सातवलेकर/पृ0 103) में एक श्लोक में 'मेघ' (श्लोक संख्या–4) शब्द आया है। यह औषधियों के पारस्परिक मिश्रण को कहते हैं। उसी अध्याय में सूर्य को वीर्यवर्द्धक (श्लोक संख्या–5) कहा गया है। ऋषियों के अनुसार सोम आदि वनस्पतियों से मिलने वाले अन्न में जो बाधा डालते हैं, वे मानवों के शत्रु है (प्रथम भाग/श्लोक संख्या 8/पृ. 104)। प्रथम अध्याय के तृतीय भाग में कहा गया है कि चारों वर्ण और निषाद ये पांच जन मिलकर इन्द्र के लिए स्तुतियां करते हैं, तब वह इन्द्र स्तुतियों से वृद्धि को प्राप्त होकर अपने सामर्थ्य से शत्रुओं को मारता है (सातवेळकर/पृ. 231)। अभिप्राय यह कि वनस्पतियों पर किसी एक वर्ण का शिकंजा नहीं रहा होगा। वानस्पतिक सम्पदा सार्वजनिक सम्पति रही होगी। ऋग्वेद के कई श्लोकों में शत्रुओं

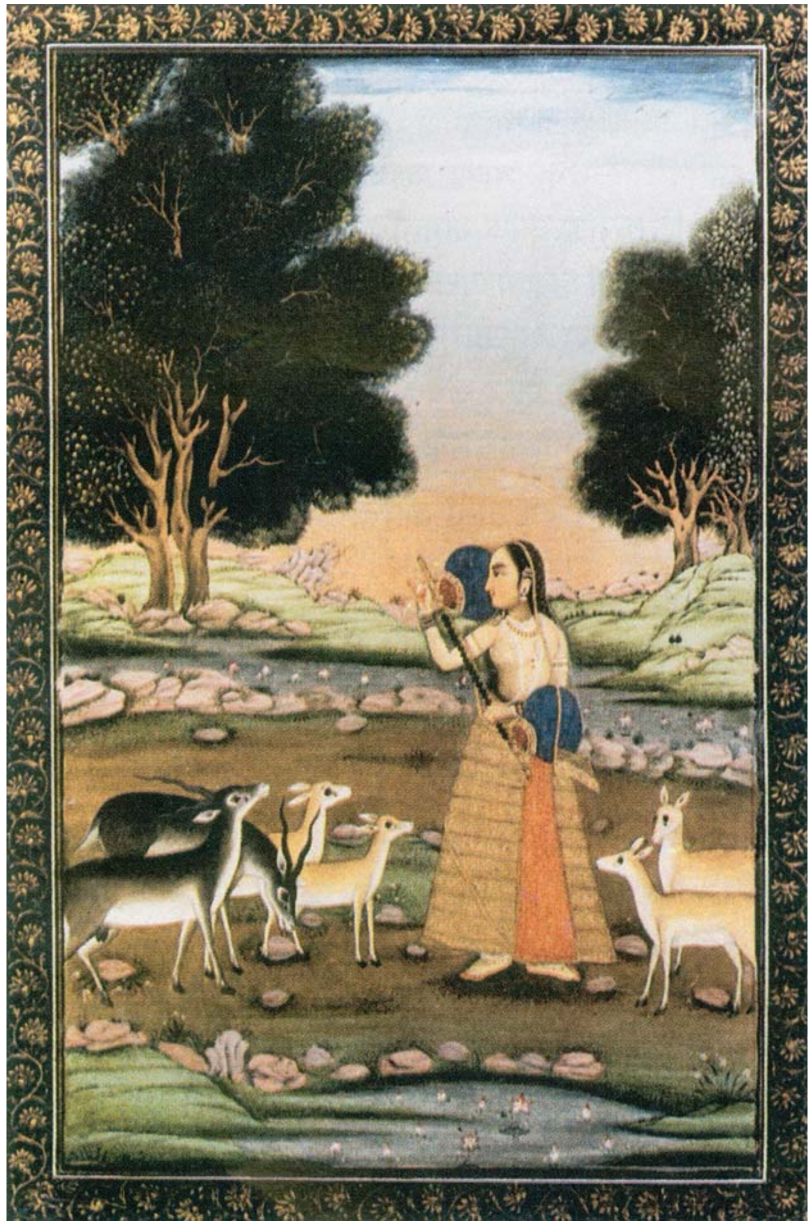

सौजन्यः रामपुर रजा लाइब्रेरी

रागमाला की अलबम की एक तस्वीर जिसमें रागिनी मालकोंस तोड़ी को प्रदशित किया गया हैं

का नाश करने का जिक्र आया है। किसी एक जगह स्थायी तौर पर बसना इनके लिए गंभीर समस्या होगी। ये जगह बदलते होंगे। संभवतः इन्हें स्थान–विशेष की वनस्पतियों की जानकारी भी होगी। अनायास बढ़ने वाली वनस्पतियों से ये कमोबेश अवगत होंगे। इसलिए भी इनका ध्यान औषधियों के निर्माण की ओर गया।

वैदिक साहित्य की एक धारा प्रकृति और मनुष्य के पारस्परिक सम्बन्ध की है। कहा जाए तो यह पूरे वैदिक साहित्य की मूल प्रवृत्ति है। साहित्य में प्रकृति का असीमित भंडार बहुलता में नहीं मिलता है। जीवनोपयोगी उत्पादनों की विशेष चर्चा है। अथर्ववेद के 'कुलवधूसुक्त' में कन्या की दिनचर्या का विवरण हैः ''वृक्ष वनस्पतियों से पत्ते फूल और मंजरियां लेकर लोग माला बनाते हैं, और उस माला को गले में धारण करते हैं। इस प्रकार वह कन्या सुगंधित फूलों वाली वल्ली है, इसके फूल और पत्ते (मुख कमल और हस्त पल्लव) अथवा इसका सौन्दर्य और तेज मैं लेता हूं, और उससे मैं सुगंधित होना चाहता हूं। अर्थात् मैं इस कन्या के गृहस्थाश्रम करने की इच्छा करता हूं। जैसे पर्वत अपने विशाल आधार पर रहता है, उसी प्रकार यह कन्या अपने माता पिताओं के सुदृढ़ आधार पर रहे।''

जीवन में प्रकृति का महत्व वैदिक साहित्य का मूल आधार है। इसी आलोक में मंत्रद्रष्टाओं ने वनस्पतियों का चुनाव और उसकी उपयोगिता का अनुभव किया है। ये मंत्रद्रष्टा वनस्पतियों की प्रकृति को बहुत करीब से देख रहे थे। अथर्ववेद में अलग–अलग बीमारियों में वनस्पति की उपयोगिता का प्रतिपादन हुआ है। वनस्पतियों की नामवार सूची वैदिक साहित्य में शायद ही मिले। मंत्रद्रष्टाओं ने वनस्पतियों की परख के बाद ही उनके जीवनोपयोगी पक्ष को उजागर किया है। इस अध्ययन के क्रम में उन्होंने वनस्पतियों पर सौर मंडल के प्रभाव का निरीक्षण किया है। अथर्ववेद के कुष्ठ नाशक सूक्त में सूर्य की किरणों को पित्त बढ़ाने की शक्ति का नाम दिया गया है। सूर्य की किरणों से ही पित्त संचित होता है। वनस्पतियों की एक कोटि आसुरी की है। असुर से अभिप्राय अनार्य, दास और राक्षस तीनों का है। खास बात है कि जो वनस्पतियां बहुतायत में होती होंगी, उन्हें ही शायद आसुरी नाम दिया गया हो। एक वनस्पति श्यामा का उल्लेख है, जो दो वनस्पतियों के संयोग से तैयार होती है– सरूपा नाम ते माता सरूपो नाम ते पिता (हे औषधे! तेरी माता सरूपा यानि समान रंगों वाली तथा पिता भी समान रंग वाला है। श्यामा वनस्पति को 'सरूप–कर्णी' (समान रूप–रंग बनाने वाली) की संज्ञा दी गयी है। इसी संदर्भ में कहा गया है कि उद्यानशास्त्र जानने वाले इसे जानते हैं। अथर्ववेद में पौधों की विद्या नवजात अवस्था में थी लेकिन स्वतंत्र अस्तित्व ले रही थी। इस आलोक में कई निष्कर्ष अनुमान से भी परे महसूस होते हैं। जैसे, सूर्य की किरण, पित्त और वनस्पति के संबंध में मंत्रद्रष्टा के विचार। श्रीपाद दामोदर सातवेळकर ने ऐसे कई पक्षों पर विचार नहीं किया है। किसी भी वेदज्ञाता के लिए शायद यह संभव भी नहीं हो। इस मंत्र के अनुमान से परे होने के वावजूद सूर्य, प्रकृति और मानव–जीवन के संबंध के नये आयामों की खोज वैदिक साहित्य का प्रमुख विषय रहा है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता है। इसकी चर्चा अग्नि प्रसंग में व्यापक रूप में होगी।

वैदिक साहित्य में धन–संग्रह के मुख्य स्रोत वनस्पति और पशु समुदाय रहे हैं। वनस्पतियों की खोज और जीवन में उपयोगिता को प्रतिपादित करने के बावजूद वैदिक साहित्य में उन वनस्पतियों के व्यापार का ब्यौरा बहुत कम मिलता है। लाक्षा या लाख की चर्चा अथर्ववेद में हुई है और इसे 'प्राण तत्व' कहा गया है। परन्तु इसके संग्रह और व्यापार का उल्लेख नहीं मिलता है। धन–राशि के रूप में खेती पर अधिक जोर है। इसका कारण शायद जीवनोपयोगी वनस्पतियों को सार्वजनिक रखने की नीयत हो। वनस्पतियों के संबंध में मंत्रद्रष्टाओं का ज्ञान इंद्रियजन्य रहा है। इन्द्रियों से प्राप्त अनुभव के आधार पर ही निष्कर्ष दिए गए हैं। ऐसा कोई उपकरण वैदिक साहित्य में शायद ही उपलब्ध हो जो इंद्रियों से परे वनस्पति के संबंध में कोई निष्कर्ष दे। डा. पी. राय और एच.एन. गुप्ता 'चरकसंहिता' के एक ही पशु के विभिन्न उत्पादों और उसके उपयोग की चर्चा करते हैं जैसे, गाय के दूध, उसके मांस, मूत्र, चरबी और उसके सींग के जीवोपयोगी तथ्य दिए गए हैं। जहरीले कीड़ों के काटने पर और अनियमित ज्वर, क्षय, (टी.बी) जैसी बीमारियों के लिए गो–मांस बहुत उपयोगी है। इसी प्रकार छाती में कफ जम जाने पर गाय के सींग का धुंआ कफ को बाहर निकाल देता है। इससे यह अनुमेय कि वैदिक साहित्य में इंद्रियों से प्राप्त अनुभव ही ज्ञान का आधार रहा है। अथर्ववेद में अष्टांग का उल्लेख

हुआ है– शल्य, शालाक्य (गर्दन से ऊपरी भाग की आंतरिक चिकित्साकाय चिकित्सा), भूत विद्या (यक्ष, पिछाच, असुर, नाग, आदि के आवेश से दूषित, चित्रवाले, एवं उन्मत व्यक्तियों की चिकित्सा) कौमार नृत्य (बाल रोग चिकित्सा और समस्त स्त्री रोग तथा प्रसूति तंत्र इत्यादि) शल्य चिकित्सा (Surgery) के आदि स्रोत भी वैदिक साहित्य में मिलते हैं, लेकिन अब तक के प्राप्त प्रकाशित साहित्य में शल्य चिकित्सा के लिए किसी तकनीकी उपकरण का उल्लेख कम ही मिलता है। इन्होंने वनस्पतियों के माध्यम से ही शल्य चिकित्सा करने को उपयोगी माना है। महाभारत में युद्ध के उपरान्त घायल सैनिकों की चिकित्सा हल्दी और चूना के द्वारा होती थी और वह समय वातावरण, मनुष्य और संपूर्ण प्राकृतिक संपदा के गहरे संबंध को तलाशने का था, इसलिए संपूर्ण वैदिक साहित्य यहां तक कि उसके अध्यात्मिक प्रसंग में भी इसकी चर्चा मिलती है। इसलिए चिकित्सा के अन्तर्गत भूत या पराविद्या का उल्लेख मंत्रद्रष्टाओं के आतंरिक द्वंद्व को भी इंगित करता है। शायद उनके मन में भूत–प्रेत से उत्पन्न बीमारियों का आभास रहा हो। इतिहासकार डा. देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय ने लिखा है कि उस काल के केन्द्र में पदार्थ और उसकी सत्ता शरीर और वातावरण के पारस्परिक संबंध विषय पर चर्चा के केंद्र रहे हैं। चरक और सुश्रुत ने पौधों की लगभग 900 किस्मों. का उल्लेख किया है। वैदिक साहित्य में वनस्पतियों की उपयोगिता का विवरण पदार्थ, मनुष्य और वनस्पति के संबंध को रेखांकित करता है। यह कहना उचित नहीं है कि ऋषियों के पास वानस्पतिक सम्पदा को विस्तार से समझने की कोई योजना नहीं रही होगी। धन–संग्रह के लिए इन्होंने खेती और औषधि मूलक पौधों के बीच भेद किया है। यों तो, संसार का कोई भी पौधा औषधिमूलक हो सकता है, अलग से इसका वर्गीकरण शायद व्यावहारिक दृष्टि से ही उपयोगी हो क्योंकि जितने पौधों की खोज हो पाती है उसी के आधार पर औषधिमूलक पौधों की एक कोटि बन जाती है। ऋग्वेद के दूसरे भाग में यह विवरण है। ''खेत में फल उत्पन्न करने वाली संरक्षक औषधियों को उनके गुणों से युक्त करके विविध रूपों में स्थापित और चमकते हुए सूर्य से अनेक गुणों वाली किरणों और दूर तक फैलते हुए पर्वतों के जन्मदाता के रूप में इंद्र का स्मरण हुआ है। इसी संदर्भ में फूल से लदे जौ और गेहूँ का उल्लेख है। इसी मण्डल में जल के बहाव और नदियों का ब्यौरा आया है। अभिप्राय यह कि खेतों

सौजन्य: राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली

में लगाए जाने वाले पौधों और प्रकृति से ही बिना श्रम के होनेवाले पौधों का अन्तर इन मंत्रद्रष्टाओं के मन में आदिम रूप में रहा होगा। परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि मंत्रद्रष्टाओं ने पदार्थ की सत्ता को स्वीकार करते समय भूत या पराविद्या को पूरी तरह अस्वीकार नहीं किया है।

ऋतु यानि मौसम के प्रभाव इनकी खोज का एक विषय रहा है। इस अनुसंधान में वैदिक साहित्य बहुत दूर तक नहीं जा पाता है, क्योंकि वे सौरमंडल (Solar system) की गतिविधियों और उसके स्वभाव से अवगत नहीं थे। इन्द्र को अग्नि, वर्षा और वायु के देवता मानने के पीछे शायद सौरमंडल संबंधी उनका अल्प ज्ञान प्रमुख रहा हो। वनस्पति और जीवन के संबंध को लेकर वैदिक साहित्य की चिंता का दायरा भौतिक जगत तक ही सीमित है– ''हे इंद्र! सूर्योदय के बाद तेरे लिए यज्ञ किए जाते हैं, ये सभी य़ज्ञ ऋतुओं के अनुसार होते हैं। इन यज्ञों में तेरे लिए सोमरस तैयार किया जाता है, इसलिए तू हमारी तरफ आ।'' उसी विवरण में इंद्र से घोड़े पर चढ़कर यज्ञ–स्थल पर आने का निवेदन किया गया है। एक परिकल्पना ही होगी कि इन्द्र घोड़े पर सवार होकर यज्ञ–स्थल पर आ सकते हैं। इन्द्र को अनेक गुणों से संपन्न माना गया है। उनकी प्रशंसा में एक प्रसिद्ध श्लोक है– ''पृथ्वी द्यावः औषधीः आपः जीरयः वनानिरायि रक्षन्ति।'' (पृथ्वी, द्युलोक, औषधि, जल, मानव धन तथा धन का रक्षण करते हैं) द्युलोक से अभिप्राय देवता के लोक का है और ऋग्वेद में यह शब्द अनेक बार आया है। देवताओं के अधिपति के रूप में इंद्र का स्मरण किसी एक काम के लिए नहीं हुआ है। यहां तक कि सौरमंडल के हर अंग के प्रधान के रूप में उनका स्मरण हुआ है। परन्तु यहां एक खास बात है कि ऋग्वेद का विश्वास सौरमंडल और पृथ्वीलोक से अलग देवलोक में भी है। सौरमंडल वनस्पति जगत की तरह ही एक अलग अध्ययन का विषय है, जिसे केवल इन्द्रियों के अनुभव से ही प्राप्त नहीं किया जा सकता है। सौरमंडल का अध्ययन बिना उपकरणों के माध्यम से संभव नहीं है और वैसे उपकरणों को बनाना संभव नहीं था। इसलिए वैदिक ज्ञान के क्षेत्र में मूल वनस्पति और उसकी विभिन्न विधियों से मिश्रण एक विषय रहा है। वनस्पतियों के विभिन्न मिश्रणों से रंग विद्या या विज्ञान (Science of painting) का विकास हुआ है। वैदिक और बाद के साहित्य में इसके अनेक विवरण मिलते हैं। यह भी इन्द्रिय अनुभव ज्ञान का ही क्षेत्र है। देवलोक की परिकल्पना के बावजूद सौरमंडल के अलग–अलग प्रभाव की चर्चा इसका संकेत करती है कि देवलोक एक कल्पना है और सौरमंडल वनस्पति जगत की तरह ही एक यथार्थ है। देव और पृथ्वीलोक पर वास करने वाले इन्द्र और सौरमंडल के अधिष्ठाता के रूप में इंद्र का स्मरण हुआ है। यज्ञ की वैज्ञानिकता के विवादास्पद होने के बावजूद ऋग्वेद के मंत्रद्रष्टाओं का यह विश्वास था कि यह अनुष्ठान वनस्पतियों की रक्षा करता है। यज्ञ के सौरमंडल पर होने वाले प्रभाव (यदि ऐसा है) की चर्चा नहीं हुई, शायद यह संभव भी नहीं था, बल्कि बाद के दौर पतंजलि आदि (150 ई.) में भी इस विषय का विवेचन नहीं मिलता है। इसका कारण वही है कि वैदिक और उत्तर वैदिक ऋचाओं में ज्ञानेनद्रियों से प्राप्त अनुभव ही प्रमुख आधार रहा है। जहां कहीं भी इस अनुभव का विस्तार नहीं हो सका है, वहां देवराज इन्द्र विराजमान हो गए हैं। कह सकते हैं कि ईश्वर की परिकल्पना मंत्र दृष्टाओं के इंद्रियानुभव की सीमा का परिणाम है। इसलिए वे द्युलोक (सौरमंडल) की व्याख्या करते समय आकाश के पक्षियों का स्मरण करते हैं और उसे सौरमंडल का हिस्सा मानते हैं। सौरमंडल और वनस्पति के संबंध को लेकर ऋग्वेद के एक श्लोक में कहा गया है कि ''इन वनस्पतियों के पास में इस सूर्य के चिह्न जाने जाते हैं। मैं आदित्यों के सुंदर नामों का वर्णन करता हूं। दिव्य जल भी इस सूर्य के साथ रमण करते हैं, पर जब वे जल अलग–अलग होकर चलने लगते हैं तब इस सूर्य को त्याग देते हैं।'' अभिप्राय है कि वर्षा काल तक जल सूर्य के साथ रहता है। वर्षा काल के बाद यह सूर्य से अलग हो जाता है। समुद्र और नदियों का जल वाष्प बनकर बादल का रूप धारण करता है और फिर वर्षा के रूप में पृथ्वी पर आता है। इसे ही इस मंत्र में जल और सूर्य की मैत्री के रूप में देखा गया है।

सौरमंडल की प्रक्रिया को स्वाभाविक मानते हुए इसके अध्ययन को केवल वनस्पतियों के संबंध तक सीमित रखने के पीछे वैदिक समाज की एक सीमा थी। उस समाज में जीव विज्ञान से अलग भौतिकी का विकास नहीं हो सका था। पृथ्वी के रहस्य को खोजने की चिंता रही होगी, लेकिन इस अध्ययन के पर्याप्त क्षेत्रों का विकास हो पाना नामुमकिन था। रसायन के क्षेत्र में भी रसायनिक मिश्रण का विकास ही प्रमुख रहा है। विशेषकर वनस्पतियों का इतिहास इस आलोक में लिखा जाना

आधुनिक भारतीय समाज के एक नए किस्म के कर्मकांड को बढ़ावा देना है, जबकि वैदिक साहित्य की वानस्पतिक संपदा इस आलोक में शायद ही संभव हो। ऋग्वेद और अथर्ववेद में विराट विश्व का उल्लेख है। चरक संहिता में भी इसका आभास मिलता है। वैदिक साहित्य के रचयिताओं ने अपने ज्ञान की सीमा का उल्लेख किया है। जहां कहीं भी उन्हें इन्द्रियों से पड़े ज्ञान की गुत्थी महसूस होती थी, वे आनन–फानन में इंद्र का नाम लेकर आगे बढ़ जाते थे। ऐसे कई श्लोक हैं जहां इन्द्र या राजा की स्तुति मिलती है, उसके साथ मंत्रद्रष्टाओं की ज्ञान–पिपासा का अनुभव भी होता है। जब विद्वान एक को छोड़कर दूसरे सिरे को पकड़े, आगे बढ़ जायें, तो शायद इससे न तो आत्म तत्व की गुत्थी सुलझ सकती है और न वानस्पतिक संपदा के बारे में एक दृष्टिकोण बन सकता है।[11] वनस्पतियों का भारतीय ज्ञान असीमित है। फिर भी जो आँकड़े और सूचनाएं उपलब्ध हैं, उनसे इस आधार पर प्राचीन भारतीय समाज की ज्ञान संपदा को केवल सूचना आधारित होने की संज्ञा नहीं दी जा सकती है। इंन्द्रियों के अनुभव के आधार पर प्राप्त ज्ञान की सीमा है। उसे केवल सूचना का ज्ञान मानना विशाल प्राकृतिक संपदा से मुँह मोड़ लेने की तरह है। एक ही सनातन या परमात्मा से संपूर्ण सृष्टि की उत्पति भी एक मिथ्या है और यह मानना भी निराधार है कि इन्द्रिय अनुभव ज्ञान बिना आध्यात्मिक दृष्टि से मान्य नहीं होगा।

दरअसल ऐसी मान्यता का आधार हमारे ज्ञान के अनुशासन में ही है। इस पर विस्तार से विचार करने की आवश्यकता है। फिलहाल, उपनिषद साहित्य की व्याख्या के क्रम में इस मान्यता के आदि स्रोत को देखा जा सकता है। ''ईशावंस्योपनिषद'' का प्रारम्भ ही इस कथन से होता है, ''मनुष्यों के प्रति वेद भगवान का पवित्र आदेश है कि अखिल विश्व–ब्रह्मांण्ड में जो कुछ भी यह चराचरात्मक जगत तुम्हारे देखने सुनने में आ रहा है, सब का सब सर्वाधार, सर्वनियन्ता सर्वाधिपति, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, सर्वकल्याण गुधस्वरूप परमेश्वर से व्याप्त हैं.....।[12] ईश्वर के प्रति ऐसी भक्ति शायद वैदिक साहित्य में भी महसूस नहीं होगी।'' इसे ही आधार मानकर इतिहासकार डा. आर. सी. मजुमदार (ए कंसाइज हिस्ट्री ऑफ साइंस इन इंडिया) ने उपनिषद से आत्म तत्त्व के पर्यायवाची के रूप में लघु अणु का विवेचन किया है। आत्मतत्त्व उपनिषद का केन्द्रीय विषय रहा है। प्राचीन भारतीय विज्ञान वैज्ञानिक दृष्टि से संपन्न अध्येताओं के लिए केन्द्रीय विषय राजा और प्रजागण नहीं हो सकते हैं। वैदिक द्रष्टाओं के ज्ञान की भूख उनकी इस चिन्ता में दिखाई पड़ती है कि सौर मंडल का चक्र किस प्रकार पृथ्वी की सम्पदा को प्रभावित करता है। यह सच है कि उस समय तक इनके पास कोई ऐसा यंत्र नहीं था जिससे वे इसका पता कर सकते थे। पतंजलि के समय में स्पष्ट उक्ति यह मिलती है कि औषधि शब्द छोटे पौधे और जड़ी बूटियों के लिए प्रयुक्त होते थे। ऐसे पौधे फलदार नहीं होते थे। पतंजलि से पूर्व पाणिनि (आठवीं ईसा पूर्व) ने भी इसका उल्लेख किया है। मंत्रद्रष्टाओं की सूक्ष्म दृष्टि छोटे–बड़े पौधों के वर्गीकरण की ओर गई। वे वनस्पति और जीव विज्ञान से अलग भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में बहुत सफल नहीं रहे। मनुष्य के अणु के रूप में कल्पना से आत्मतत्त्व की पुष्टि नहीं होती है। प्राचीन भारतीय समाज में प्राकृतिक विज्ञान के अन्तर्गत तकनीकी प्रगति कम हुई थी, इसलिए वैदिक ऋचाओं में सौर मंडल, पृथ्वी के संबंध और उसके कारणों और प्रभावों का विश्लेषण कम मिलता है। इन्द्र की निरन्तर चर्चा के पीछे यह एक कारण हो सकता है।

वैदिक साहित्य में इन्द्र समस्त प्राणी–जगत के देवता हैं। मध्य युग में आकर इन्हें वर्षा के देवता के रूप में जाना जाने लगा। प्राचीन भारत की अपेक्षा मध्य युग में तकनीकी विकास अधिक हुआ है। इसलिए इन्द्र का क्षेत्र भी सीमित हुआ है। अथर्ववेद में पदार्थ के दो रूपों (रूपवाले और रूपरहित) का उल्लेख हुआ है। प्रथम काण्ड में ही यह चर्चा है। मंत्र के द्रष्टा अनुसार पदार्थ दो प्रकार के हैं एक रूप वाले और दूसरे रूपरहित। आत्मा परमात्मा रूप रहित है और संपूर्ण जगत रूप वाले पदार्थों से भरा है। पदार्थों के विभिन्न रूप जो मनुष्य, पशु–पक्षी, वृक्ष, वनस्पति, पोषण आदि में दिखाई देते हैं – कौन धारण करता है, ये रूप कैसे बनते हैं? इस शंका के उत्तर में वेद कह रहा है कि जगत के मूल में सात पदार्थ– पृथ्वी, आग, तेज, वायु, आकाश, तन्मात्र और अहंकार– हैं। ये ही संपूर्ण जगत में दिखाई देने वाले विविध रूप और आकार धारण करते हैं। ये सात पदार्थ तीन अवस्थाओं में गुजरते हुए जगत के रूप और आकार धारण करते हैं। सत्य अथवा समावस्था, रज अथवा गतिरूप अवस्था और तम अर्थात् गतिहीन अवस्था, इन तीनों अवस्थाओं में पूर्वोक्त सात प्रकार से गुजरने पर कुल इक्कीस

सौजन्य: राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली

महिलाएं संगीत का आनंद लेते हुए

आत्म–तत्व की परिकल्पना पंच–तत्वों पर ही आधारित है। इसलिए वैदिक साहित्य में पृथ्वी, सौरमण्डल, मनुष्य और प्रकृति के संबंध को ही महत्व मिला है। वनस्पतियों के विश्लेषण में इसका खासा ध्यान रखा गया है कि वनस्पतियां मनुष्य के जीवन के लिए उपयोगी हों। इसी दृष्टि के आलोक में वैदिक साहित्य का महत्व है। इस साहित्य की विशेष बात है, समान गुण धर्म से युक्त पदार्थों का अनुभव। इनका मानना था कि प्रत्येक ज्ञाननेद्रिय समान गुण वाले पदार्थ से ही बनी होगी। इसलिए वे पदार्थों का विशेष गुण गन्ध को मानते हैं। इसके लिए वैदिक साहित्य में पंच तत्व की व्याख्या हुई है। आगे भी आचार्यों ने इसका महत्व समझा है। सुश्रुत और चरक संहिताओं में इस तत्त्व की व्याख्या मिलती है। सुश्रुत संहिता के पहले भाग में ही कहा गया है यह शरीर पंच महाभूतों से निर्मित है, जिसमें पंच महाभूतात्मक आहार पांच उपादानों में ठीक–ठीक परिपाचित होने पर अपने–अपने गुणों को बढ़ाते हैं। इन आचार्यों को पदार्था के द्रव्यों में रूपान्तरित होने की प्रक्रिया का ज्ञान था। यह कहना बहुत मुश्किल है कि उस समय इस विषय का गहराई से अध्ययन क्यों नहीं हो सका। फिर भी, उन्होंने प्राकृतिक द्रव्यों के शरी–द्रव्या रूपान्तरित होने की विस्तृत व्याख्या की है। अब यह प्रश्न महत्वपूर्ण है, आखिर यह व्याख्या हुई कैसे?

पदार्थ बनते हैं जो संपूर्ण साहित्य सृष्टि का रूप धारण करते हैं। पंच–तत्व में ही मनुष्य का प्राण समाहित है। वैदिक परवर्ती साहित्य में पंच–तत्व की उपेक्षा हुई है, एवज में आत्म तत्त्व (आप) को विस्तार मिला है। वैदिक ऋचाओं में सप्त–तत्वों के अन्तर्गत आत्म–तत्व को भी शामिल किया गया है। पंच–तत्व अनुभूति के योग्य हैं, जो संपूर्ण मानव जाति की धरोहर है।

ऋग्वेद में अग्नि का महत्व प्रतिपादित हुआ है। इन्द्र को अग्नि के देवता के रूप में देखा गया है। इस अग्नि को प्रज्ज्वलित करने वाले सौर मंडल के अंगों की व्याख्या हुई है। जैसे, सूर्य से तेज प्राप्त होता है और अग्नि को तेज का पर्याय माना गया है। उसी प्रकार वायु से अग्नि की शिखा तेज होती है, इसलिए वायु को भी इन्द्र कहा गया है, अग्नि का पर्याय।

अग्नि को लेकर ऋग्वेद का तीसरा भाग इसी से प्रारम्भ होता है कि हे अग्नि तू मन को सबसे पहले आकर्षित करने वाला है। इस श्लोक सहित छठे, सातवें और आठवें मण्डल में अग्नि को शत्रु को पराजित करने का तेज बल भी कहा गया है। अग्नि कामन है– प्रजा दाता और आनन्द देने वाले के लिए। कई स्थानों पर अग्नि के बदले तेज शब्द भी आया है। वरुण मित्र और अग्नि के साथ पृथ्वी और अदिति (सूर्य) की चर्चा ऋग्वेद के तीसरे भाग में भी हुई है। एक श्लोक में कहा गया है कि अग्नि, तू ऐसा कर कि हम शत्रु, चोर, दुष्ट और पापी के पास भी जा सकें, अर्थात् उनसे भी हमें कोई डर न हो। हम निडर होकर सर्वत्र संयार करें। पर यदि कोई दुष्ट अपनी दुष्टता न छोड़कर सज्जन से खराब व्यवहार करे, तो ऐसे दुष्ट को तू सज्जन से दूर ही रख। अग्नि को महत्व दिए जाने के पीछे आचार्यों के इन्दिय जनित ज्ञान की भूख ही एक कारण है। इसलिए ऋग्वेद के सातवें मण्डल के एक श्लोक में मंत्रद्रष्टा कहते हैं– ''अग्नि की ज्वाला सदा उसकी ओर ही गमन करती है। इसी तरह मनुष्यों को भी अपनी प्रगति उन्नति की ओर ही करनी चाहिए। मनुष्य इस संसार में उत्तम रीति से निवास करने के लिए उत्तम बुद्धि को प्राप्त करें। जिसके पास उत्तम बुद्धि होगी, वही वहा सुख से निवास कर सकेगा।

एक विद्वान ज्याँ वर्नेट इसे अधिक महत्व देते हैं। 'ऐतरेय ब्राह्मण' के संदर्भ के साथ उनका मानना है कि पुरोहित राजा के प्रशासन का हिस्सा नहीं था। उससे किसी युद्ध में हिस्सा लेने या राजा सहयोग करने की भी उम्मीद नहीं की जाती थी। दरअसल वह युद्ध के लिए प्रधान पुरोहित होता था जो अध्यात्म की विधि से युद्ध में राजा की विजय की कामना करता था। अग्नि को दक्षता का प्रतीक माना गया है।

अग्नि मानव जाति की सबसे बड़ी उपलब्धि रही है। इसलिए अग्नि पूरे ऋग्वेद में एक कॉमन चरित्र लिए आया है। हिन्दू धर्म के कर्मकांड के हर पक्ष में अग्नि और जल प्रभावी है। ऋग्वेदिक या पूर्व वैदिक काल (1500–1000 ई.पू.) में अग्नि को महत्त्व दिये जाने के कारण ही उस समय और परवर्ती काल में रसायनशास्त्र का विकास हो सका है, आयुर्वेद चिकित्सा का नया अध्याय खुल सका है और वनस्पतियों की नयी जातियों को समझने में मदद मिल सकी है। इसलिए अग्नि मिथ से अधिक मनुष्य के संघर्ष की कथा कहती है। अग्नि भौतिक और रसायनिक परिवर्तनों का आधार है। खाना पकाते समय ठोस का द्रव्य और द्रव्य का ठोस से रुपांतरण अग्नि के द्वारा ही संभव था। वैदिक आचार्य पदार्थ के रुपांतरण की बारीक जानकारी रखते थे। उन्होंने अग्नि को पृथ्वी की संज्ञा दी है। इससे संबंधित प्रकृति के जितने उपादान हैं, वन, वनस्पति आदि, इनका विस्तृत विवरण मिलता है। भौतिक तत्त्व शरीर के भीतर किस प्रकार रुपांतरित होते हैं, इस संबंध में वैदिक आचार्यों को अपने अनुभव से जो कुछ हासिल हुआ है, उसे वे अभिव्यक्त करते हैं। इस संबंध में यह कहना मुश्किल है कि इन ऋषियों ने पदार्थों के द्रव्यों में होने वाले रुपांतरण का अध्ययन बहुत गहराई या बारीकी से क्यों नहीं किया है। इस गहराई और बारीकी का दायरा कहां है? ग्रिपथ जैसे विद्वान अग्नि की चर्चा करने के क्रम में देहाग्नि और भौतिक अग्नि से पदार्थों के रुपांतरण का उल्लेख नहीं करते है। फिर भी, वे अग्नि को पुरोहित न मानकर उसके विशाल क्षेत्र को सीमित नहीं करते हैं। यह एक अच्छी बात है। संहिता में पंचमहाभूतों से निर्मित शरीर का उल्लेख हुआ है। पंचमहाभूतात्मक आहारों में अग्नि भी एक है। अग्नि ही एक मात्र आधार है जिससे भौतिक तत्त्व शरीर के द्रव्यों के रूप में रुपांतरित होते हैं। इसलिए उन्होंने जिस रसायनिक तकनीक को आगे बढ़ाया उसमें अग्नि की भूमिका सबसे अधिक थी। अथर्ववेद के एक श्लोक में ऋषि कहते हैं ''हे प्रकाशमय देवताओं जो तुम सर्व दिशाओं के मध्य प्रार्थना के योग्य, आशाओं के रक्षक वर्तमान हो, वे तुम हमें महामारी, फंदों और प्रत्येक पाप से छुड़ाओ।'' देवता का प्रकाश अग्नि का ही पर्याय है। वे अग्नि को इंद्र भी कहते हैं। इस अग्नि से अनुभव प्राप्त करने के बाद ही उन्होंने प्राकृतिक पदार्थों को शरीर–द्रव्यों में रुपांतरित करने की प्रक्रिया पर विचार किया। यह स्वयं में अत्यंत सराहनीय काम था। उन्होंने अपने अनुभव को ही ज्ञान का आधार बनाया। अन्य तकनीक माध्यम उपलब्ध नहीं थे, इस कारण रसायन विज्ञान की केवल एक–दो शाखाओं का विकास हो सका यानि विभिन्न ठोस और द्रव्य पदार्थों की मिलावट से एक नया रसायनिक तैयार करना।

इनके समक्ष दो प्रकार की कठिनाइयाँ रही होंगी। एक तकनीकी साधनों और दूसरा भौगोलिक क्षेत्र के विवरण का अभाव। यही कारण है कि वैदिक आचार्य वनों महत्त्व के पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। उन्हें पता था कि इसके कारण ही वे

जीवनोपयोगी वनस्पतियों की खोज कर पाएंगे। अथर्ववेद के 'मधुविद्या सूक्त' में 'ईक' का महत्त्व बताते हुए अथर्व मुनि लिखते हैं, ''यह वनस्पति मधुरता के साथ उत्पन्न हुई है। शहद के साथ तू उत्पन्न हुई हैं, अतः तू हम सबको मधुर कर।'' सातवळेकर जी के अनुसार वेद में अध्यात्म, देव, युद्ध विद्याओं के साथ एक मधुविद्या भी है। वनस्पति का स्वभाव सनातन है। जैसे ईख की मिठास। प्रकृति के सनातन सत्य को इन आचार्यों ने अक्षुण्ण भी माना है। इसलिए वे कई स्थलों पर वनस्पति को पापवृत्ति मिटाने और दिव्य भावों को बढ़ाने का आधार मानते हैं। अथर्ववेद के दूसरे कांड में दूर्वा नामक एक वनस्पति का उल्लेख हुआ है। ऋषियों के अनुसार पानी वाले स्थान में यह वनस्पति बहुलता से मिलती है। इसके उपयोग से पित्त रोग, मूरछा रोग आदि शान्त होते हैं। इसके रस के साथ जीरा और मिस्री तथा गाय के दूध का सेवन किया जाता है। स्पष्ट है कि अथर्ववेद के ऋषियों को सूखा और जल ग्रस्त क्षेत्रों की अच्छी परख थी। सर्वत्र उपलब्ध वनस्पतियों के लिए किसी क्षेत्र–विशेष का उल्लेख नहीं हुआ है। अथर्ववेद के दूसरे कांड में ''दश वृक्ष'' की चर्चा हुई है जो संधिवाद गठिया इत्यादि को दूर करता है। उसके विषय में उनका यही कहना है कि यह वनस्पति अधिक से अधिक अनुपात में हो, ''हे (वनस्पते) औषधि, इसको जीवित लोगों के स्थान में जाने योग्य ऊपर उठा।'' मतलब है कि ऋषियों के ज्ञान में वनस्पतियों का एक प्रकार वह रहा होगा जो किसी भी क्षेत्र में पैदा होती हो यानि जिसको उपजाने के लिए न अधिक पानी और न अधिक धूप की आवश्यकता होती होगी। निश्चय ही यह इंद्रिय अनुभव ज्ञान का एक उत्कर्ष है, जिसका विकास मध्य युग के आगमन के पूर्व साहित्य में मिलता है। जैसे लाक्षा के ही उपयोग की चर्चा कालिदास के नाटकों में हुई है और वह समय उत्तर प्राचीन काल का था।

वनस्पतियों में कुछ को ब्रह्म की संज्ञा भी मिली है। शतपथ ब्राह्मण के पांचवें कांड के अनुसार पलाश के गोंद या काढ़े (पर्णकाषाय/त्मेपद) के साथ पानी में उबाल लेने और उसके साथ सानी गयी मिट्टी बहुत सुदृढ़ होती है। शतशत के नौंवें कांड में पृथ्वी पर अग्नि को मानव जाति की सर्वाधिक महत्वपूर्ण खोज बताया गया है। पहले कांड में अग्नि के तीन रूप बताये गए हैं, गर्मी, आग और ज्वाला और बारहवें कांड में प्रत्येक लकड़ी में अग्नि का रूप माना गया है। जीवन में जो उपयोगी है, उसे ब्रह्म मानने का आग्रह वैदिक और शतपथ ब्राह्मण काल में रहा है। अग्नि के महत्त्व को उपनिषद–साहित्य में भी मान्यता मिली है लेकिन वहाँ उपनिषद्कारों ने अग्नि और वनस्पति को अनित्य (नाशवान) बता कर वैदिक ऋचाओं के समानांतर एक नयी विचारधारा को ही जन्म दिया है। वे आत्मा को पंचतत्त्वों में शामिल नहीं करते हैं। कठोपनिषद आत्मा को 'महतः परम्' कहता है। मुंडकोपनिषद की परिकल्पना के अनुसार ब्रह्म के तप के फलस्वरूप अन्न उत्पन्न हुआ और फिर अन्न से प्राण, मन, सत्य, लोक, कर्म और अमृत विकसित हुए। इस उपनिषद के पहले अध्याय (प्रथम मुंडक) में कहा गया है कि ब्रह्मा से सब प्राणियों की उत्पत्ति और वृद्धि करने वाला अन्न उत्पन्न होता है। फिर अन्न से क्रमशः प्राण, मन कार्यरूप, पांच महाभूत, समस्त प्राणी और उनके वास स्थान, उनके भिन्न–भिन्न कर्म और उन कर्मों से उनका निश्चित सुख–दुख रुपी कर्म–फल इस प्रकार यह सम्पूर्ण जगत उत्पन्न होता है।

एक दृष्टि से वैदिक साहित्य की मूल चिन्ता का विकास शतपथ ब्राह्मण में मिलता है। अग्नि और वनस्पति को ब्रह्म का पर्याय मानने का आग्रह आत्मवादी चिन्तन नहीं था। ऐसा नहीं है कि वैदिक साहित्य में आत्मवादी चिन्तन के स्रोत नहीं थे। अगर नहीं थे तो उपनिषद साहित्य का विकास कैसे हुआ? परंतु वैदिक साहित्य की मूल चिन्ता आत्मवादी नहीं थी। उसकी धारा वनस्पति जगत को समझने की थी। अग्नि और वनस्पति केवल ईश्वरवादी होते तो शायद वनस्पतियों का विवरण नहीं मिलता। वनस्पतियों के विवरण में भी वैदिक आचार्यों ने केवल नाम नहीं गिनाये हैं, जैसा कि उपनिषद साहित्य में मिलता है। वात, कफ और पित्त, इनसे होने वाली बीमारियों के निदान में पेड़–पौधों की व्याख्या मिलती है। ऋषियों ने छोटे और बड़े पत्ते वाले पौधों का भेद किया है। पृश्नपर्णी शब्द छोटे पत्तों वाली लताओं के लिए प्रयुक्त हुआ है।

मृदुला सहाय
रिसर्च एसोसिएट/
इंडियन नेशनल साइंस अकादेमी,
(नई दिल्ली)

डॉ. नंदलाल महता 'वागीश'

संस्कृति और संस्कार

सम् उपसर्ग पूर्व कृ धातूपरान्त क्तिन प्रत्यय लगा कर सुट् के आगम से संस्कृति शब्द बनता है।[1] संस्कृति शब्द, संस्कृत विशेषण की भाव संज्ञा है। हिन्दी शब्द सागर में संस्कृति शब्द के जो अर्थ दिए गए हैं वे सभी शारीरिक और मानसिक संस्कार के सूचक हैं। भाव यह कि संस्कृति शब्द एक ओर बाह्य परिष्कार का अर्थ–बोधक है तो दूसरी ओर आन्तरिक परिष्कार का। अष्टाध्यायी के "सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे[2] सूत्रानुसार सम् उपसर्ग–पूर्व कृ धातु का नैर्वचनिक अर्थ है, समलंकृत तथा ख्याति–मंडन कारक। यही कारण है कि संस्कृति को 'भूषणभूत सम्यक् कृति अथवा चेष्टा[3] कहा गया है। भूषणभूत सम्यक् चेष्टाएं मानव–व्यवहार को प्रकाशित करने वाली वे ऊर्जात्मक रश्मियां हैं जिन के प्रकटन से ही असम्यक् चेष्टाएं तिरोहित हो जाती हैं। इस प्रकार संस्कृति शब्द के मूल में ही उन्नयनमूलक परिष्कार–प्रक्रिया का भाव निहित है। संस्कृति–परिवार के अन्य शब्दों में भी अर्थ का उक्त भाव व्यंजित होता है। अन्य शब्द हैं– संस्करण, संस्कार, संस्कृत, संस्क्रिया इत्यादि। इन सभी शब्दों में परिष्कार–परिमार्जन का भाव निहित है।

संस्कृति के नैर्वचनिक अर्थ से ज्ञात होता है कि संस्कृति में परिष्कार (संस्क्रिया) का भाव सन्निविष्ट है। अवधेय है कि परिष्कार अपनी क्रिया के साथ ही समाप्त हो जाने वाला कार्य–व्यापार नहीं है, अपितु सर्जन–प्रक्रिया है। संस्कृति के निर्वचनमूलक अर्थ के पश्चात् संस्कृति शब्द–प्रयोग की परम्परा और दिशा का भी विचार कर लेना प्रासंगिक होगा। संस्कृति शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग यजुर्वेद में उपलब्ध है –'अच्छिन्नस्य ते देव सोम सुवीर्यस्य रायस्पोषस्य ददितारः स्थाम। सा प्रथमा संस्कृतिः विश्ववारा।[4]

उक्त मंत्र सोम रस के संदर्भ में है किन्तु यहां विश्ववारा विशेषण का साभिप्राय प्रयोग है। संस्कृति विश्ववारा का अर्थ है– संस्कारों की वरीयता एवं वरणीयता। इससे यह अर्थ ध्वनित हुआ है कि मनुष्य के लिए जो वरणीय है, काम्य है, वह संस्कृति का अंग है।

"ऐतरेय ब्राह्मण" में मनुष्य की अन्तःकरण की शुद्धि को ही संस्कृति कहा गया है– आत्म संस्कृतिर्वाव, एतै सृजमान आत्मानं संस्कुरुते।[5]

"ऐतरेय ब्राह्मण" में मनुष्य की अन्तःकरण की शुद्धि को ही संस्कृति कहा गया है– आत्म संस्कृतिर्वाव, एतै सृजमान आत्मानं संस्कुरुते।[5]

सूर्य, 12वीं शती ई० उत्तरार्द्ध

उपर्युक्त दो–एक उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि संस्कति की चरितार्थता संस्कार में है और यह संस्कार बाह्य की अपेक्षा आभ्यान्तरिक अधिक है। यदि संस्कारों का संबंध मन की गहराइयों से नहीं होगा तो वे केवल बाह्याडम्बर ही होंगें उनकी वास्तविकता शीघ्र ही लोगों पर प्रकट हो जाएगी। जब हम किसी व्यक्ति को संस्कारवान् कहते हैं तो उस का अभिप्राय होता है कि वह व्यक्ति सदाशय, सद्भावपूर्ण, सच्चरित्र और समाज के प्रति उत्तरदायी है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि संस्कार एक प्रकार से आन्तरिक

गुणों के आधारबीज हैं, बाह्य प्रदर्शन के वस्तु–व्यापार नहीं। संस्कारों की अभिव्यक्ति मनुष्य के सामाजिक आचरण और व्यवहार में लक्षित होती हैं। संस्कारों का मुख्य उद्देश्य है व्यक्ति को संस्कारित कर समाज को सुखी, सभ्य और शीलवान बनाना। ऐसा समाज ही व्यक्ति की अस्मिता का रक्षक हो सकता हैं मनुष्य संस्कारों के माध्यम से ही समाज और राष्ट्र के प्रति एक उत्तरदायी नागरिक बन कर अपनी भूमिका निभा सकता है। अन्तरात्मा का संस्कार शासकीय दंड विधान और विधि–नियमों से अधिक बली होता है। इसीलिए सभ्य समाज के निर्माण में संस्कारों की उपयोगिता और भूमिका असंदिग्ध है। संस्कार ही व्यक्ति और समाज को सुसंस्कृत बनाते हैं।

प्रकृत अवस्था में मनुष्य पशु के समान है और वह प्रकृत वृत्तियों (Instincts) से संचालित होता है। प्रकृत वृत्तियों से प्रेरित आचरण के परिष्कार की सतत आवश्यकता बनी रहती है अन्यथा समाज का संगठन ही छिन्न–भिन्न हो जाए। प्रकृत वृत्तियों का यह परिष्कार ही संस्कृति की प्रक्रिया है। प्रकृत अवस्था से ऊर्ध्वगति की ओर मानव का पहला प्रयास ही संस्कृति का सोपान है।

प्रकृत अवस्था से ऊर्ध्वगमन दो स्तरों पर घटित होता है। एक लौकिक उन्नति के रूप में वस्तु जगत पर, दूसरा विचार और भाव–भूषित साहित्य कला, संगीत, कर्त्तव्य–अकर्त्तव्य, पाप–पुण्य–आश्रित नैतिकता तथा सत्य, प्रेम, क्षमा, दया आदि आत्मिक गुणों के माध्यम से मानसिक जगत पर। इस प्रकार से मानसिक जगत पर। इस प्रकार संस्कृति के स्वरूप की अवधारणा के मूल में मानव सोच के दो आयाम हैं–1, लौकिक उन्नति का आयाम 2. नैतिक और पारमार्थिक मूल्यों का आयाम।

संस्कृति का संबंध मनुष्य से है। देश कालानुसार मनुष्य–समुदाय जीवन के उत्तरोत्तर उन्नयन के लिए जो–जो विचार और कर्मसृष्टि करता आया है, वे सब और उनका प्रभाव मनुष्य से सांस्कृतिक व्यवहार का नियमन और दिशा–दर्शन करते रहे हैं। भाव यह कि संस्कृति का संबंध एक ओर मनुष्य के लौकिक अभ्युदय से है तो दूसरी ओर मनुष्य के चिन्तन–मनन, तत्त्वचर्चा, धर्म, नीति और दर्शन जैसे आत्मतत्वों की पहचान भी संस्कृति की परिधि में होती आयी है। इसलिए 'विश्व के नियमों की बुद्धिपरक व्याख्या' का चिन्तनपक्ष मानवी संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग है, और रहेगा।

निःसंदेह कर्म–सृष्टि के पीछे प्रेरक कारण मनुष्य का भावसमन्वित विचार पक्ष होता है किन्तु भौतिक स्तर पर अभिव्यक्त कर्म–सृष्टि के मूल में छिपा विचार भी देशकाल की बाध्यकारी सीमाओं से कभी मुक्त नहीं हो सकता। यही कारण है कि देशकालानुसार अपनी लौकिक उन्नति के चुने गए नाना मार्ग–विधानों के पीछे क्रियाशील भिन्न–भिन्न जातियों की प्राणधारा के अनुकूल उनकी संस्कृतियों का स्वरूप निर्मित हुआ है। इस दृष्टि से देशकालिक संस्कृति जातीय व्यक्तित्व के भाव और चिन्तन की कल्याणकारी अभिव्यक्ति कही जा सकती है।

किन्तु, देशकाल बाधिक कर्म और रचना की भौतिक सीमाओं को अतिक्रान्त कर मनुष्य की प्राणधारा जब शाश्वत ज्ञान, तत्व–चिन्तन, सत्य, प्रेम, सौंदर्य आदि मनस्तत्वों की ओर गतिशील होती है तो संस्कृति कालचक्र की दृश्यमान स्थूलताओं को उलांघकर चराचर जगत और यहां तक कि अदृष्ट आदर्श संभावनाओं तक व्याप्त हो जाती है। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि मानवीय सद्‌गुणों की क्रियात्मक अभिव्यक्ति का नाम ही संस्कृति है।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि संस्कृति शब्द का व्यवहार–क्षेत्र दो अर्थों में घटित होता है। एक सीमित अर्थ में और दूसरा व्यापक अर्थ में। नितान्त मूर्त और भौतिक कृतियों के स्तर पर घटित संस्कृति का व्यवहार क्षेत्र सीमित है, कारण संस्कृति का यह रूप देश–काल बाधित है। मनस्तत्त्व, बुद्ध और आत्मा के स्तर पर घटित संस्कृति का व्यवहार–क्षेत्र व्यापक है। संस्कृति का यह रूप कालातिक्रामी है।

किन्तु, सीमित और व्यापक आयाम की धारणा से यह न

समझ लेना चाहिए कि संस्कृति के इन दो व्यवहार क्षेत्रों का कहीं कोई पारस्परिक विरोध है अथवा दोनों व्यवहार क्षेत्रों के बीच शून्य का अन्तराल है। वस्तुतः दोनों व्यवहार–क्षेत्र संस्कृति की स्वरूपता के दो विशिष्ट आयाम हैं। लौकिक अभ्युदय (विचार प्रेरित लौकिक उन्नति) संस्कृति के व्यापक प्रसार का प्रस्थान बिन्दु है तो पारमार्थिक मूल्य संस्कृति की चरम परिणति। संस्कृति, लौकिक अभ्युदय और पारमार्थिक मूल्यों के बीच का प्रसार है, जो निश्चित रूप से ऊर्ध्वगामी है।

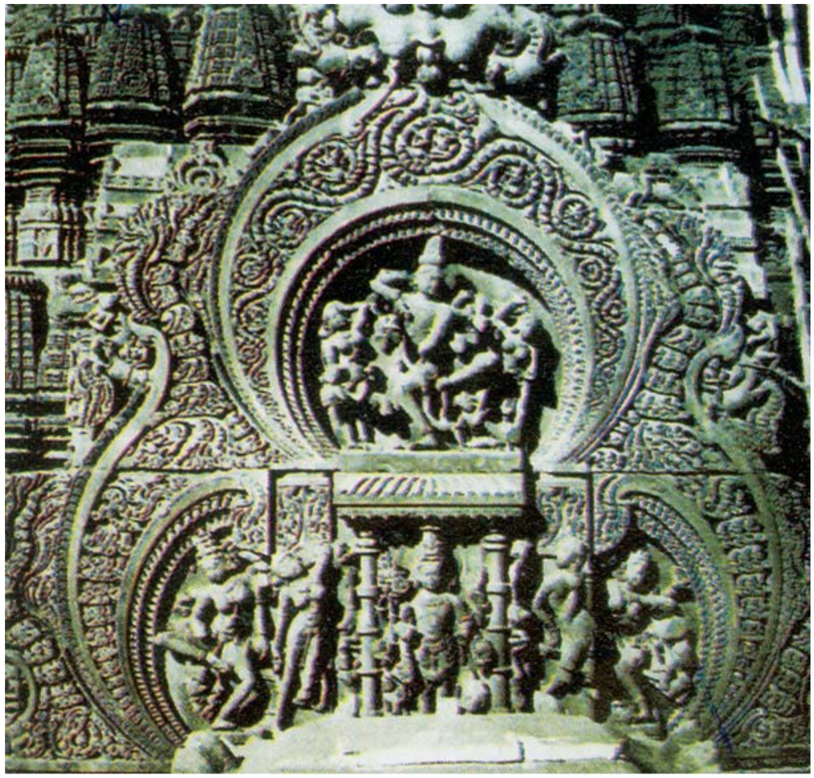

सप्राणता, ऊर्जात्मकता, सातत्य, सृजनात्मकता प्रसरणशीलता, सौन्दर्यमूलकता, स्वस्तिकता और अभिव्यंजकता संस्कृति के संघटक तत्व हैं तो साहित्य, सभ्यतामूलक तत्व, पौराणिकता, दर्शन, नैतिक चेतना, सौन्दर्य चेतना व भाषा संस्कृति की व्यंजना की चारु अभिव्यक्तियां हैं।

संस्कृति और सभ्यता के अन्तर और साम्य को समझना भी आवश्यक है। मानवीय मेधा और प्राणशक्ति का विकास दो स्तरों पर घटित होता है। (क) भौतिक स्तर पर (ख) मानसिक स्तर पर। सभ्यता मनुष्य के भौतिक स्तर (बाह्य जीवन) का विकास है तो संस्कृति मनुष्य के आन्तरिक विकास का। सभ्यता और संस्कृति के अन्तर को स्पष्ट करने के लिए लोक–जीवन का एक छोटा–सा उदाहरण पर्याप्त होगा। यदि कोई व्यक्ति अपने सामर्थ्य और औचित्य की सीमा में व्यवस्था और सुचारूता से अपनी क्षुधा–निवृत्ति के लिए भोजन करने का उपक्रम कर रहा है तो वह सभ्यता है किन्तु यदि वह अपने भोजनांश में से कुछ निकाल कर अथवा पृथक् से किसी अन्य व्यक्ति की क्षुधा–निवृत्ति के लिए भोजन जुटाकर मानसिक संतोष प्राप्त करता है, तो वह संस्कृति है।

वस्तुतः मानसिक संस्कार ही संस्कृति के स्वरूप का निर्धारण करते हैं। जिस जाति के मानसिक संस्कार जिस कोटि के होंगे उस जाति की संस्कृति का स्वरूप भी वैसा ही होगा। संस्कृति का संबंध हमारे आन्तरिक गुणों से है। संस्कृति एक प्रेरक शक्ति के रूप में मनुष्य के आचरण को गढ़ती है जिससे उसके सामाजिक व्यवहारों में शिष्टता एवं शालीनता झलकती है। शुद्ध सामाजिक सेवा की दृष्टि से क्रियाशील सामाजिक संस्थाओं की प्रेरकशक्ति भी संस्कृति ही है। संस्कृति मनुष्य के सामाजिक शील की संरक्षिका है। संस्कृति इस बात की कसौटी है कि हम अपनी चित्त–वृत्तियों का संस्कार कितना कर पाए हैं। समस्त प्राणियों के प्रति हितैषिता का भाव सुसंस्कृत व्यक्ति की पहचान है।

डा. नन्दलाल महता
शब्दालोक–1218,
सेक्टर–4, गुड़गांव।
दूरवाक्: 5077218

---

1. मानक हिन्दी कोश पांचवा खण्ड–पृ. 243
2. अष्टाध्यायी सूत्र –6/1/132
3. हिन्दू संस्कृति अंक (कल्याण) पृ. 24
4. यजुर्वेद–7/14
5. ऐतरेय ब्राह्मण – 6/5/1
6. साहित्य और संस्कृति (भूमिका) स.– वासुदेव शरण अग्रवाल

भारतीय संस्कृति और मूल्य–बोध

डॉ. कृष्णदत्त पालीवाल

आज के माहौल में भारतीय संस्कृति और मूल्य–बोध के परस्पर सह–अस्तित्व पर विचार करना बड़े जोखिम का काम है। इसका कारण यह है कि ''संस्कृति'' एक अमूर्त अवधारणा है और अपनी अमूर्त व्यापकता में इसे परिभाषित नहीं किया जा सकता। एक बड़ी कठिनाई यह है कि संस्कृति एक उधार ली हुई पश्चिमी अवधारणा है और ''कल्चर'' का पर्याय। जबकि सच यह है कि संस्कृति का सही पर्याय ''कल्चर'' नहीं है। संस्कृति में संस्कार का तत्व प्रबल होने के कारण वह एक संस्कारात्मक परिणति है। ''कल्चर'' में संस्कार–परिष्कार का भाव न होकर अभ्यास से उत्पन्न परिणाम का बोध प्रमुख है। इसलिए मछली की, रेशम की कल्चर होती है। लेकिन संस्कृति न आर्थिक–भौतिक आध्यात्मिक होती है, वह एक समग्र प्रक्रिया है। आचार्य नरेंद्र देव मानव और प्रकृति, मिथक और धर्म, दर्शन और अध्यात्म को एक संश्लिष्टता में गूंथ कर कहते थे– ''संस्कृति चित्त की खेती है।'' खेती की तरह चित्त को जोतना–बोना–निराना–सींचना–रखवाली करना, खर–पतवार निकाल कर फेंकना, उसे निरंतर माँजने–सँवारते रहना पड़ता है। भारतीय संस्कृति में मानव और प्रकृति दो नहीं हैं, दोनों एक ही हैं। दोनों में अद्वैत है– पारस्परिकता का अभेद भाव।

परंपरागत और रूढ़ सांस्कृतिक–आत्मछवि से मुक्त होकर भारतीय संस्कृति और मूल्य–बोध पर नए सिरे से विचार करने की आवश्यकता है ताकि उसका नया भाष्य या विमर्श किया जा सके। इस नये ''पाठ'' की अंतर्पाठीयता में पूर्व की संस्कृति और यूरोपीय संस्कृति के ऐतिहासिक–राजनीतिक–मिथिकल संदर्भों पर निगाह को केंद्रित करना होगा। उनके द्वंद, तनाव, टकराहट, लेन–देन, सहभाग, शत्रु–भाव आदि को ''जानना'' होगा। क्योंकि स्वाधीनता संग्राम ने प्रयत्नपूर्वक भारतीय संस्कृति के प्रेरणा–स्रोतों को न केवल उभारा था, उसमें मिथकों–प्रतीकों के नए संदर्भों को भी जोड़ा था। समाजशास्त्री श्यामाचरण दुबे ने यह विचार व्यक्त किया है कि हर संस्कृति समूह, समुदाय और राष्ट्र की अपनी अलग छवि होती है। इसके दो पक्ष होते हैं– एक वह जिसे इकाई स्वयं विकसित करती है और दूसरी वह जो उसे इतर संस्कृतियां देती हैं। पहली को हम ''आत्मछवि'' या सेल्फ इमेज कहते हैं और दूसरी को ''प्रदत्त छवि'' या सेल्फ इमेज कहते हैं और दूसरी को ''प्रदत्त छवि'' गिव्हेन इमेज। (परंपरा, इतिहास–बोध और संस्कृति, पृ. 35) आत्मछवि के भी दो पक्ष होते हैं– हाथी के दांत की तरह जो दिखाने के और होते हैं खाने के और। आत्म छवि का एक रूप दुनिया को दिखाने के लिए सकारात्मक होता है। ''प्रदत्त छवि'' का रूप सकारात्मक भी होता है और नकारात्मक भी। दोनों छवियाँ – आत्म छवि और प्रदत्त छवि – स्थिर और दृढ़ नहीं होतीं। बदलते संदर्भ, परंपराओं में द्वंद, ऐतिहासिक अनुभव और विशिष्ट उपलब्धियों द्वारा उनमें गुणात्मक परिवर्तन होते रहते हैं। भारतीय संस्कृति या कोई अन्य संस्कृति, उनमें जाने–अनजाने जातीय स्मृतियों, जातीय–अस्मिताओं के आग्रह और दुराग्रह आ ही जाते हैं। फलतः इनसे सामाजिक–सांस्कृतिक संरचनाओं के प्रेरक सिद्धांत और संस्कृति के मूल्यों का झुकाव उनके द्वारा प्रामाणिक ढंग से नहीं समझा जा सकता।

भारतीय संस्कृति की एक नहीं अनेक छवियां हैं इन छवियों में निरंतर परिवर्तन होते रहे और बाहर की संस्कृतियों का हस्तक्षेप भी कम नहीं रहा। ''भारतीयता'' की अवधारणा बदलती रही और जिसमें कई मूल्य लुप्त होते गए।

भारतीय संस्कृति की एक नहीं अनेक छवियां हैं। इन छवियों में निरंतर परिवर्तन होते रहे और बाहर की संस्कृतियों का हस्तक्षेप भी कम नहीं रहा। ''भारतीयता'' की अवधारणा बदलती रही और जिसमें कई मूल्य लुप्त होते गए।

बुद्ध, 8वीं शती ई०

प्रश्न उठता है कि भारतीय संस्कृति को रूप और आकार, चिंतन और मूल्य देने वाले हमारे पूर्वज थे कौन लोग? कहां से आए थे? क्या वे जनजातीय कबीले थे और कुछ का प्रजातीय संबंध अफ्रीकी नीग्रो लोगों से था, कुछ ऑस्ट्रेलिया के आदिवासी समूहों से, कुछ का दक्षिण–पूर्व एशियाई की मंगोलायड शाखा से? इन प्रजातीय समूहों की सांस्कृतिक देन क्या है? निश्चयात्मक रूप में कुछ नहीं कहा जा सकता। आज हम आर्य–द्रविड़ छवियों–प्रतीकों, बिंबों की तो बात करते हैं, अनेक आदिवासी जनजातीय समूहों की बात नहीं करते। आर्यों–द्रविड़ों के आदि देश पर बहस जारी है। उधर जयशंकर प्रसाद, रामविलास शर्मा जैसे भारतीय संस्कृति की जड़ों के खोजी कह रहे हैं कि आर्य न तो बाहर से आए थे, न आक्रांता थे, न उन्होंने द्रविड़ों को लूटपीट कर खदेड़ा। विदेशी इतिहासकारों ने आर्य–द्रविड़ एकता पर आग रखने के लिए यह सिद्धांत रखा है कि आक्रांता आर्यों ने बाहर से आकर यहां के मूल निवासी द्रविड़ों को लूटा–पीटा और दास बनाया तथा उत्तर से दक्षिण की ओर खदेड दिया। इस तरह के ''फूट डालो राज करो'' नीति वाले साम्राज्यवादी सिद्धांतों का डॉ. रामविलास शर्मा ने खंडन किया है। (भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश, भाग 1, 2)।

भारतीय संस्कृति का उच्चतम मूल्यों से निकट का संबंध है। आध्यात्मिक और भौतिक, नैतिक और सांस्कृतिक–सामाजिक मूल्यों का आदर्श मॉडल। संस्कृति से जुड़े मूल्य क्या हैं? एस. आबिद हुसैन के विचार से संस्कृति किसी समाज में निहित मूल्यों की चेतना है, जिसके अनुसार वह समाज अपने जीवन को ढालना चाहता है जैसे करुणा–दया, उदारता, अहिंसा, मानव–प्रेम, त्याग आदि। धर्म और सभ्यता की चित्तवृत्तियाँ इनमें सक्रिय रहती हैं। (भारत की राष्ट्रीय संस्कृति, पृ. 3) भारतीय संस्कृति के आधार प्राकृतिक सिद्धांतों अर्थात प्रकृति से संबंधित वैदिक संस्कृति, उपनिषद् संस्कृति, अरण्यक संस्कृति रहे हैं। इधर बहुत से विद्वान मानने लगे हैं कि भारतीय संस्कृति के मूल स्रोत सिंधु घाटी सभ्यता (3250 ईसा पूर्व–2000 ईसा पूर्व) में मौजूद हैं। पश्चिमी पंजाब के हड़प्पा में और सिंध के मोहनजोदड़ो में किए गए उत्खनन से यह तथ्य प्रकाश में आए हैं कि यहाँ कभी काफी उन्नत नगर सभ्यता रही होगी। यह सभ्यता–संस्कृति संपूर्ण पंजाब, सिंध, बलूचिस्तान, काठियावाड़ के बड़े भू–भाग, पश्चिमी उत्तर प्रदेश आदि में फैली हुई थी। इस संस्कृति की गणना राष्ट्रीय प्राचीन संस्कृतियों में की जानी चाहिए। यह संस्कृति सर जान मार्शल के अनुसार प्राचीन बेबीलोन और मिस्र से ज्यादा विकसित थी। यहाँ प्राप्त सिक्कों पर शिव, त्रिशूल, सांड, शेर, देवी, स्वस्तिक चक्र आदि अनेक तरह के प्रतीक मिले हैं। यह सभ्यता–संस्कृति बाहरी आक्रमणों या प्राकृतिक विपदाओं से नष्ट हो गई। लेकिन इसी का आंतरिक विस्तार वैदिक संस्कृति में हुआ।

भारतीय संस्कृति की मूल्य–बोधी दो धाराएं परस्पर संघर्ष और सहयोग की शक्ति लेकर एक साथ प्रवाहित हुईं। द्रविड़–संस्कृति और आर्यों की वैदिक–संस्कृति (2000 ईसा पूर्व–1000 ईसा पूर्व)। विद्वान मानते हैं कि जिस समय सिंधु घाटी सभ्यता का विनाश हुआ, उसी समय द्रविड़–तमिल–संस्कृति विकास के ऊंचे स्तर को छू रही थी। पुरातत्वीय खोजों ने सिंधु घाटी सभ्यता और द्रविड़ संस्कृति में व्यावसायिक और सांस्कृतिक आदान–प्रदान के अंतःसूत्रों के संकेत दिए हैं। उत्तर और दक्षिण भारत में आदान–प्रदान के संकेत तमिल के संगम–साहित्य में मिलते हैं। तीन संगमों में से प्रथम संगम प्राचीन मदुरै में हुई। इसके प्रमुख थे– अगस्त्य मुनि जिन्होंने ''अगाधियम'' नाम से पहले तमिल व्याकरण की रचना की। ऐसी प्रसिद्ध पौराणिक

कथा है कि वे उत्तर के आर्य शिक्षक थे और दक्षिण भारत में वैदिक संस्कृति के प्रचार–प्रसार के लिए गए थे। उनके शिष्यों ने बड़ी संख्या में व्याकरण, ज्योतिष, संगीत, नृत्य आदि पर पुस्तकों को तैयार किया। ऐसी ही एक पुस्तक है– ''टोकाप्पियम'' जो द्रविड़ों के सांस्कृतिक जीवन पर प्रकाश डालती है। कहना चाहिए कि द्रविड़ सभ्यता–संस्कृति की उच्चतम स्थिति में थे। रवींद्रनाथ टैगोर ने आर्य–द्रविड़ संस्कृति पर भारी अनुसंधान के बाद लिखा है कि ''किसी को यह नहीं समझना चाहिए कि अनार्यों ने हमें कुछ नहीं दिया। वास्तव में प्राचीन द्रविड़ लोग सभ्यता की दृष्टि से हीन नहीं थे, उनके सहयोग से हिंदू–सभ्यता को रूप–वैचित्र्य और रस–गांभीर्य मिला। द्रविड़ तत्वज्ञानी नहीं थे, पर उनके पास कल्पना–शक्ति थी। वे संगीत और वास्तुकला में कुशल थे। सभी कला–विधाओं में निपुण थे।'' (भारत वर्ष में इतिहास की धारा 1912) रवींद्रनाथ की प्रेरणा से आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने भारतीय संस्कृति के निर्माण में यक्षों–नागाओं–गंधर्वों जैसी आर्येतर जातियों के प्रदेय की खोज की। इस खोज के दौरान यह तथ्य भी प्रकाश में आया कि ''महाभारत'' में आर्य तत्त्व अधिक हैं और कालिदास के सृजन में अनार्य तत्त्वों की प्रधानता है।

रवींद्रनाथ ने आर्य–अनार्य परंपराओं को मथकर यह धारणा व्यक्त की है कि ''वैष्णव धर्म में एक ओर भगवद्गीता का विशुद्ध उच्च धर्मतत्व है तो दूसरी ओर अनार्य ग्वालों में प्रचलित देवी–लीला की विचित्र कहानियाँ भी उसमें सम्मिलित हैं।..... वैष्णव धर्म का आश्रय लेकर जो लोक–प्रचलित पौराणिक कथाएं आर्य समाज में प्रतिष्ठित हुईं उनमें प्रेम, सौंदर्य और यौवन की लीला है। प्रलय पिनाक के स्थान पर बांसुरी के स्वर हैं। भूत–प्रेत के स्थान पर वहां गोपियों का विलास है, वहां वृंदावन का चिर वसंत और स्वर्गलोक का चिर ऐश्वर्य है। ..... आभीर सम्प्रदाय प्रचलित कृष्ण कथा वैष्णव धर्म में घुल–मिल गई।'' इस तरह आर्य–अनार्य तत्वों के मेल से भारतीय संस्कृति ने मिश्र संस्कृति का रुप ग्रहण किया जिसमें ''अन्य'' या अदर को अपनाने का अनंत विस्तारभाव–प्रेम–भाव है और ''अन्य'' के भेद

भारतीय संस्कृति में हूण हों, कुषाण हों, कोल–किरात– निषाद हों, सूफी हों, मुसलमान हों– कोई भी हों ''अन्य'' नहीं हैं। भारतीय संस्कृति किसी को पराया नहीं रहने देती है, उसका आधार हिंसा और अलगाव नहीं है– प्रेम, अहिंसा और बंधुता है।

और अलगाव पर केंद्रित नहीं रही है। लेकिन भारतीय संस्कृति में हूण हों, कुषाण हों, कोल–किरात– निषाद हों, सूफी हों, मुसलमान हों– कोई भी हों ''अन्य'' नहीं हैं। भारतीय संस्कृति किसी को पराया नहीं रहने देती है, उसका आधार हिंसा और अलगाव नहीं है– प्रेम, अहिंसा और बंधुता है।

यद्यपि जाति प्रथा ने इस संस्कृति को कलंकित किया है, लेकिन इसकी आंतरिक लय (प्रेम) को कभी खंडित नहीं होने दिया है। यह ''घायल सभ्यता–संस्कृति'' जरुर है लेकिन मृत सभ्यता–संस्कृति नहीं है क्योंकि उच्च मूल्यों के सभी तार अभी भी इसमें जीवंत गति से धड़क रहे हैं। आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में ''देश और जाति की विशुद्ध संस्कृति केवल बात की बात है। सब कुछ में मिलावट है, सब कुछ अविशुद्ध है।'' (अशोक के फूल) विशुद्ध आर्य संस्कृति जैसी कोई चीज नहीं है, भारतीय संस्कृति मिश्र–संस्कृति है।

रामधारी सिंह दिनकर ने ''भारतीय संस्कृति के चार अध्याय'' पुस्तक में भारतीय संस्कृति को ''सामासिक संस्कृति'' नाम दिया है। दिनकर जी के सामासिक संस्कृति के विचार पर अज्ञेय जी ने लिखा है– ''काव्य की पड़ताल में तो दिनकर ''शुद्ध'' काव्य की खोज में लगे थे, लेकिन संस्कृति की खोज में उनका आग्रह ''मिश्र संस्कृति'' पर ही था। ''संस्कृति के चार अध्याय'' भारतीय संस्कृति की मिश्रता को ही उजागर करने का प्रयत्न है, उसकी संग्राहकता को नहीं।'' (स्मृति लेखा, पृ. 118) अनेक प्रभावों के ग्रहण का भाव, संग्राहकता का भाव इसलिए महत्वपूर्ण है कि कोई भी संस्कृति ''शुद्ध'' नहीं होती या हो सकती है। ''संस्कृति के चिंतन करने वाले किसी भी विद्वान के सामने यह बात स्पष्ट होनी चाहिए कि संस्कृतियाँ प्रभाव ग्रहण करती हैं, अपने अनुभव को समृद्धतर बनाती हैं। लेकिन यह प्रक्रिया मिश्रण की नहीं है। संस्कार नाम ही इस बात को स्पष्ट कर देता है। यह मानना कठिन है कि संस्कृति की परिभाषा दिनकर की जानी हुई नहीं थी।'' (वही, पृ. 118) अज्ञेय जी संस्कृति की संग्राहकता की बात करते हैं– आचार्य हज़ारी

प्रसाद द्विवेदी उसकी अविशुद्धता की। ''शुद्ध है केवल मनुष्य की जिजीविषा। वह गंगा की अबाधित अनाहत धारा के समान सब कुछ को हजम करने के बाद भी पवित्र है।'' फिर कहते हैं– ''मनुष्य की जीवनी शक्ति बड़ी निर्मम है। वह सभ्यता और संस्कृति के वृथा मोहों को रौंदती चली आ रही है। न जाने कितने धर्माचारों, विश्वासों, उत्सवों और व्रतों को धोती–बहाती यह जीवनधारा आगे बढ़ी है। संघर्षों से मनुष्य ने नई शक्ति पाई है। हमारे सामने समाज का आज जो रुप है वह न जाने कितने ग्रहण और त्याग का रूप है।'' आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के सामने सामासिक संस्कृति की समस्या नहीं है। असली समस्या है–संस्कृति के नाम पर धर्म और आध्यात्मिकता के झूठे आडम्बरों को ध्वस्त करने की समस्या। आज जो हमारे भीतर मोह है, संस्कृति और कला के नाम पर जो आशक्ति है, धर्माचार और सत्यनिष्ठा के नाम पर जो जरिमा है उससे भारतीय संस्कृति को मुक्त कैसे किया जाए।'' आ. द्विवेदी की तरह ही डॉ. गोविंद चंद्र पाण्डेय ''भारतीय परंपरा के मूल स्वर'' में ''सामासिक संस्कृति'' के विचार को अमान्य सिद्ध करते हैं। दरअसल ''इसी विमर्श का निष्कर्ष यह है कि भारतीय संस्कृति की तथाकथित सामासिकता वास्तव में सभ्यता के क्षेत्र में ही लागू होती है और इस क्षेत्र में वह भारत की कोई विशेषता नहीं है'' (पृ. 20)।

भारतीय संस्कृति और मूल्य–चेतना पर विचार करते हुए हमारे सामने समस्या रहती है कि हम अपनी संस्कृति को ऐतिहासिक खंडों में विभाजित करके देखें क्या? वैदिक–संस्कृति, पौराणिक–आरण्यक संस्कृति, बौद्ध–जैन संस्कृति, रामायण, महाभारत काल की संस्कृति, सूफी और इस्लाम संस्कृति या फिर आध्यात्मिक और भौतिक संस्कृति?

पश्चिमी विद्वान व्यंग्य करते रहे हैं– भारत में खाना–पीना, गाना–बजाना, रचना कहना हर प्रकार का भोग धर्म और आध्यात्मिकता से जुड़ा है।

पश्चिमी विद्वान व्यंग्य करते रहे हैं– भारत में खाना–पीना, गाना–बजाना, रचना कहना हर प्रकार का भोग धर्म और आध्यात्मिकता से जुड़ा है।

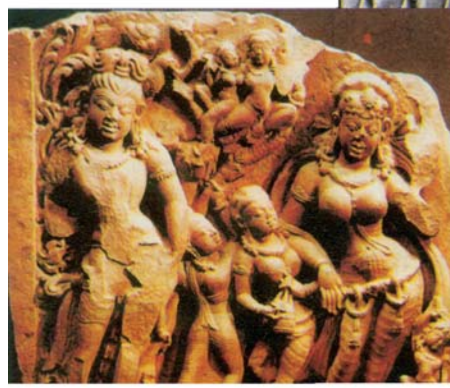

भारत में स्पष्ट ऐतिहासिकता का बोध नहीं है। अनेक तरह के कर्मकांड, यज्ञ–देवता, पूजा, भक्ति, धर्म, अध्यात्म, सदाचार, राम–कृष्ण–शिव से अभिभूत भारतीय संस्कृति आध्यात्मिक संस्कृति है जिसमें मुक्त भोग की मनाही है। अनेक प्रकार के संस्कारों और वर्जनशीलताओं पर टिकी है भारतीय संस्कृति और मूल्य–चेतना। जबकि पश्चिम की संस्कृति भौतिकवादी है, भोगवादी है और वर्जनशीलता को भंग करने में विश्वास करती है। योगी अरविन्द ने भारतीय संस्कृति और पश्चिमी संस्कृति की तुलना करते हुए कहा है कि ''यूरोप अपनी भोगवादी–आधुनिकतावादी संस्कृति को भारतीय संस्कृति पर धूर्ततापूर्वक लादना चाहता है– यह अनुचित है।'' (भारतीय संस्कृति के आधार, पृ. 213) अरबिन्द की इसी चिंतन राह पर विवेकानंद और गांधी चले हैं। इन सभी भारतीय नव जागरण के चिंतकों का संदेश है कि भारत यूरोप का अनुकरण न कर अपनी संस्कृति के श्रेष्ठ और अत्यंत मौलिक तत्वों को विकसित करे। तप, त्याग, अहिंसा, शील–सदाचार, लोकाचार और मानवतावादी मूल्यों पर आधारित इस संस्कृति के ज्ञान–प्रतीक दुर्बल नहीं हैं। इसी दृष्टि से भारतीय आनंदवादी और दुखवादी जीवन–दृष्टियों की विवेचन व्याख्या करने के बाद जयशंकर प्रसाद ने कहा है–

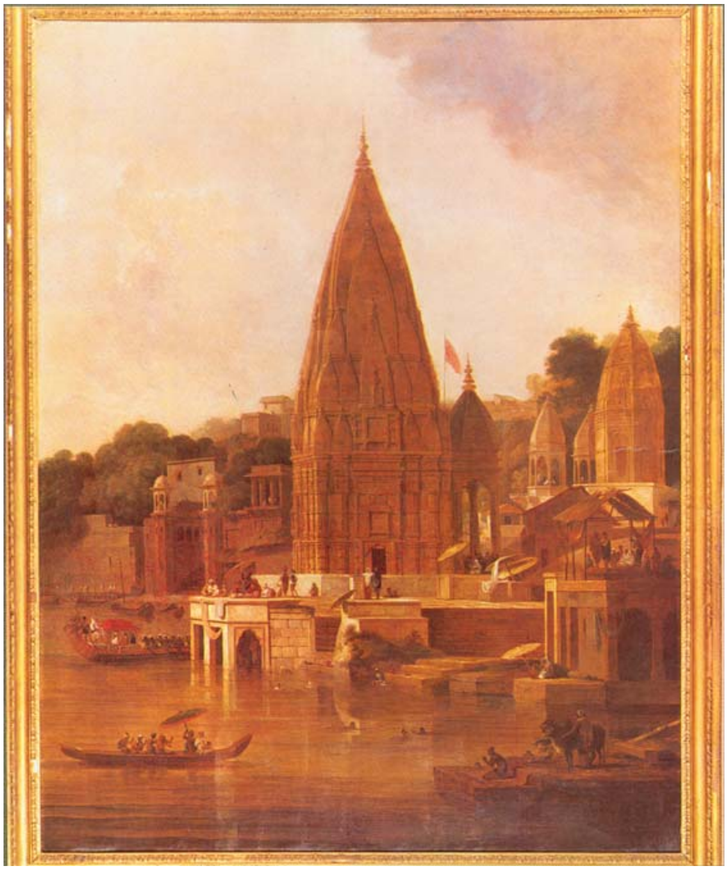

मणिकर्णिका घाट, बनारस का कलाचित्र

''संस्कृति सौंदर्य बोध के विकसित होने की मौलिक चेष्टा है।'' (काव्य और कला तथा अन्य निबंध) ''मौलिक चेतना'' है तो उसे पश्चिमी आधुनिकता के सत्यानाशी चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए।

इधर राजनीति की आंधी इस ढंग से चली है कि हम वैदिक संस्कृति को ''वैदिक हिंदू संस्कृति'' कहने में अपनी बौद्धिकता की जीत समझने लगे हैं। जबकि इस काल में वैदिक, उपनिषद् और प्राग्वैदिक संस्कृतियों का उन्मुक्त मेल–मिलाप हुआ। आर्य और द्रविड़ स्वभाव में अपनत्व पनपा। वर्ण–व्यवस्था और जाति–भेद का कलंक सामने आया। पहले ''वर्ण'' फिर ''जाति'', व्यवसाय, स्वभाव–संस्कृति के आधार बने। ब्राह्मण–शूद्र धुरी में अंतर्जातीय विवाह–आर्य भीम ने आर्येतर कन्या हिडिम्बा से विवाह किया। वासुदेव आर्य थे, देवकी अनार्य कन्या– असुर वंश की कन्या। हर क्षेत्र में समन्वय और विरुद्धों के सामंजस्य की प्रक्रिया बढ़ी। द्रविड़, आस्ट्रिक, मंगोल, यूनानी, शक–हूण–कुषाण, आभीर कथाएं प्रसिद्धि पाने लगीं। कृष्ण कथा और राम कथा ने उत्तर और दक्षिण को सांस्कृतिक एकता के अटूट सूत्र में पिरो दिया। भौगोलिक एकता के भावों ने तीर्थों–व्रतों को मिलाया। इस धार्मिक और सांस्कृतिक एकता के भाव का प्रभाव भारत की राजनीति पर तो पड़ा ही, ''नदी–संस्कृति'', तीर्थ–संस्कृति'' और ''भक्ति संस्कृति'' पर भी पड़ा। द्रविड़ संस्कृति के शैव धर्म ने शिव–पार्वती पूजा के साथ कार्तिकेय और गणेश तथा दुर्गा को जनमानस में स्थापित किया। लोक में शिव के न जाने कितने नाम हैं। वैष्णव धर्म में राम और कृष्ण के साथ शिव हैं। कृष्ण और शिव अनार्य देवता हैं और राम आर्य देवता। भारतीय संस्कृति के निर्माण में रामायण–महाभारत की भूमिका सर्वाधिक महत्वपूर्ण रही है और ये दोनों कृतियाँ राम–कृष्ण और शिव की कथाओं–मिथकों से भरी पड़ी हैं।

प्राचीन हिंदुत्व से विद्रोह बौद्ध और जैन संस्कृतियों ने किया। किंतु इनमें भारत का अतीत मरा नहीं। यज्ञ में प्रचलित हिंसा आदि विकृतियों के निकल जाने से उसे पुनर्नवा रूप प्राप्त हुआ और ''अहिंसा'' मूल्य की सर्वोपरिता रही। सिद्ध, नाथपंथी और अन्य निर्गुणिया संत इन्हीं बौद्धों के उत्तराधिकारी थे जिनके विद्रोही स्वर ने भारतीय संस्कृति में लोक जागरण के बीज बोए। पौराणिक हिंदू संस्कृति को बौद्ध–इस्लाम–संस्कृतियों ने ठोंक–पीटकर सीधा किया। (देखें एम.एन.राय ''दि हिस्टॉरिकल रोल ऑफ इस्लाम'')। भारतीय संस्कृति में तमाम तरह की टकराहटों के बाद इस्लाम, भक्ति आंदोलन, राजपूत संस्कृति, संगीत तथा अन्य कलाओं में नई धाराएं फूटीं। सूफी संतों, अमीर खुसरो, जायसी, अकबर, रहीम, रसखान जैसे भारत–भक्तों ने हिंदू धर्म को नया अर्थ दिया। कठिन कलह के बाद हिंदू और इस्लाम में भारी लेन–देन हुआ। भक्ति मार्ग ने प्रेम–दर्शन का व्यापक क्षेत्र प्रस्तुत किया। इस क्षेत्र में भक्ति आंदोलन तथा भक्त कवियों की भूमिका अविस्मरणीय है। भक्ति और इस्लाम के मेल से भारतीय संस्कृति में एक पाँचवाँ पुरुषार्थ पैदा हुआ–''प्रेम''।

भारतीय संस्कृति में यूरोपीय संस्कृति से संघर्ष और टकराहट का प्रश्न अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। पुर्तगाली, फ्रांसीसी और अंग्रेज व्यापारियों ने आधुनिक नवजागरण, भाषा–साहित्य के क्षेत्र में सांस्कृतिक प्रभाव छोड़ा। सबसे बड़ी क्रांति शिक्षा के क्षेत्र में हुई।

शिक्षा की भारतीय परंपरा को तोड़कर अंग्रेजों ने अंग्रेजी शिक्षा पद्धति को लागू किया। संस्कृत विद्यालय तथा उर्दू पाठशालाओं को पीछे धकेल कर अंग्रेजी स्कूल खोले गए। ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज, ब्रह्मविद्या समाज जैसे तमाम समाज सुधार के आंदोलन उठे और धूल में ध्वस्त हो गए। दुःख की बात यह है कि आधुनिक भारतीय स्वाधीनता आंदोलन के तिलक– गांधी जैसे नेता भी पश्चिमी संस्कृति के वर्चस्ववाद को रोक नहीं सके और आजादी के बाद तो अंग्रेजी या कहिए पश्चिमी जीवन मूल्य ही हमारे पथ–प्रदर्शक बन गए। आजाद भारत में ''मोहभंग'' के साथ ही पश्चिमी सांस्कृतिक साम्राज्यवाद भारतीय संस्कृति पर हावी हो गया। भारतीयों को तप–त्याग–करुणा जैसे जीवन मूल्यों में आस्था ही नहीं रही। सभी क्षेत्रों में हम आत्मधिक्कार के शिकार हो गए। लोहिया–जयप्रकाश नारायण ने भारतीय संस्कृति में नया खमीर उठाया, लेकिन वह ठंडा पड़ गया। भारत फिर से पश्चिम का उपनिवेश बन गया और आधुनिकता, मीडिया क्रांति की संस्कृति को बढ़ावा दिया। हर क्षेत्र में गुलामी का एक ऐसा अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, सौंदर्यशास्त्र, साहित्य, दर्शन, इतिहास, राजनीति विज्ञान कायम हुआ कि भारतीय संस्कृति के आधार उखड़ गए हैं।

उत्तर–आधुनिकता के वर्चस्व ने नव्य–इतिहासवाद, नव्य–पूंजीवाद, नव्य–साम्राज्यवाद और बहुलतावाद को जन्म दिया। मार्क्सवाद के पतन के बाद ''केंद्रवाद'' टूट गए। केंद्र के लोग किनारे और किनारे के लोग केंद्र में आ गए। फलतः दलित–विमर्श, नारी–विमर्श की संस्कृति को चर्चा के केंद्र में आने का अवसर मिला। भारतीय संस्कृति के मूल्यों को ब्रिटेन–अमरीकी संस्कृति ने अपना पिछलग्गू बना लिया। बहुराष्ट्रीय कंपनियों और निगमों ने एम.बी.ए. तथा एम.सी.ए. और एम. एन.सी. कल्चर को धन से सींचकर तगड़ा बना दिया है। आज के भारत में बहुत तरह की विविधिताओं से सम्पन्न मीडिया–संस्कृति फल–फूल रही है और यही हमारे उपभोक्तावादी मूल्यों की दिशा और दृष्टि का निर्धारण कर रही है। ''प्रगति'' और ''विकास'' के जीवन–मूल्य आदिवासियों–जनजातियों की संस्कृतियों को उजाड़ रहे हैं। लोक–संस्कृति के उजड़ने से भारतीय संस्कृति में ''स्मृति विनाश'' के लक्षण दिखाई दे रहे हैं। इस तरह भारतीय संस्कृति एक गहरे संकट के दौर से गुजर रही है।

भारतीय संस्कृति में यूरोपीय संस्कृति से संघर्ष और टकराहट का प्रश्न अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। पुर्तगाली, फ्रांसीसी और अंग्रेज व्यापारियों ने आधुनिक नवजागरण, भाषा–साहित्य के क्षेत्र में सांस्कृतिक प्रभाव, छोड़ा। सबसे बड़ी क्रांति शिक्षा के क्षेत्र में हुई।

प्रश्न उठता है कि भारतीय संस्कृति का असली संकट क्या है? भारत के पश्चिमीकरण या भारतीय स्रोतों के सूखने का संकट? हाइडेगर कहते रहे हैं कि ''स्रोत तक जाओ और स्रोत को ही सुनो।'' भारतीय स्रोत को सुनने का समय कहां है पश्चिमी आधुनिकता से सताए भारतीय के पास? भारतीय दर्शन–साहित्य की ''टयूनिंग'' से कटा–कसमसाता भारतीय मन संस्कार और संवेदना की ''मार्निंग विज़डम'' से विच्छिन्न हो रहा है। भारतीय संस्कृति की दशा उस खच्चर की तरह है जिसके विषय में कभी आयरिश कवि यीट्स ने कहा था– ''उसके खून में दो परंपराएं आकर टकराईं और एक–दूसरे को नष्ट कर गई। अब वह खच्चर की तरह बंजर हो चुका है।'' कुछ ''सेकुलर'' बुद्धिजीवियों को ऐसा भी लगता है कि जीवन–संवेदना और शक्ति से जुड़ी सृजनात्मकता को पश्चिमी चिंतन और सर्जना से प्रेरणा मिली है। पर क्या वह प्रेरणा उन्मेषणकारिणी सिद्ध हुई? क्या उसने भारतीय प्रज्ञा को, ''वाक्'' को कुंद नहीं बनाया? जैसे गंगा को गटर बनाया जा रहा है, कुछ–कुछ वैसा ही भारतीय संस्कृति और मूल्य–दृष्टि के साथ क्या नहीं हो रहा है। रामायण–महाभारत बेहोश पड़े हैं और तीसरे महाकाव्य लोक–संस्कृति, लोक–चिंतन का बुरा हाल है– एकदम फटेहाल, अजनबी और संत्रास से ग्रस्त। संस्कृति में धार्मिक–आध्यात्मिक मदारियों–बाबाओं–ठगों और बौद्धिक हरामखोर, राजनीतिक धूर्तों–खच्चरों के अलावा बचा क्या है? ग्रामवासिनी भारत माता संसद से सड़क तक चीख रही है, पर चीख सुनता कौन है?

इस समय हमारा देश संस्कृति के सभी क्षेत्रों में एक अभूतपूर्व अराजकता से पिट गया है– चाहे वह साहित्य का क्षेत्र हो या कलाओं का

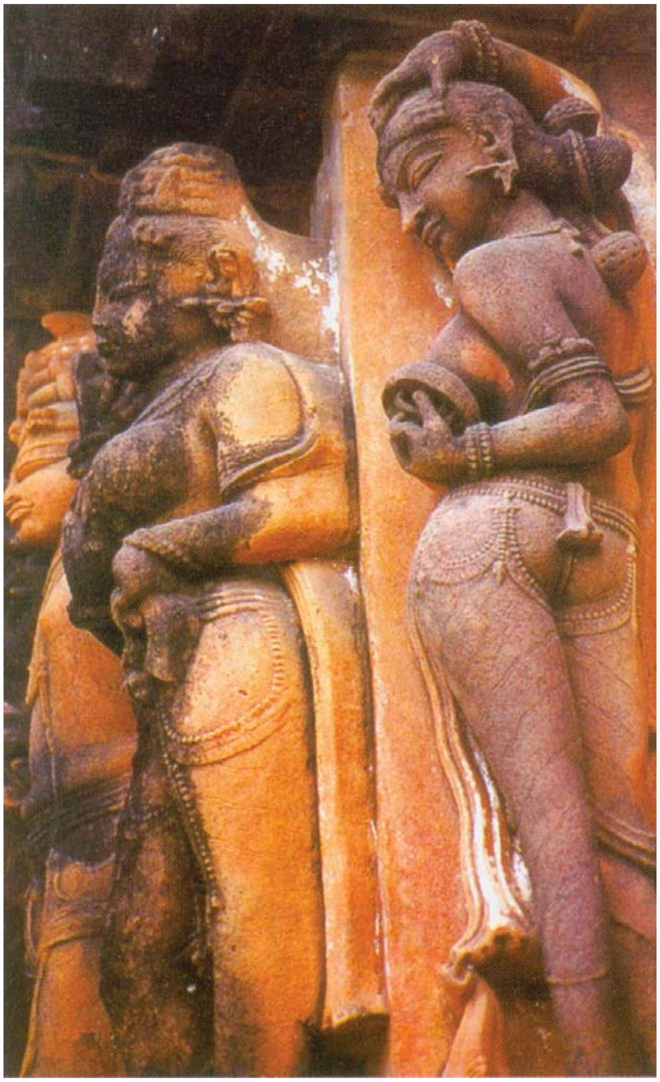

अप्सरा खजुराहो, 11वीं शती

क्षेत्र हो, राजनीति–धर्म–अध्यात्म का क्षेत्र हो। सभी क्षेत्रों की रचनात्मकता, अनुवादजीवी, नकलची और पस्त संवेदना वाली परोपजीवी मानसिकता का शिकार है। भारतीय संस्कृति के प्रभावी सांस्कृतिक मानदंड यौनवाद– उपभोक्तावाद के कुंड में चक्कर काट रहे हैं। राजनीतिक नेतृत्व की पतनशीलता और चरित्रहीनता ने नैतिक संवेदना के पवित्रता–जनित विवेक को पश्चिम के हाथों गिरवी रख दिया है और पश्चिमवाद की खुराक पर पलता देश सांस्कृतिक स्मृति–भ्रंश की प्रक्रिया को तेज करने में सक्रिय है। इसलिए जनता के उद्धार का बीड़ा उठाने को कोई तैयार नहीं है। राजनीति तो जन–संस्कृति और सांस्कृतिक संवेदना दोनों से दुश्मनी का सबूत दे रही है। विचारधाराओं का अंत राजनीति में अवसरवाद, जातिवाद और गुंडातंत्र को पाल रहा है। ऐसा पागलपन इन राजनीतिक शक्तियों में पनपा है कि मूल्यों के अंधापन को ही पहना– ओढ़ा जा रहा है, चिंतन की सृजनात्मकता के नाम पर बंजर अकर्मण्यता का आलम। पश्चिमवाद, पूंजीवाद, सांस्कृतिक नव–साम्राज्यवाद के पीछे घूंघट काढ़े वधू की तरह क्या चल पड़े कि सोचना ही बंद कर दिया – अनुकरणीय बन गए।

एक समय था जब उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोपीय भाषाविदों और दार्शनिकों ने भारतीय संस्कृति के अतीत को सराहते हुए उसके वर्तमान को खारिज कर दिया था। लेकिन उस समय भी मैक्समूलर जैसे भारतविदों को यह बोध था कि भारतीय संस्कृति–संस्कृत भाषा–साहित्य–मिथक–दर्शन, प्रकृति चेतना में जीवित रही है। संस्कृत से उद्भूत भाषाओं में संवाद का सातत्य है। इस संवाद के सातत्य को जब तक खत्म नहीं किया जाएगा तब तक भारतीय सांस्कृतिक अस्मिता को उसके मूल से नष्ट नहीं किया जा सकता। अन्य सभ्यता–संस्कृतियों की तरह भारतीय संस्कृति म्यूज़ियम की चीज नहीं रहीं, कभी नहीं रही। उसका प्रवाह जातीय स्मृतियों में या चिंतन परंपराओं में गतिशील रहा। यह गतिशीलता धूल में तब ध्वस्त हुई जब यूरोपीय मनीषियों की प्रत्ययात्मक क्षमता से प्रभावित होकर भारतीय लोग अपनी भाषा–अस्मिता का अवमूल्यन कर बैठे।

प्रायः पश्चिमी विद्वानों ने यूरोपीयेत्तर भाषाओं में प्रत्ययों की ''अस्पष्टता'' को पानी पी–पीकर कोसा और इतनी कमियां निकाल दीं कि भारत जैसे देशों का आत्मविश्वास ही नष्ट कर दिया। हमारा भारत और भारतीयता से भरोसा ही उठ गया।

भारतीय समाजशास्त्री जड़ावलाल मेहता ने ''कवि कर्म और चिंतनः सर्जना के दो आयाम'' शीर्षक वक्तव्य में कहा है कि पश्चिमी ईस्थेटिक्स की शब्दावली मेटा–फिजिक्स का अनुसरण करती है। यह विचार–प्रणाली विश्व का दृश्य जगत और बुद्धिगम्य प्रत्यय जगत में विभाजित करती है और दृश्य पदार्थों की सत्ता और उनका अर्थ बौद्धिक प्रत्ययों पर आश्रित मानती है। विषय–विषयी का यह द्वैतवाद अति–भौतिकी (मेटा–फिजिक्स) का अंग बन गया और इस प्रकार कांट के दर्शन में ''ईस्थेटिक्स'' का जन्म और हेगेल के महान ग्रंथ में उसकी परिणति हुई। ये सारे अतिभौतिक चिंतन–शैली से जनित प्रत्यय–गुच्छ पाश्चात्य

भाषाओं में मूर्त रूप से विद्यमान हैं। इसलिए अन्य संस्कृतियों की सारभूत अनुभूतियों, उनमें प्रकाशित सार तत्वों को समझने के या व्यक्त करने के लिए पश्चिमी भाषाओं का प्रयोग यदि वह सुविचारित और विवेकपूर्ण न हो तो विष के समान काम करता है; अन्य संस्कृति के स्वभूत अद्वितीय सत्य को ही झुठला देता है। इसी प्रक्रिया को हाइडेगर ने आधुनिक मानव और पृथ्वी के पूर्ण यूरोपीयकरण द्वारा, सारभूत तत्वों का आमूल सर्वनाश कहा है।

भारतीय संस्कृति और आधुनिक संवेदना के बीच एक दरार परोपजीवी ज्ञान–विज्ञान ने उत्पन्न की। चूंकि विज्ञान का जन्म परदेस में हुआ, वह हमारी स्थिति–परिस्थिति से नहीं जन्मा। इसलिए हमने उसे बिना किसी टकराव या चुनौती के स्वीकार कर लिया। इस प्रतिरोध–रहित स्वीकार का नतीजा अच्छा नहीं हुआ। हम विदेशी विज्ञान पर निर्भर होते गए। हम बने क्या? पश्चिमी चिंतन के उपनिवेश और पश्चिमी आविष्कारों के अंधभोक्ता। पश्चिमवाद के आर्थिक–सांस्कृतिक ज्ञान–विज्ञानवाद ने हमें भारतीय संस्कृति के सही ''पाठ'' से भटका दिया। इसलिए ''टैक्स्ट'', ''रिफरेन्स'' और नॉलेज का केंद्र बदल गया। ''डि–कंस्ट्रक्शन थियरी'' और डिस्कोर्स एनालिस्ट के भंवरजाल में फँसकर हम अपनी अवधारणाओं, ज्ञान–प्रतीकों, मिथकों–लयों, आख्यानों, रूपकों से धीरे–धीरे कटते गए। बहुलतावाद के तर्क उपजा क्या? सांस्कृतिक अध्ययनों का अलगाववाद, करुणा–रहित पशुवाद। इसी पशुवाद ने भारतीय संस्कृति की आंतरिक लय को तोड़ने की भूमिका तैयार की। हमें ''ग्लोबलाइजेशन'' का ''ग्लोबलमैन'' और ''ग्लोबल कल्चर'' का सपना दिखाकर अमेरिका–ब्रिटेनवाद में फिर से धकेल दिया गया। हम एक तरह की नई गुलामी की ओर बढ़ गए, अपनी सांस्कृतिक जड़ों से कटते हुए बंधक बनते गए। हम लोकप्रिय संस्कृति के सतहीपन को लेकर मारे गए। हमारे देश में लोकप्रिय संस्कृति, नव–धनाढ्यों, नवयुवकों, अर्ध–शिक्षित, गैर–जिम्मेदार, नैतिक मूल्यों से विमुख लोगों की संस्कृति बन गई। इस संस्कृति में आत्मा, विवेक और मस्तिष्क पर जोर डालने की जरूरत नहीं रही। सुझाए गए विकल्प– जिसमें परंपरा पर आस्था रखकर पश्चिमी आधुनिकता के मॉडल को त्याग देने का आग्रह किया गया था– एक सपना ही हो गया। यूरोपीय साम्राज्यवाद, नव–पूंजीवाद विकास और ''प्रगति'' के जिस मानदंड को पूरी दुनिया पर थोप रहा था उसकी सबसे खतरनाक चाल के हमीं शिकार बने। इसी से हमारी संस्कृति को लकवा मार गया और हमारा समस्त चिंतन पिछड़ा सिद्ध किया गया। कहना न होगा कि इस तरह हुआ भारतीय संस्कृति और मूल्य–दृष्टि का त्रासद अंत। इस अंत में परंपरा का प्रगतिशील, संस्कारी, मानववादी, आत्मवादी पक्ष ही विस्मृति की धूल में गँवा दिया गया।

भारत में विदेशी शिक्षा और विज्ञान का जादू सिर पर चढ़कर बोला है। एक पूरी पीढ़ी उदासीनता, आलस्य और अवमूल्यन के कारण अपसंस्कृति और आत्म–निर्वासन में गर्क होती गई। इधर भारतीय संस्कृति और मूल्य चेतना की पश्चिमी व्याख्या में संस्कृति और सभ्यता का विवेक भुला दिया गया। सभ्यता–संस्कृति का मानदंड पश्चिमी सभ्यता को माना गया और इसमें अवमूल्यनात्मक आग्रह प्रबल रहे। फलतः भारतीय बुद्धिजीवी तथा रचनाकार के साथ भारत की जनता का सभी क्षेत्रों में शोषण हुआ। इस शोषण ने चिंतन की मौलिकता और सृजनात्मकता को गहरे स्तर पर छिन्न–भिन्न कर दिया। भारतीय स्वाधीनता संग्राम के दिनों में रचनात्मक केंद्र आजाद भारत में बंजरता को प्राप्त हुए। हमारी संस्कृति का पूरा समय नव–सांस्कृतिक साम्राज्यवाद के हवाले कर दिया गया और राजनीतिक दृष्टि में धर्म–अध्यात्म–जाति–वर्ण का जहर घोलकर ऐसा मानव तैयार किया गया है जिसमें भारतीय संस्कृति की मूल्य दृष्टि में बौद्धिक अनास्था का रहस्य निहित है। व्यक्ति–स्वातंत्र्यवाद के नाम पर समाजवाद–साम्यवाद से एक ऐसा महाभारत लड़ा गया और लड़ा जा रहा है कि उसकी व्याख्या करने में उत्तर – आधुनिकतावाद असमर्थ दिखाई दे रहा है। उदासीन भारत की नई पीढ़ी को पता तक नहीं है कि गांधी के आधुनिकता –द्रोही चिंतन का दृष्टिकोण क्या था? क्यों था? गांधी जी पश्चिम के सुखवादी–इंद्रिय वादी ''प्लेजर प्रिंसिपल'' को महत्व नहीं देते थे। अज्ञेय और मुक्तिबोध जैसे हिंदी के दोनों बड़े चिंतक और रचनाकार भारतीय संस्कृति के सच्चे मूल्यों की चर्चा में सुखवाद को महत्व नहीं देते हैं।

डॉ. कृष्णदत्त पालीवाल
प्रोफेसर, हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली– 110007

भाषा का संस्कृति और जीवन से संबंध

विश्वमोहन तिवारी

'प्रेम' शब्द का अंग्रेजी अनुवाद क्या है? आप कहेंगे 'लव'। यह अनुवाद कभी सही रहा होगा किन्तु आज सही नहीं है, लव एक 'फोर लैटर वर्ड' हो गया है। लव मानव की आकर्षक पोशाक में मात्र पैशनेट या पाशविक कृत्य ही रह गया है। जबकि भारतीय भाषाओं में प्रेम ढाई आखर का शब्द है, और दोनों में मानव और दानव का अन्तर है। मानव वह है जो ढाई आखर वाला प्रेम करता है, तथा दानव वह क्रूर व्यक्ति है जो 'फोर लैटर' वाला प्रेम करता है। मानव जब घोर भोगवादी हो जाता है तब दानव बनने लगता है। भोगवादी अन्य व्यक्ति को मानव न समझकर भोग की वस्तु ही समझता है। शब्दों के अर्थ में यह अन्तर कैसे आया?

'भाषा' संस्कृति की प्रमुख वाहिनी है, वह भाषा शाब्दिक, दृष्टिक, शारीरिक (बॉडी लैंग्वेज) आदि भाषा हो सकती है। दृष्टिक भाषा आज की भाषा है, जो निस्संदेह सर्वाधिक आकर्षक भाषा है। आज साहित्य का पठन कम हो रहा है और टी वी का अधिक। टी वी की शाब्दिक भाषा चाहे कुछ भारतीय हो, किन्तु उसकी दृष्टिक भाषा पाश्चात्य भोगवादी ही है, तब इसमें क्या आश्चर्य, टी वी आते ही भारत में भोगवाद छा गया! प्रौद्योगिक पाश्चात्य संस्कृति भोगवादी है, उसकी भाषा भोगवाद की वाहिनी है।

आज का भोगवादी भारतीय भी 'आई लव यू' बोलता है। 'लव' तो हम सिनेमा से, मिठाई से भी करते हैं। किन्तु सिनेमा मिठाई से प्रेम नहीं करते अर्थात् लव इन्द्रियों का विषय अधिक है हृदय का कम! लव भोगवाद का विषय अधिक है प्रेम का कम! किसी भी संस्कृति का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारक है, समाज का व्यवहार या कहें उसकी संस्कृति उसके प्रेम की अवधारणा पर अधिक असर करती है। अंग्रेजी भाषा का भोगवादी शब्द 'लव' आज हमारे समाज के व्यवहार या संस्कृति को निर्धारित कर रहा है। अंग्रेजी शब्द का हमारी टीवी की शाब्दिक तथा दृष्टिक दोनों भाषाएं बहुत उपयोग करती हैं। भाषा और संस्कृति के संबंध गहरे और जटिल संस्कृति शब्द के अर्थ भी विविधता लिये हैं।

बीसवीं सदी से पश्चिम में भोगवाद ने तेजी पकड़ी क्योंकि सत्रहवीं सदी से लगातार ईसाई धर्म विज्ञान की अवधारणा पर आक्रमण करता रहा और विज्ञान उनको एक के बाद एक ध्वस्त करता रहा। यह द्वन्द सौरमंडल के केन्द्र से प्रारंभ होकर डार्विन सिद्वान्त और उससे भी आगे गर्भपात तक की अवधारणाओं पर चल रहे हैं। पश्चिम में धर्म पर से श्रद्धा घटती ही गई है, बाइबिल स्वर्ग एक लुभावनी कल्पना है, अब यह पश्चिम की समझ में अच्छे से आने लगा है, जबकि हजारों वर्ष पूर्व वेदान्त ने वेदों की स्वर्ग अवधारणा का निषेध कर दिया थां अब विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी ने वह स्वर्ग इसी पृथ्वी पर रचने का जिम्मा उठा लिया है, और भोग बढ़ रहा है। भोगवाद तथा भोग में अंतर है। भोग तो शरीर आदि की रक्षा के लिए अनिवार्य हैः जबकि जीवन का मुख्य ध्येय भोग, सुख प्राप्त करना भोगवाद है। आश्चर्य यह है कि हमारे ऋषियों ने स्वर्ग को अवांछनीय घोषित कर उससे बेहतर तथा उदात्त उद्देश्य और सच्चे सुख का रास्ता दर्शाया है, तब भी हम पश्चिम के भोगवाद की अन्धी नकल कर रहे हैं क्योंकि हम अपनी भाषा और संस्कृति पर गये हैं। दृष्टव्य है कि 'गुलाम' लोग अंग्रेजी की पूँछ पकड़कर वैतरणी पार करना चाहते हैं

इसे अन्य उदाहरणों द्वारा भी समझा जा सकता है। गुरू और 'टीचर', माता, पिता और मॉम, डैड, पत्नी तथा वाइफ, पति तथा हस्बैण्ड, मृत्यु तथा डैथ, में गहरा सांस्कृतिक अन्तर है। आजकल सभी पढ़े–लिखे आदमी अपनी पत्नी को वाइफ ही कहते हैं, और महिलाएं पति को हस्बैण्ड। यहां यह व्यवहार मात्र अपने को श्रेष्ठ दिखलाना ही नहीं है वरन् हिन्दी शब्दों में जो भावनाएं अन्तर्निहित हैं कहीं उनसे बचने की भी भावना है। पत्नी

कहने से एक तो विवाह में की गई प्रतिज्ञाएं याद आती हैं, पत्नी शब्द में हमारे धर्म के संस्कार हैं जो पति को पत्नी के प्रति प्रेम तथा उत्तरदायित्व की याद दिलाते हैं। मृत्यु भी गहरी संवेदनाओं से भरा शब्द है, उनसे बचने के लिए हम 'डैथ' कह देते हैं इस तरह देखा जाए तो मातृभाषा के शब्द संवेदनाओं से भरे रहते हैं, जिनका विदेशी शब्दों में आना कठिन होता है। कम संवेदनाओं से भरे शब्दों का उपयोग करने से हमारी संवेदनशीलता का ह्रास होता है, मानवीयता का क्षरण होता है।

जीवन में क्या करना चाहिए, किस तरह जीना चाहिए, जीवन का ध्येय क्या है? आदि के उत्तर बालकों के पास, अन्य पशुओं के बरअक्स, जन्मजात नहीं होते, उसे इनके उत्तर घर में, समाज में, ग्रंथों में तथा व्यावहारिक संस्कृति के द्वारा मिलते हैं। किसी शिशु को एक संस्कृति उदार बना सकती है तो अन्य संस्कृति कट्टर; एक को मानव तो अन्य को दानव बना सकती है। यदि भाषा भ्रष्ट (इंजंतक) होगी तो संस्कृति भी भ्रष्ट होगी हम अन्य भाषाओं से शब्द ग्रहण कर सकते हैं किन्तु वे नहीं जिनके पर्याय हमारी भाषा में प्रचलित हैं, तथा इतनी संख्या में नहीं कि हमारी भाषा ही भ्रष्ट हो जाए।

हमारा जीवन आदर्श ईशावास्य उपनिषद का त्यागमय भोग रहा है– 'तेन त्यक्तेन भुज्जीथाः'। इसीलिए हमारे यहां जीवन के चार पुरूषार्थ हैं, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। कामनाओं की पूर्ति के लिए, अर्थात भोग करने के लिए अर्थ का अर्जन धार्मिक मूल्यों के अनुसार करना है, और जीवन का चरम लक्ष्य भोग नहीं मोक्ष है, दुख से मुक्ति ही मोक्ष है। हमारा साहित्य इन मूल्यों से प्रेरित है। रामायण, महाभारत, संस्कृत का साहित्य, भक्तिकाल की कृतियां, यहां तक की बीसवीं सदी के पूर्वार्ध का अधिकांश साहित्य भी। यदि यह साहित्य नहीं पढ़ा जाएगा तब त्यागमय भोग कहां से आयेगा।

पूंजीवाद तथा साम्यवाद दोनों ही भोगवादी हैं। जब से हमारी भाषा तथा साहित्य पर पाश्चात्य संस्कृति का कुप्रभाव पड़ा, और टी वी में उसका उपयोग हुआ है, भोगवाद हमारी भाषा में, साहित्य में और अन्ततः व्यवहार में आने लगा है। टीवी के मालिकों की घोर भोगवादियों की तरह मुख्यतया अपने लाभ से मतलब, उसके शुभ या अशुभ होने से नहीं। यह भी भोगवाद का ही परिणाम है कि स्त्री स्वातंत्र्य की उदात्त अवधारणा का उपयोग वहां भी स्त्री के शोषण में परिलक्षित होता है, विद्युत कम्पनी एनरॉन की महिला– कर्मियों के बयान इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। महात्मा गांधी ने भारतीय भाषाओं को महत्व देते हुए आदर्शों को अपने जीवन में और करोड़ों भारतीयों के जीवन में चरितार्थ कर दिया था। तब क्या कारण है कि पिछले बीस–पच्चीस वर्षों में ही हमारा आदर्श त्यागमय भोग के स्थान पर पाशविक भोगवाद हो गया है। यह विडंबना ही है कि बढ़ती समृद्धि के साथ समाज में भयंकर अपराध, विखंडन, द्वेष, विवाद, क्रोध, लोभ, अहंकार, मोह, जलन और अंततः दुख भी तेजी से बढ़ रहे हैं सामाजिक तथा पारिवारिक प्रेम का स्थान व्यवसायिकता ने ले लिया है। यह मुख्यतया इसलिए कि हम अपनी भाषा तथा संस्कृति में जीने के स्थान पर पाश्चात्य भाषा तथा संस्कृति की अधकचरी नकल कर रहे हैं। अनेक अंग्रेजीपरस्त विद्वानों की मान्यता है कि अंग्रेजी के राजभाषा बने रहने से भी पाश्चात्य संस्कृति नहीं आयेगी और अंग्रेजी में यथेष्ट भारतीय साहित्य का अनुवाद कर अंग्रेजी द्वारा भी भारतीय संस्कृति पोषित की जा सकती है। उन्हें पुनर्विचार करना चाहिए।

अपराधों की अमानवीयता तथा संख्या बढ़ी है। पहले एक पुरूष विवाह पूर्व अपनी कन्या मित्र का उपभोग शायद ही करता था और यदि करता भी था तो एक वेश्या की तरह तो निश्चित नहीं करता था। पैसे के लिए पहले के चोर अधिकांशतया हत्या नहीं करते थे अब तो अंग्रेजी पढ़े लिखे लोग लोभ में निस्संदेह अपने मित्र की मां की भी हत्या कर देते है। हिंसा तथा यौन के अपराध इतने क्यों बढ़ गए? जीवन मूल्यों में इतना पतन कैसे और क्यों हुआ? इनमें तथा अंग्रेजी और टी वी के प्रसार के संबंध तो अवश्य हैं।

भाषा और मनुष्य के जीवन में उतना ही गहरा संबंध है जितना माता और संतान में; और विमाता और विदेशी राजभाषा के व्यवहारों में भी काफी समानता है। समस्त जीवों में शाब्दिक भाषा मात्र मनुष्य के पास ही है। पाशविक प्रवृतियों का उदात्तीकरण भाषा और संस्कृति के ही द्वारा सम्भव है। अर्थात् भाषा तथा संस्कृति के द्वारा मनुष्य मानव या दानव बन सकता है। जब भाषा का इतना मूल और क्रांतिकारी प्रभाव पड़ता है तब यह देश भाषा को उचित महत्व क्यों नहीं देता? यह भी हमारे सांस्कृतिक पतन का एक ज्वलंत उदाहरण है मीडिया ने मानवीय संस्कृति को धत्ता बतलाते हुए ऐसी सदा आधुनिक पारिस्थितिकी का निर्माण किया है जिसमें भूमण्डलीय 'खुला बाजार' में 'सदाबहार

संस्कृति' के रूप में अवतार लिया है। खुले बाजार (की मार्किट) में केवल शक्तिशाली 'फ्री' होते हैं, ग्राहक या उपभोक्ता नहीं, जिसे तो 'हस्तकौशल' (मैनिपुलेशन) द्वारा स्वतंत्रता का सब्जबाग दिखलाते हुए, अपने लिए सर्वाधिक लाभदायक उत्पाद को खरीदने के लिए सम्मोहित किया जाता है। भोगवादी विज्ञापनों ने आज भाषा को मानो कोठे पर बिठा दिया है, भाषा का लुभावना रूप ही वेश्या की तरह उसका 'संदेश' हो गया है, उसका कथ्य नहीं। भाषा का ऐसा बाजारू उपयोग मात्र व्यवसाय में नहीं वरन् राजनीति तथा अन्य व्यवहारों में भी आ गया है। 'मैनिपुलेशन' आज की संस्कृति के व्यवहार का प्रमुख अस्त्र हो गया है और मैनिपुलेशन मानव को राक्षस बनाता है क्योंकि अन्य मानव का मैनिपुलेशन नहीं करना, मानवीयता की मूल शर्त है।

जब शासन और शासितों की भाषा में जमीन–आसमान का अन्तर हो तब जनतंत्र सचमुच में कार्य नहीं कर सकता। यह तो अंग्रेजीपरस्त लोगों का शासन है; जिसमें अंग्रेजी का महत्व सर्वोपरि है। अनेक वर्षों से जिस तरह से प्रशासन तथा विधायिका के कुछ वर्गों ने देश का शोषण किया है, वह सिद्ध करता है कि इस देश में चाहे चुनाव हो रहे हों, सच्चा जनतंत्र प्रभावी रूप में नहीं है। भारतीय भाषाई जनता, अंग्रेजी भाषाई शासकों से किस तरह संवाद कर सकती है। अंग्रेजी के आतंक ने जनता को गूंगा बना दिया है, भारत में आज न केवल एक गूंगी संस्कृति पैदा हो रही है, वरन बन्ध्या और बंजर संस्कृति हो रही है।

लगभग दो सौ वर्षों से अंग्रेजी इस देश में शासकों की भाषा रही है और पढ़ाई जा रही है। तब क्यों स्वतंत्रता पश्चात् विज्ञान में इस देश को एक भी नोबेल पुरस्कार नहीं मिला है। जबकि विज्ञान के स्नातकों की भारत में कमी नहीं है और यहूदी भाषी इजराइल को, जिसकी आबादी भारत की आबादी की एक प्रतिशत से भी कम है, ग्यारह नोबेल पुरस्कार मिले हैं। इजराइल अपनी भाषा में शिक्षा देता है और अपनी भाषा में जीवन जीता है। चीन, जापान, हॉलैंड, आदि समुन्नत देश अपनी भाषा में जीते हैं, और इसीलिए स्वतंत्र, वाचाल तथा सृजनात्मक हैं, हमारे सरीखे गुलाम, गूंगे तथा अनुर्वर नहीं हैं।

मात्र रोटी के लिए अंग्रेजी पढ़ने वाला व्यक्ति 'काम चलाऊ' अंग्रेजी ही सीखता है; फलस्वरूप उसके जीवन मूल्य भी बस खाने–कमाने तक ही सीमित रह जाते हैं और विडम्बना यह है कि वह 'श्रेष्ठता ग्रन्थि' का पोषण करने लगता है जो वास्तविक ज्ञान की नहीं वरन् एक 'अंग्रेजीदां' होने की नकल होती है। पाश्चात्य देश हमसे प्रौद्योगिकी में इतने आगे हैं कि उनके प्रति भी हममें हीनभावना ही रही है और अंग्रेजी की शिक्षा तो हमें पाश्चात्य सभ्यता तथा संस्कृति का बड़प्पन बतलाती रहती है और हमारी भाषा, सभ्यता और संस्कृति को हीन सिद्ध करती रहती है। अंग्रेजी ने हमारी गुलामी की भावना को पनपाया ही है। पाश्चात्य संस्कृति भोगवादी है, अहंवादी है, और हम इस दिशा में उनसे भी आगे बढ़ गये हैं। पश्चिम का व्यक्ति, इतना स्वार्थी नहीं होता कि अपने स्वार्थ को नुकसान पहुंचाए क्योंकि स्वार्थ एक सीमा के बाद आत्मघातक हो जाता है। हम उससे और भी अधिक स्वार्थी हो गए हैं। पश्चिम का व्यक्ति इतना अहंवादी नहीं हो गया है कि दूसरे के अहं पर हमला करते रहे, हम इससे भी अधिक अहंवादी हो गये हैं। अर्थात् पश्चिम के पास अपनी इस अहंवादी तथा भोगवादी संस्कृति को संतुलन में रखने की भी संस्कृति है जिसका उन्होंने पिछले सैकड़ों वर्षों में विकास किया है। तब भी उनकी संस्कृति समाज में सुख के साथ तनाव भी पैदा कर रही है और प्रकृति को बुरी तरह प्रदूषित कर रही है, वन्य प्राणियों का विनाश कर रही है, पृथ्वी के ओजोन छाते में छेद कर रही है। उनकी नकल में हमने गंगा–यमुना को गंदी नाली बना दिया है। हमें उनकी नकल करने की आवश्यकता नहीं है। हमारी संस्कृति में वे सब तत्व हैं जिनके द्वारा हम आधुनिकतम जीवन का पूरा तथा सम्यक उपभोग कर सकते हैं। यदि हम अपनी श्रेष्ठ संस्कृति में वापस जाना चाहते हैं तब हमें अंग्रेजी के मोहपाश से मुक्त होकर, अपनी भाषाओं में वापस जाना पड़ेगा। शोपेनहार, एल्डस हक्सले, विलियम जोन्स, टी एस इलियट, टायनबी, आन्दे मालामें, जोसेफ कैम्पबैल आदि विश्व के श्रेष्ठ विद्वानों ने घोषित किया है कि भारतीय दर्शन तथा संस्कृति श्रेष्ठतम है।

हीनता पीड़ित इंडियन पाश्चात्य सभ्यता तथा संस्कृति की नकल करने में लगे हैं। कोला में हानिकारक जहर है, यह सिद्ध होने के बाद भी कोला खूब बिक रहा है, हैमबर्गर तथा पिज्जा जैसे जंक फूड खूब बिक रहे हैं। हमने अपनी अकल विज्ञापनों को बेच दी है। इस सांस्कृतिक पतन के दो मुख्य कारण हैं– एक, घोर भोगवादी टीवी द्वारा भोगवाद का हाइबोल्ट भाषा में

विज्ञापन। दूसरे, सत्ता तथा रोटी से जुड़ी अंग्रेजी भाषा ने आम पढ़े लिखे लोगों को भारतीय भाषाओं के समुचित अध्ययन से हटा दिया, और अंग्रेजी भी उतनी ही सीखी जा रही है जितनी रोटी के लिए आवश्यक होती है। अर्थात् हमारा सारा ज्ञान मात्र रोटी कमाने के कौशल तक ही सीमित रह गया। एक भारतीय भाषाओं का और भारतीय ग्रन्थों का अपूर्ण ज्ञान होने से भारतीय संस्कृति की पकड़ कम हो जाती है, दूसरे नकल के द्वारा पाश्चात्य संस्कृति भी गलत आ रही हैं इनके फलस्वरूप मानवीय मूल्य कमजोर हुए और भोगवादी पशुत्व बढ़ा है।

यह अकाट्य सत्य है कि यह युग विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी का है, जो इसमें पिछड़ गया वह विकसित देशों का गुलाम ही रहेगा। सौ वर्षों के पूरे प्रयत्नों के पश्चात् अंग्रेजी जानने वालों की संख्या लगभग 8–10 प्रतिशत है और विज्ञान जानने वालों की संख्या तो लगभग 2 प्रतिशत। इसका एक भयंकर दुष्परिणाम यह है कि विज्ञान की खोजों तथा अविष्कार के लिए शेष आबादी का कोई महत्वपूर्ण योगदान नहीं। दूसरा दुष्परिणाम यह है कि वे दो प्रतिशत लोग भी अंग्रेजी के कामचलाऊ ज्ञान के कारण विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी में विशेष उत्कृष्ट कार्य नहीं कर सकते। तीसरे, जो सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण है, अविष्कार, खोज या रचनात्मक कार्यों का स्रोत संवेदनशील मन तथा बुद्धि से होता है, मात्र तार्किक बुद्धि नहीं। मानव की रचनाशीलता उसकी संवेदनात्मक भाषा के द्वारा प्रस्फुटित होती है। रोटी के लिए सीखी गई/विदेशी भाषा किसी भी व्यक्ति की संवदेनात्मक भाषा नहीं होती। बात यह है कि व्यक्ति की मातृभाषा उसकी संवेदनात्मक भाषा तथा उसकी बौद्धिक भाषा दोनों होती है। अतएव उसकी मौलिक चिंतन एवं सृजन की भाषा होती है। अन्य भाषाएं, बौद्धिक भाषाएं हो सकती हैं, संवेदनात्मक बहुत कम। भारत में हमने अंग्रेजी के मोह में अपनी मातृभाषा की उपेक्षा की और परिणामतः मौलिकता तथा सृजनशक्ति ने हमारी अवहेलना की। मुख्यतया इसलिए, हम विश्व की विज्ञान–प्रौद्योगिकी दौड़ में तथा मौलिक चिंतन एवं सृजन कार्यों में पीछे रह गए हैं। जब जापान जैसा छोटा देश, विशाल चीन देश, कोरिया, इज़राइल समुन्नत देश अपनी–भाषाओं में सारे कार्य सम्मानपूर्वक कर रहे हैं, तब भारत भी कर सकता है, बस वह अपनी भाषाओं को उचित महत्व दे।

भारत में जितने विद्वान शिक्षित लोगों में भी अंधविश्वास, भय तथा कुतर्क देखने को मिलते हैं, उतने यूरोप में नहीं। भारतीयों को तथ्यों की जानकारी अच्छी होती है, किन्तु उनकी वैज्ञानिक समझ कमजोर रहती हैं। क्योंकि अंग्रेजी में विज्ञान पढ़ने में उसका श्रम विदेशी पदों की रटने में ज्यादा रहता है न कि वैज्ञानिक अवधारणाओं को समझने में। बीसवीं सदी के प्रारंभ में बंगाल के प्रोफेसर अपने विद्यार्थियों को विज्ञान, बांग्ला तथा अंग्रेजी दोनों भाषाओं में समझाते थे, सम्भवतः इसीलिए भी उनके शिष्यों ने विज्ञान में नाम कमाया। सॉफ्टवेयर की भाषा प्रमुखतः गणित है, इसीलिए भारतीय भी इसमें नाम कमा रहे हैं, यद्यपि द्वितीय स्तर के कार्य में, मूल शोध में कम।

उपरोक्त चर्चा के आधार पर कुछ निष्कर्ष प्रस्तुत हैं–

(1) सांस्कृतिक एवं आर्थिक गरीब देश में रोटी की भाषा ही राजभाषा हो सकती है; अंग्रेजी रोटी की भाषा है।

(2) राजभाषा, यदि वह विदेशी हो, अंततः राष्ट्रभाषा हो जाती है, और राष्ट्रभाषाएं क्षीण हो जाती हैं।

(3) अल्पमत में होते हुए भी 'श्रेष्ठता–पीड़ित' समुदाय की संस्कृति तथा भाषा 'हीनता–पीड़ित' समुदाय की संस्कृति तथा भाषा पर हावी हो जाती है। अंग्रेजी भाषा वाले श्रेष्ठ माने जाते हैं।

(4) जब दो बिल्लियां लड़ती हैं तथा न्याय के लिए बन्दर के पास जाती हैं तब सारा लाभ बन्दर को खुशी–खुशी मिल जाता है। आज अधिकांश भारतीय भाषाएं अंग्रेजी से ही न्याय चाहती हैं।

(5) विज्ञान और प्रौद्योगिकी में समुन्नत देश की संस्कृति और भाषा अन्य कमजोर देशों की संस्कृति तथा भाषा पर हावी हो जाती है।

(6) क्या भारतीय भाषाओं का भविष्य निराशापूर्ण है?

भारत के लोग बड़े गर्व से कहते हैं कि हम प्रौद्योगिकी के कुछ क्षेत्रों में अग्रिम पंक्ति में हैं, यथा परमाण्विकी ऊर्जा, अंतरिक्ष प्रौद्योगिकी, सॉफ्टवेयर प्रौद्योगिकी इत्यादि में। इसमें संदेह नहीं कि इन प्रौद्योगिकियों में हमने विशेष उन्नति की है, किन्तु

प्रौद्योगिकी समाज में जो संस्कृति व्यवहार में होनी चाहिए भारत में वह नहीं है, यथा इंजीनियरों एवं मिस्त्रियों को अपने निर्माण तथा रखरखाव में गर्व होना चाहिए। यदि हो तो सड़कें गड्ढों से भरी न होतीं, बिजली चाहे जब गुल न हो जाती (लोड शैडिंग की आवश्यकता दूरदर्शिता की कमी दर्शाती है) और घर–घर में, जनरेटरों की घड़घड़ न होती; टेलीफोन अपनी मर्जी से चाहे जब सो न जाते, पेयजल के लिए घर–घर जल–शोधक न लगाने पड़ते, परमाण्विकी जनित्र महीनों खराब न पड़े रहते, इत्यादि। यह मात्र भ्रष्ट चरित्र की बात नहीं है। इंजीनियरों तथा मिस्त्रियों को अपने पद का तो गर्व होता है किन्तु अपने कार्य की गुणवत्ता पर गर्व नहीं है जैसा विदेशों में है, हममें सहकारिता तथा सहयोग की भी कमी है। इन गुणों की कमी से सारा प्रौद्योगिक वातावरण दुःख, व्यर्थ का खर्च तथा प्रदूषण से आप्लावित है जब तक यह वातावरण 'सुसंस्कृत' नहीं होता, जिसे करने के लिए किसी भी विदेश की उच्च प्रौद्योगिकी के आयात की आवश्यकता नहीं है तथा हम वास्तव में प्रौद्यागिकी के इन क्षेत्रों में अग्रिम पंक्ति में नहीं हो सकते।

कर्म कौशल, कर्म निष्ठा, सहयोग, आत्मसम्मान वाली औद्योगिक संस्कृति यूरोप तथा अमेरिका में है। जब हमने सारे विज्ञान प्रौद्योगिकी की शिक्षा अंग्रेजी माध्यम के द्वारा प्राप्त की तब हमने इस प्रौद्योगिकी संस्कृति को क्यों नहीं सीखा? विदेशी भाषा में जो संस्कृति हम सीखते हैं वह अनेक कारणों से गड्ड–मड्ड रहती है। वह विदेशी भाषा हमें लॉर्ड मैकाले की नीति के तहत गुलाम बनाने के लिए सिखाई गई थी, अब वह शासक तथा शासित के बीच दीवार का कार्य कर रही है। एक तो उस भाषा को सीखने का हमारा ध्येय नौकरी होता है। दूसरे, विदेशी भाषा द्वारा प्राप्त ज्ञान हम खंडों में बाँटकर सीखते हैं। स्वभाषा में सीखने पर विभिन्न खंडों के बीच वह दीवार नहीं रहती। अतएव विदेशी भाषा हम संस्कृति की सीख खंड–खंड में लेते हैं। तीसरे, विदेशी भाषा के उन खंडों पर, जो किसी रूप से संस्कृति शिक्षा प्रदान करते हैं, नौकरी–पेशा इच्छुक विद्यार्थी ध्यान नहीं देते।

उपरोक्त चर्चा से कुछ ध्येय स्पष्टतः उभरते हैं :

(1) भारत को यदि सम्मान से जीना है तो उसे विज्ञान–प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में अग्रिम पंक्ति में आना पड़ेगा।

(2) उपरोक्त उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए प्रदेशों की अपनी भाषाओं में ही मुख्य शिक्षा हो तथा उनका राजकाज भी।

(3) अंग्रेजी की शिक्षा रोटी के लिए वरन उतनी ही दी जाए जितनी एक विदेशी भाषा की उपयोगिता को देखते हुए आवश्यक है।

(4) अंग्रेजी का स्थान हिन्दी को नहीं लेना है क्योंकि अंग्रेजी तो आधिपत्य जमाने वाला स्थान लेकर बैठी है, सिंहासन पर।

(5) मात्र उतनी ही हिन्दी की शिक्षा दी जाए जितने में सारे प्रदेशों का राजकाजी परस्पर संपर्क सध सके। त्रिभाषी सूत्र अपनाया जाए।

(6) एक सशक्त अनुवाद–सेना तैयार की जाए।

(7) सांस्कृतिक शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाए ताकि भ्रष्टाचार का उन्मूलन किया जा सके।

जब संविधान में हिंदी को राष्ट्रभाषा तथा संपर्क भाषा बनाने का आदेश है, तथा क्षेत्रीय भाषाओं को अपने क्षेत्रों में राजकाज करने का आदेश है और हिन्दी तथा क्षेत्रीय भाषाओं में अपना कार्य करने की पूरी क्षमता है, तब ऐसा क्यों नहीं हो रहा है। यह आप प्रेम की भावना पर तथा मुख्यतः अपने–देश प्रेम पर निर्भर करता है। प्रेम इस विषय में सबसे महत्वपूर्ण शक्ति है। हमारे राष्ट्र में मूलभूत रूप से सांस्कृतिक एकता है। हमारी मूल संस्कृति 'वसुधैव कुटुंबकम' वाली संस्कृति है। हमारे साहित्य में एकता है, एकरूपता नहीं एकात्मकता है। हम संकीर्ण राजनैतिक स्वार्थों के ऊपर उठ सकते हैं। हमारी प्रमुख भाषाओं में विज्ञान–प्रौद्योगिकी को अभिव्यक्त करने की शक्ति है। भारत में न केवल विश्व–शक्ति बनने की क्षमता है। वरन् विश्व को भोगवाद के राक्षस से बचाने की क्षमता है।

विश्वमोहन तिवारी,
एयर वाइस मार्शल (से. नि.)
ई–143, सैक्टर–21, नोएडा

आठवें विश्व हिन्दी सम्मेलन में हिन्दी प्रदर्शनी

प्रदर्शनी देखते हुए विदेश राज्यमंत्री श्री आनन्द शर्मा

दिनांक 13 से 15 जुलाई, 2007 तक न्यूयॉर्क में हुए आठवें विश्व हिन्दी सम्मेलन के दौरान संस्कृति मंत्रालय के तत्त्वावधान में राष्ट्रीय अभि–लेखागार द्वारा विश्व स्तरीय प्रदर्शनी– ''हिन्दी देश से परदेश तक'' लगाई गई। इस प्रदर्शनी को संस्कृति मंत्रालय के विभिन्न संस्थानों, निजी संग्रहों तथा मुख्य रूप से राष्ट्रीय अभिलेखागार में उपलब्ध हिन्दी से संबंधित रोचक अभिलेखीय साक्ष्यों के माध्यम से प्रदर्शित किया गया है। यह देश से परदेश तक की यह मंच तय करती उस हिन्दी की विकास–यात्रा है जो घर में अपनी जड़ें मजबूत कर आज संयुक्त राष्ट्रसंघ के मंच पर अपनी पहचान के लिए दस्तक दे रही है।''

मीमांसक
सहायक निदेशक,
राष्ट्रीय अभिलेखागार, नई दिल्ली

प्रदर्शनी में डा. इन्द्रनाथ चौधरी, मोहिनी हिंगोरानी और अमरीका के हिन्दी विद्वान

हिंदी प्रदर्शनी

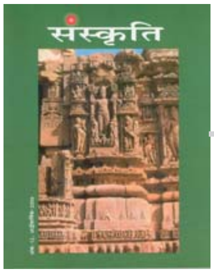

आपका पत्र मिला

संस्कृति पत्रिका में भारतीय संस्कृति को बखूबी दर्शाया गया है और यह काफी रोचक एवं ज्ञानवर्द्धक है तथा इसका छायांकन भी अच्छा है। इससे निःसंदेह पाठकगण लाभान्वित होंगे।

सुशील कुमार शिंदे,
विद्युत मंत्री, भारत सरकार

संस्कृति पत्रिका अपने नाम को सार्थक सिद्ध कर रही है और पाठकों के लिए पठनीय एवं संग्रहणीय है।

डॉ. रघुवंश प्रसाद सिंह,
ग्रामीण विकास मंत्री, भारत सरकार

पत्रिका ''संस्कृति'' में प्रकाशित केरल के मत्तनचेरी महल के मूलभित्ति चित्र के साथ अन्य रेखाचित्र भी काफी आकर्षक व सुंदर है।

विलास मुत्तेमवार,
राज्य मंत्री (स्वतंत्र प्रभार), नवीन और नवीकरणीय ऊर्जा, भारत सरकार

मनमोहक मुखपृष्ठ, उपयोगी एवं रूचिकर लेखों तथा आकर्षक पोस्टर से सजी ज्ञानवर्धक पत्रिका के प्रकाशन के लिए आप सबको हार्दिक बधाई और शुभकामनाएं।

डॉ. मृदुला सिन्हा और डॉ. सीताराम पोद्दार के लेख विशेष पसन्द आए। भारतीय संस्कृति को वैश्विक स्तर पर स्थापित करने के लिए ऐसे प्रयासों की ही आवश्यकता है।

राकेश शर्मा,
विशेष कार्य अधिकारी, राष्ट्रपति सचिवालय, राष्ट्रपति भवन,

मूलभित्ति चित्रों की पोस्टर प्रति बहुत अच्छी लगी। विभिन्न विषयों पर लेख भी काफी ज्ञानवर्द्धक है व सांस्कृतिक जानकारियों से परिपूर्ण है।

डॉ. लक्ष्मीनारायण पाण्डेय,
संसद सदस्य (लोक सभा)

पत्रिका में छपे सभी लेख तथा चित्रण वास्तव में प्रशंसनीय हैं और आशा है कि पाठकों के लिए निरन्तर प्रकाशित करते रहेंगे।

शरद यादव,
अध्यक्ष, जनता दल (यूनाईटेड)

इस पत्रिका में भारतीय इतिहास, साहित्य, पुरातत्व, कला इत्यादि का चित्रण बहुत अच्छे ढंग से किया गया है, जिसके लिए आप सबको बधाई हो। अगर यह पत्रिका त्रैमासिक छापी जाये तो ज्यादा अच्छा होगा।

भूपेन्द्र सिंह हुड्डा,
मुख्य मंत्री, हरियाणा

''संस्कृति'' का नवीनतम अंक मिल गया। धन्यवाद। अच्छी पत्रिकाएं मिलने का जो सुख होता है वही ले रहा हूं। आपका आभारी हूं।

बालकवि बैरागी,
पूर्व सांसद,
पोस्टः 153/ए/शिक्षक नगर, नीमच,
मध्य प्रदेश– 458441

पत्रिका में प्रकाशित केरल के मत्तनचेरी महल का मूलभित्ति चित्र बहुत ही अच्छा लगा।

अमरसिंह, सांसद
(राज्य सभा)

मुझे 'संस्कृति' पत्रिका के नवीनतम संस्करण की प्रति प्रेषित करने के लिए बहुत–बहुत धन्यवाद। पत्रिका देश की समृद्ध सांस्कृतिक विरासत के प्रसार में उपयोगी माध्यम है।

अजय दुआ,
सचिव, औद्योगिक नीति एवं संवर्धन विभाग, वाणिज्य एवं उद्योग मंत्रालय

'संस्कृत' पत्रिका के आकर्षक आवरण के साथ इसमें प्रकाशित सामग्री भी ज्ञानवर्धक एवं चिन्तनपरक हैं। भारतीय संस्कृति एवं हिन्दी के प्रचार–प्रसार के लिए यह एक सराहनीय

प्रयास है। पत्रिका में केरल के भित्ति–चित्र का पोस्टर भी अच्छा है। हमारे पुस्तकालय में इस पत्रिका की प्रतियां आती रहनी चाहिए।

अजय नारायण झा,

आई.ए.एस., संयुक्त सचिव, इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र, नई दिल्ली

पत्रिका की सामग्री संस्कृति के विविध पक्षों को उद्घटित करती है। देश–देशांतर में भारतीयता के रंग और सामासिक संस्कृति की छटा आपकी पत्रिका में मिलती है।

रश्मि चौधरी,

निदेशक (भाषाएं), मानव संसाधन विकास मंत्रालय, उच्चतर शिक्षा विभाग, भारत सरकार

पत्रिका का नाम उचित ही 'संस्कृति' है जितनी और जैसी सामग्री आप दे रही हैं वह देशव्यापी पर्यटन के बाद भी क्या मनोगत हो पाती? इसके लिए आप बधाई की पात्र हैं। आपकी दृष्टि संस्कृति की विविधताओं और आंतरिक विशिष्टताओं को उद्घाटित करने में है। इस गुणवत्ता के चलते पत्रिका 'बहुलता' में 'एकता' का सर्वोत्तम उदाहरण बन पड़ी है। इसके अतिरिक्त छपाई, सुरूचिपूर्ण सज्जा, कला मर्मज्ञता, ज्ञान समृद्धि और घर बैठे एक अन्यतम पोस्टर की उपलब्धि। यह अनुपमता स्तुत्य है।

राजी सेठ,

एम–16, साकेत, नई दिल्ली–110017

केरल के मत्तनचेरी महल के ये मूलभित्ति चित्र बहुत अदभुत है। रचनाएं भी बहुत उपयोगी है। हर दृष्टि से यह एक संग्रहणीय अंक हो गया है। मेरी हार्दिक बधाई स्वीकार कीजिए।

विष्णु प्रभाकर,

बी–151, महाराणा प्रताप एन्कलेव, पीतमपुरा, दिल्ली–34

'संस्कृति' के अंक की प्रति प्राप्त कर मुझे बहुत अच्छा लगा है। निश्चित रूप से यह एक महत्वपूर्ण पत्रिका है जिसके माध्यम से हमारे देश की भाषा और विशेष रूप से हमारे देश की बहुआयामी संस्कृति का जो गहरा और विस्तृत परिचय मिला है वह अपने देशवासियों के लिए गौरव और अन्य लोगों के लिए जरूरी सामग्री की घटना है। सांस्कृतिक पर्यटन पर आपकी संक्षिप्त, लेकिन गंभीर टिप्पणी ही पत्रिका के महत्व का संकेत देने में समर्थ है। रावत नाच, पहाड़ी दीपावली फुलकारी जैसे विषयों पर भी सामग्री देकर पत्रिका ने एक महत्वपूर्ण दायित्व का निर्वाह किया है। केरल के मत्तनचेरी महल के भित्ति चित्र की पोस्टर प्रस्तुति अदभुत है। ऐसे संग्रहणीय अंक के संपादन के लिए मैं आपको बधाई देता हूं और भविष्य के लिए शुभकामनाएं भी।

डॉ. रमेश शर्मा (दिविक रमेश),

प्रिंसिपल, मोतीलाल नेहरू, महाविद्यालय. (दिल्ली विश्वविद्यालय)

अर्द्धवार्षिक पत्रिका ''संस्कृति'', जो पिछले कुछ वर्षों से संस्कृति मंत्रालय द्वारा छपती आ रही है, के नवीनतम अंक की प्रति प्राप्त हुई। इसके लिए मैं आपको एवं सहयोगियों को मेरी ओर से हार्दिक बधाईयां अर्पित करता हूं।

आर्चबिशप पेदरो लोपेज क्वींताना,

अपोस्तोलिक नुनसियो, 5–सी, नीति मार्ग, चाणक्यपुरी, नई दिल्ली–21

पत्रिका के बारे में जितना भी कहा जाए उतना कम है। लेखों का प्रस्तुतीकरण, साथ ही भारतीय संस्कृति की झलक दिखलाते चित्र और उनकी मोहकता पत्रिका के द्वारा संस्कृति की सैर करवा देते हैं।

केरल के मत्तनचेरी महल के मूलभित्ति चित्र की पोस्टर प्रस्तुति ने मन मोह लिया तथा मेरे 'स्टडी रूम' की एक दीवार की शोभा बढ़ा दी। पत्रिका के तमाम सारे लेखों में डॉ. परमानन्द पांचाल जी के लेख 'हमारी भाषा और संस्कृति पर शतरंज का प्रभाव' ने विशेष रूप से प्रभावित किया। बाकी लेख भी स्तर में किसी प्रकार कम नहीं हैं।

डॉ. कुमारेन्द्र सिंह सेंगर,

110 रामनगर, सत्कार गेस्ट हाउस के पास, उरई (जालौन), उत्तर प्रदेश – 285001

संस्कृति मंत्रालय की पत्रिका ''संस्कृति'' का नया अंक सुंदर, सुरूचिपूर्ण तथा सराहनीय है। उल्लेखनीय है कि मैं पिछले बीस वर्षों से इसका पाठक रहा हूं। इस आधार पर कह सकता हूं कि संस्कृति के नये आयामों को उजाकर करने वाली यह पत्रिका राष्ट्रभाषा के माध्यम से विभिन्न सांस्कृतिक रंगों को आकर्षक ढंग से प्रस्तुत करने में सफलता के नए सोपान तय कर रही है। इसके लिए संपादकीय परिवार सराहना के पात्र हैं।

प्रसंगवश मंत्री महोदया का ध्यान इस अंक के संपादकीय आलेख ''सांस्कृतिक पर्यटन'' की ओर दिलाते हुए एक सुधी पाठक के रूप में आग्रह करना चाहता हूं कि संस्कृति तथा पर्यटन से जुड़ी इस पत्रिका का मासिक प्रकाशन आरंभ किए जाने की व्यवस्था करने की कृपा करें।

राधाकान्त भारती,
56, नगिन लेक अपार्टमेन्ट, पीरागढ़ी,
नई दिल्ली–87

''संस्कृति'' का नया अंक पाकर खुशी हुई। इसके कई लेख मैंने पढ़े। चयन और प्रस्तुतीकरण दोनों सलीके के हैं। हमारी संस्कृति में जितना वैविध्य है, पत्रिका उसकी बेहतरीन झलक प्रस्तुत करती है। साहित्य, कला और संगीत–नृत्य से लेकर वास्तुकला, पुरातत्व, लोकरंग और देसी हुनर की भी बहुविध छटाएं आपने संजोयी हैं। इसके लिए बधाई। अगर पत्रिका में राजनेताओं और अफसरों के चित्र न हों तो पत्रिका और भी सुरूचिपूर्ण होगी।

ओम थानवी,
ए–80, सेक्टर–7, नोएडा–201301

''संस्कृति'' नाम के अनुरूप पत्रिका में प्रकाशित लेख पढ़कर तथा सुन्दर छपाई देखकर प्रसन्नता हुई। शायद ही हिन्दी की कोई अन्य पत्रिका इतने सुन्दर ढंग से प्रूफ की त्रुटियों रहित निकलती है। पत्रिका के बीच में दी गयी पेंटिंग संग्रहणीय है। यदि कुछ इस ढंग से उसे किया जाता कि बीच में मोड़ नहीं आता तो अधिक अच्छा होता।

'संस्कृति' से संबंधित विविध आयामों पर लेख देकर आपने निश्चय ही संस्कृति शब्द को बहुत व्यापक अर्थ दिया है जो अन्य पत्रिकाओं के लिए अनुकरणीय तो है ही, प्रशंसनीय भी है। आशा है पत्रिका इसी प्रकार निकलती रहेगी।

महेन्द्र राजा जैन,
8 ए, बन्द रोड, एडेल्फीख एलेनगंज,
इलाहाबाद–2110001

''संस्कृति'' से भारत की पुरानी संस्कृति उजागर हुई है। सचमुच पत्रिका का प्रकाशन प्रशंसनीय है। राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रचार काफी आगे बढ़ा है। डॉ. लोकेश चन्द्र का लेख ''जापान में नागरी लिपि'' काफी अच्छा है। साथ ही डॉ. गंगाप्रसाद विमल का 'भाषा और संस्कृति' लेख पठनीय है। संस्कृति के उत्कृष्ट एवं निरंतर प्रकाशन के लिए बधाई स्वीकार करें।

महेश चन्द्र शर्मा,
ई–81/दयानन्द कालोनी, किशन गंज, दिल्ली–7

इससे पूर्व भी 'संस्कृति' के अंकों से रूबरू होता रहा हूं, परन्तु सद्य प्रकाशित अंकों में आमूलाग्र परिवर्तन देखने को मिला है। यूं कहूं कि 'संस्कृति' का कायाकल्प हुआ है तो अतिशियोक्ति नहीं होगी। आवश्यकता के अनुरूप विषयों तथा लेखकों का चयन, कलेवर में उनकी रचनाओं का यथास्थान क्रम, वर्ण्य–सामग्री की प्रामाणिकता को पुष्ट करने हेतु ऐतिहासिक ग्रंथों, राष्ट्रीय संग्रहालयों और कला दीर्घाओं से प्राप्त (श्रमसाध्य) रंगीन चित्र आदि सब कुछ सराहनीय है।

'ले–आउटिंग' में सम्पादक की सूझबूझ ने अंकों के 'गेट–अप' को विलोभनीय और संग्रहणीय बनाया है। विश्व विख्यात चित्रकार एम.एफ. हुसैन के 'मदर टेरेसा' और संगीत के आनन्द में मगन 'दक्कन' की महिलाओं वाले पोस्टरों ने अंकों को एक अभिजात्य स्वरूप प्रदान किया है। किन्तु पिछले अंक में केरल में मत्तनचेरी का भित्तिचित्र सुरूचिपूर्ण नहीं लगा। कुल मिलाकर 'संस्कृति' भारतीय संस्कृति की प्रतिनिधि संवाहक बनने का माद्दा रखती है। इस सार्थक सद्प्रयास के लिए सम्पादक प्रशंसा की पात्र हैं। 'हिन्दी अकादमी' दिल्ली द्वारा 'संस्कृति' को प्राप्त प्रथम पुरस्कार इसी तथ्य को सिद्ध करता है। मुझे पूरा विश्वास है कि 'विश्व हिन्दी जगत' में 'संस्कृति' ने अपनी विशेष साख कायम की है। अग्रांकित काव्य पंक्तियों में 'संस्कृति' की उत्तरोत्तर बुलंदी के लिए मंगल कामनाओं के साथ–

'''संस्कृति' है नेतृत्व आज का, भारत के अदबी लिहाज का, खान–पान रीति रिवाज का, वेश और भूषा के मिज़ाज़ का, चिंतन और संगीत कला–मय, जीवन मूल्यों के फ़राज़ का।''

डॉ. केशव फालके,
302, 'बी' विंग, 'शुभ सदन', इमारत क्र.
59, तिलक नगर, चेंबूर, मुंबई – 400089

भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व करने वाली ऐसी पत्रिका देखकर मन रोमांचित हो उठा। सबसे पहले इतने सुन्दर प्रकाशन की बात करें तो मोधेरा, गुजरात की सूर्य प्रतिमा का मुख पृष्ठ पर स्थान देना सम्पादक की अपनी संस्कृति के प्रति सरोकारों को दर्शाता है। कवर–2 पर दुर्लभ सरस्वती का रेखाचित्र, कवर–3 पर प्रख्यात कलाकार मदन लाल नागर की 'लखनऊ

श्रृंखला' का चित्र 'लेंस' और कवर–4 पर नर्तक, कोर्णाक मंदिर का चित्र प्रथम दृष्टया पाठक को आकर्षित करता है और पूरी तरह से पत्रिका की प्रकृति और उद्देश्यों को सार्थक बनाता है। इस अंक में प्रकाशित सामग्री भी अति महत्वपूर्ण, पठनीय, संग्रहणीय व अपनी संस्कृति के अनेक अनछुए पहलुओं के प्रति जिज्ञासु बनाती हैं।

इनके साथ ही सम्पादकीय में कला से जुड़ी हुई समस्याओं व संभावनाओं के प्रति कलाकारों, कलारसिकों व संस्कृति कर्मियों का ध्यान आकृष्ट करते रहना पत्रिका का विशिष्ट आकर्षण बनता है। सम्पादक का कला के प्रति सरोकार और सूझ–बूझ का परिचय देता है।

पिछले अंक में 'संस्कृति बनाम बाज़ार' भी एक ऐसा मुद्दा था, जिसकी चर्चा कर सम्पादक ने इसके कई आयामों के प्रति सोचने और विमर्श करने के लिए झील में पत्थर फेंक दिया है। भारतीय संस्कृति और उसके प्रतीक यहां के धरोहरों की भव्यता उसका गौरवमयी इतिहास और उनका आकर्षण कुछ है ही ऐसा जो पूरी दुनिया को लुभाता रहता है। ऐसे में 'संस्कृति' पत्रिका का इतने भव्य कलेवर में नियमित रूप से निकलना न कि सिर्फ भारतीय संस्कृति बल्कि यहां के पर्यटन को भी बढ़ावा देगा।

पत्रिका के संबंध में एक विशेष बात और कहना चाहूंगा कि पोस्टर के रूप में प्रकाशित चित्र का चयन इस प्रकार किया जाता है कि उसे तुरन्त दीवार पर स्थान दिया जाए ऐसा मन करता है। एक तरह से यह अनेक रसिकों तक अपनी संस्कृति का एक दुर्लभ उदाहरण पहुंचाने की ही कोशिश है। कुल मिलाकर पत्रिका एक अविस्मरीण प्रभाव छोड़ती है। इसके संपादन–संयोजन में अदभुत शोध व कला मर्मज्ञता का परिचय मिलता है।

गैर–सरकारी प्रस्तुति वाली इस सरकारी पत्रिका की पूरी संपादकीय टीम को हार्दिक साधुवाद। सुझाव है कि प्रकाशन की अवधि कम करने का भी प्रयास करें।

ए.पी.ओझा,

राष्ट्रीय साप्ताहिक जजमेंट, आज तक हिमांशु सदन, 5 पार्क रोड, लखनऊ

'संस्कृति' के मुख पृष्ठ पर सूर्य की मूर्ति, सूर्य मंदिर, मोधेरा, गुजरात जहां एक ओर अन्तर्मन में पाक भावनाओं की ओर प्रेरित करता है वहीं अंदर का पोस्टर केरल के पद्यनाभपुरम और मत्तनचेरी महलों के भित्ति चित्र दैहिक नहीं वरन् मानवीय प्रेम की सार्थकता को व्यंजित करता है। उत्तरोत्तर विकास की 'संस्कृति' का अंक पठन सामग्री की दृष्टि से अति उत्तम बन पड़ा है। पत्रिका एक बार हाथ में आने पर इसे छोड़ने का मन ही नहीं करता है। अनेकता में एकता को दर्शाता भारत में फारसी संस्कृति के पद्चिन्ह –डॉ. शिवानी राय का लेख दिल को छूने वाला है, वहीं डॉ. मृदुला सिन्हा का आलेख 'लाख टके की मेरी बिंदिया' भारतीय परम्पराओं एवं रीतियों को प्रदर्शित करता है। डॉ. गंगा प्रसाद विमल का लेख 'भाषा और संस्कृति' भी शिल्प एवं संवेदनाओं की दृष्टि से मार्मिक बन पड़ा है। इस अंक से हमें इस विश्वास को बल मिला है कि संस्कृति के आगामी अंको में भी आप भारतीय संस्कृति की गरिमा, संस्कार एवं चरित्र को उजागर करने में सफल होंगी।

डॉ. वीरेन्द्र सिंह यादव,

प्रवक्ता– हिन्दी विभाग, दयानन्द वैदिक (पी.जी.) महाविद्यालय, उरई (जालौन), उ.प्र. पिन–285001

उत्कृष्ट संपादन से पत्रिका विश्व के पार–द्वार तक चर्चित होने लगी है और इससे सांस्कृतिक जीवंतता को गति मिली है।

डॉ. तारादत्त 'निर्विरोध',

254, पद्मावती कॉलोनी 'ए', अजमेर रोड, जयपुर–302019 (राजस्थान)।

एक पत्रिका कैसे पाठक को रूप–रस–गंध–स्पर्श और समृद्धि का ब्रह्मानंद दे सकती है, आपकी 'संस्कृति' इसका जीवंत प्रमाण हैं। एक–एक कर कितने ही मनपसंद आलेख पढ़ गई हूं। प्रूफ की दृष्टि से वर्तनी की एक भी अशुद्धि पकड़ में नहीं आई जो कि किसी भी पत्रिका या पुस्तक का महत्वपूर्ण गुण में मानती हूँ। 'संस्कृति' पत्रिका इतनी सुसंस्कृत है कि कुछ भी कहना कम लगता है। 'सांस्कृतिक पर्यटन' से संबंधित संपादकीय से झरती दूरदृष्टि नये झरोखे खोलने की सामर्थ्य रखती है।

सिम्मी हर्षिता,

के–24, लाजपत नगर–III, नई दिल्ली–110024

मुझे यह पत्रिका बहुत ही सूचनाप्रद लगी। इससे हमें भारत की सांस्कृतिक विरासत का दर्शन होता है।

डा. विनय भटनागर,

निदेशक, लोक सभा सचिवालय

पत्रिका की साज–सज्जा अत्यंत आकर्षक है। विभिन्न आलेखों को पढ़ना तथा सुंदर चित्रों का रसास्वादन करना काफी दिलचस्प रहा। डॉ. परमानन्द पांचाल द्वारा 'हमारी भाषा और संस्कृति पर शतरंज का प्रभाव', डॉ. सरोज चमन द्वारा 'फुलकारी–पंजाबियों की पहचान' तथा डॉ. गंगा प्रसाद विमल द्वारा 'भाषा और संस्कृति' विषयों पर लिखित आलेख रोचक व प्रशंसनीय हैं।

ब्रजेन्द्र त्रिपाठी,
उप सचिव, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली

संस्कृति मंत्रालय द्वारा प्रकाशित 'संस्कृति' हमारी भारतीय संस्कृति के अनुकूल है। संस्कृति सकल देश–परदेश की प्रमुख संस्कृतियों का दर्पण प्रस्तुत करती हुई अन्तर्राज्यीय स्थलों का दिग्दर्शन कराती है, इस कारण संस्कृति की महत्ता, उपादेयता एवं मौलिकता सराहनीय है। स्पष्ट स्वच्छ, रंगीन चित्रों के प्रस्तुतीकरण अतीव आकर्षक, नयनाभिराम तथा उच्च कोटि के परिलक्षित होते हैं। पत्रिका त्रैमासिक रूप से प्रकाशित करना संभव हो सके तो अधिकाधिक सामग्री पाठकों को उपलब्ध हो सकेगी। केरल के मत्तनचेरी भितिचित्र स्तुत्य है। किंतु ऐसा दुर्लभ प्रमुख चित्र दें, जो अश्लील न प्रतीत हो। पत्रिका का सर्वांग तो सुंदर, सुखद तथा संस्कृति से परिपूर्ण है। संस्कृति पत्रिका में कला, साहित्य एवं सुसंयोजन उच्च स्तरीय है। समृद्ध ज्ञान, इतिहास एवं पुरानी व नवीन शैली की त्रिवेणी श्लाघनीय है। पत्रिका की शोधपरक सामग्री पठनीय, मननीय व चिंतनीय है। गति–प्रगति–उन्नति की कामना सहित। प्राचीन तथा नवीन सभी पक्षों को लिया है। 'शतरंज' पर डॉ. पांचाल का आलेख पठनीय है। सभी प्रदेशों के सामग्री – फुलकारी कला (पंजाब), दीवाली (पहाड़), संस्कृति (काशी) आदि उच्च स्तरीय है। जापान में नागरी लिपि (लोकेश चंद्र) शोधपरक है।

डॉ. हर्ष नन्दिनी भाटिया और श्री कैलाश चन्द्र भाटिया,
'नंदन', भारती नगर, मैरिस रोड, अलीगढ़।

आपके निर्देशन में मंत्रालय द्वारा प्रकाशित पत्रिका 'संस्कृति' न केवल सांस्कृतिक मूल्यों से ओत–प्रोत रचनाओं का संग्रहण कर रही है अपितु भारतीय कला, स्थापत्य एवं पौराणिक शैली की कला दीर्घा के माध्यम से राजभाषा हिन्दी में भी महत्वपूर्ण सामग्री का संयोजन कर रही है। जहां स्वच्छ मुद्रण व आकर्षक साज–सज्जा पत्रिका के कला पक्ष को उद्घाटित करती है, वहीं उत्कृष्ट रचनाओं का समयबद्ध संयोजन संपादकीय सूझबूझ का भी परिचायक है। आशा है राजभाषा हिन्दी के माध्यम से सांस्कृतिक मूल्यों को सुरक्षित एवं प्रचारित–प्रसारित करने वाली यह पत्रिका आनेवाले समय में भी पत्रकारिता जगत में अपना महत्वपूर्ण स्थान बनाएगी एवं हिन्दी सेवियों को प्रेरित करती रहेगी।

डॉ. दिनेश चमोला,
प्रभारी, राजभाषा अनुभाग, भारतीय पेट्रोलियम संस्थान, वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसंधान परिषद्, हरिद्वार रोड, मोहकपुर, देहरादून–248005 (उत्तरांचल)

सचमुच केरल के भितिचित्र दुर्लभ है। इतनी सुरूचिपूर्ण, संग्रहणीय रचनाओं के लिए बधाई।

हिमांशु जोशी,
7/सी–2, हिन्दुस्तान टाइम्स अपार्टमेंट्स, मयूर विहार, फेज़–एक, दिल्ली–110091

इतनी आकर्षक सामग्री में सम्पन्नता समेटे हुए, सुरूचिपूर्ण ढंग से तैयार की गई पत्रिका के लिए बधाई। "हमारी भाषा और संस्कृति पर शतरंज का प्रभाव" (डॉ. परमानंद पांचाल), "फुलकारी–पंजाबियों की पहचान" (डॉ. सरोज चमन), "लाख टके की मेरी बिंदिया" (डॉ. मृदुला सिन्हा), "बुल्ला की जाणा मैं कौण" (सुधीर कुमार) लेखों में इतिहास झांका जा सकता है। केरल के मत्तनचेरी महल के मूलभित्ति चित्र का पोस्टर संभाल कर रखने लायक है।

पत्रिका में प्रकाशित दुर्लभ चित्रों के फोटोग्राफ किसी खजाने से कम नहीं है। इनसे पत्रिका सुन्दर बन पड़ी है। दुर्लभ सामग्री से युक्त पत्रिका का प्रस्तुत अंक स्वागत योग्य है। लेखों का चयन सम्पादक ने बड़ी मेहनत से किया है। कुल मिलाकर पत्रिका का संपादक मण्डल बधाई का पात्र है।

राजकुमारी देव,
निदेशक (रा.भा.), जल संसाधन मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली

पत्रिका के कई हिस्से संजोकर रखने योग्य है। गंभीर लेखों के साथ सामान्य रूचि को छूने वाली सामग्री और नेत्र सुख देने वाले महत्वपूर्ण चित्रों का योगदान पत्रिका को आकर्षक बना रहा है। छपाई सुष्ठु है।

इन्दु जैन,
सी–400, सरिता विहार, नई दिल्ली–110078

आपकी पत्रिका को देखकर यह एकदम समझ में आता है कि संस्कृति का अर्थ कितना व्यापक है, कितना महत्वपूर्ण है और कितना प्रभावी है, जो केवल नृत्य, संगीत तथा चित्रकला तक ही सीमित नहीं है। इस अंक में 'जूता भी बयां करता है', और 'हिंद महासागर' भी, 'फुलकारी' द्वारा पहचान दी जाती है, 'बिंदिया लाख टके की' होती है, 'शतरंज खेल' भी संस्कृति का परिचायक हो सकता है, 'बुल्लेशाह अपने को जानता है' के अध्यात्म से लेकर 'भाषा और संस्कृति' तक भारतीय संस्कृति की पहुंच 'बुद्ध' और 'सूर्य के समान महिमा मंडित है, और इनसे भी अधिक व्यापक, आखिर एक अंक में कोई कितना और समेट सकता है। आपने 'सांस्कृतिक पर्यटन' में लिखा है कि 'पूरे वर्ष यहां कोई न कोई सांस्कृतिक गमक रहती है।' मुझे लगता है कि इस अर्थ में सभी महानगर तथा अनेक नगर भारत से स्वयं बाहर हो गए हैं, यह कितने दुख की बात है, यह भी 'संस्कृति' के अंकों को पढ़ने से पता चलता है। इस अंक के 'केरल के मत्तनचेरी भित्तिचित्र' का मुझे संदेश या तो समझ में नहीं आता क्योंकि वह अन्य अंकों के कलाचित्रों से मेल नहीं खाता, या मुझे उसका संदेश आज के संदर्भ में उपयुक्त नहीं लगा। यह व्यक्तिगत पसंद की बात हो सकती है जो शेष 'संस्कृति' पत्रिका की उत्कृष्टता को बढ़ाती ही है।

विश्वमोहन तिवारी,

एयर वाइस मार्शल (सं. नि.) ई–143, से. 21, नोएडा–201301

आप बड़ी शोधपरक सामग्री एवं भव्य चित्रों से ''संस्कृति'' को सुसज्जित करती हैं। एतदर्थ आप एवं आपके सहयोगी बधाई के पात्र हैं।

डॉ. नवरत्न कपूर,

कोठी नंबर 1005, सेक्टर–16, चंडीगढ़

एक अलग और अनछुए विषय पर केन्द्रित पत्रिका का संपादन कर आप निश्चित ही महत्वपूर्ण काम कर रही है। मैं संस्कृति को अलग और अनछुआ विषय इसलिए कह रहा हूँ कि इसके नाम पर जो लेखन हो रहा है वह केवल रस्म अदायगी ही है। 'संस्कृति' में प्रकाशित आलेख ज्ञानवर्धक, चिंतनमुक्त एवं गहराई से लिखे गए हैं। केरल के पद्मनाभरम और मत्तनचेरी महलों के भित्तिचित्र का पोस्टर एक अच्छा उपहार है। 'संस्कृति' के माध्यम से सारगर्भित सामग्री पाठकों तक पहुंचाने के लिए आपको बधाई।

प्रेम जनमेजय,

73, साक्षर अपार्टमेंट्स, ए–3,
पश्चिम विहार, नई दिल्ली–110063

भारतीय संस्कृति के विभिन्न पक्षों को समेटने वाली यह पत्रिका सही मायने में भारतीय संस्कृति की संवाहिका है। साज–सज्जा व प्रस्तुति के मामले में भी यह सबसे एकदम अलग है, जो कहीं न कहीं आपकी संपादकीय सूझ–बूझ को भी सामने रखता है।

चन्द्रेश,

आदमपुर चौक, भागलपुर– 612001 (बिहार)

'संस्कृति' भारतीय संस्कृति की गंगा है। आपकी व्यापक सम्पादकीय दृष्टि से मैं अभिभूत हो गया हूं। अंग के उत्तर क्षेत्र अंगुत्तराय की संस्कृति पर भी एक आलेख देखा, पढ़ा– ओम प्रकाश पाण्डेय का, खोजपूर्ण है।

डॉ. अमरेन्द्र,

सम्पादक/चैखरी,
लाल खां दरगाह लेन, सराय, भागलपुर–812002

पत्रिका न केवल सुन्दर, आकर्षक और अर्थपूर्ण हैं– वरन पाठकों को उनकी सांस्कृतिक परंपराओं से भेंट कराने, गुण–दोष, के आधार पर उन्हें परखने का अवसर प्रदान करने में पूर्णतः समर्थ एवं सफल है।

डा कालीचरण यादव,

संपादक – 'मडई',
बनियापारा, जूना बिलासपुर, (छत्तीसगढ़) – 495001

पत्रिका वास्तव में संग्रह के योग्य है आपके श्रम का ही फल है।

सुनीता जैन,

सी–132, सर्वोदय एन्कलेव, नई दिल्ली–110017

'भारतीय संस्कृति की विशालता और विविधता की द्योतक 'संस्कृति' पत्रिका का हर अंक पठनीय और संग्रहणीय है। प्रत्येक अंक बहुविध सामग्री – सुरूचिपूर्ण एवं ज्ञानवर्धक रचनाओं और कलापूर्ण चित्रों से भरपूर होता है। इस 12वें अंक में केरल के मत्तनचेरी का भित्तिचित्र अत्यंत मनोहारी है। डा. मृदुला सिन्हा की 'लाख टके की मेरी बिंदिया' रचना बहुत पसंद आई, हमारी वेशभूषा की हर चीज अनमोल है। कुशल संपादन और सुंदर प्रस्तुतीकरण के लिए जितनी प्रशंसा की जाए कम है।''

डा. सीताराम पोद्दार,

डिप्टी गवर्नर, अमेरिकन बायोग्राफिकल इंस्टिट्यूट रिसर्च एसोसिएशन, 5, गरबेरा ड्राइव, माना हाइट्स, किंग्सटन, 6 जमैका, वेस्ट इंडीज

''मार्तण्ड और मोधेरा सूर्य मंदिर'' के निर्माण काल के उल्लेख के साथ–साथ कोणार्क सूर्य मंदिर के निर्माण काल का उल्लेख करना भी बहुत संगत और सूचनाप्रद होता। इस बारे में जानकारी दी जा सकती थी कि इन मंदिरों की 'सूर्य की स्वर्ण मूर्तियों' का वास्तव में क्या हुआ? इस बारे में तथ्य उपलब्ध हैं, परन्तु बहुत से भारतीय इसके दर्दनाक इतिहास को नहीं जानते। आपके ज्ञानवर्धन के लिए मैं यह उल्लेख चाहूंगा कि मैंने 17 मार्च को गुजरात में ''मोधेरा सूर्य मंदिर ओर मूल मंदिर का दौरा किया और इन्हें उपेक्षित हालत में देखकर बहुत दुःख हुआ। सूर्य मंदिर में कबूतरों चमगादड़ों की भरमार है और उनकी विष्ठा से कलाकृतियां खराब हो रही हैं। यहां के लोग सूर्य कुण्ड को राम कुण्ड भी कहते हैं। भारत विरासत और इतिहास के ऐसे स्थलों के संरक्षण के लिए शीघ्र कार्रवाई करने की आवश्यकता है।

प्रो. डॉ. कृष्ण कुमार,

बर्मिंघम, यूनाईटेड किंगडम (ई–मेल के द्वारा)

(profdrkrishna@googlemail.com)

''संस्कृति'' पत्रिका बहुत आकर्षक और पठनीय है। यदि 'संस्कृति' पत्रिका नियमित रूप से उपलब्ध हो सके तो हम आपके आभारी रहेंगे।

डॉ. आर. एन. एस.

(doctorraajneeshneram@rediff mail.com)

पत्रिका बहुत अच्छी लगी। इसमें नई–नई जानकारियों का समावेश किया गया है। पत्रिका वास्तव में रूचिकर है।

प्रमिला एच. भार्गव,

आयुक्त (कार्मिक), दिल्ली विकास प्राधिकरण।

पत्रिका बहुत सुन्दर है। इतने सुन्दर चित्रों वाली स्तरीय पत्रिका देखकर आश्चर्य मिश्रित सुख का अनुभव हुआ। मुझे राजेश सिंह द्वारा लिखित सूर्य पर आधारित लेख बहुत अच्छा लगा। इसी विषय पर मैंने भी शोध किया है। इतनी अच्छी पत्रिका के लिए हार्दिक बधाई ।

डॉ. इवा अराडी,

हंगरी, (dr. eva. aradi@freemail.hu)

''संस्कृति'' पत्रिका का 12वां अंक पूर्ववत अंक की प्राप्ति पठनीय एवं संग्रहणीय है। आप जितने श्रम एवं कौशल से संस्कृति की रचना करने वाली विभिन्न कलाओं की सामग्री को एकत्र कर पत्रिका में संजोती हैं वह अद्भुत है। अन्यत्र कहीं इस तरह की दुर्लभ सामग्री प्रायः देखने को नहीं मिलती। मेरा सुझाव है कि आप चार–चार अंकों की सामग्री को समेकित कर उन्हें पुस्तकाकार भी प्रकाशित करवायें। वे अपने आप में अनूठी पुस्तकें होंगी और देश की लाइब्रेरियों में सन्दर्भ ग्रन्थों की तरह पाठकों के लिए उपयोगी साबित होंगी।

श्री सुरेश पंडित,

लेखक एवं समाजकर्मी, 383, स्कीम नं. 2, लाजपत नगर, अलवर– 301001

''संस्कृति'' पत्रिका के सारे आलेख एक से एक बढ़कर हैं। इन्हें पढ़कर में अपने को पहले से कहीं अधिक समृद्ध पा रहा हूँ।

डॉ. मोतीलाल जोतवाणी,

बी–14, दयानंद कॉलोनी, लाजपत नगर, नई दिल्ली– 110024

'संस्कृति' पत्रिका में पूरे दमखम से मेरे घर में प्रवेश किया। लिफाफे से बाहर निकल कर मेरे हाथों में आते–आते अपनी विशेष पहचान बना गईं मेरे गाँव में एक कहावत प्रचलित है– ''पहनता है सब कोई, झमकाता है कोई–कोई''। भारतीय संस्कृति और सांस्कृतिक एकता के बीज तत्व अपने अंक में समेटे यह पत्रिका सचमुच 'झमकाती' है। इस शब्द के अनुवाद की जरूरत नहीं है। इस शब्द के अनुवाद की जरूरत नहीं है। पत्रिका के रूप में स्वरूप से भाव स्पष्ट हो जाएंगे। सारी पत्रिकाओं के बीच झमकाती है 'संस्कृति'। सरकारी पत्रिका तो कहीं से नहीं लगती। सामग्रियां अर्थपूर्ण एवं प्रेरक हैं। ज्ञानवर्द्धक तो है ही। ऐसी पत्रिका के संपादन के लिए मैं आपको साधुवाद देती हूँ। सरकारी कुर्सी पर बैठकर अपनी राष्ट्रीय धरोहर की गहराई में जाना कम हो जाता है। आपने अपनी दृष्टि भी पैनी रखी है। तभी तो एक वर्ष में दो महत्वपूर्ण पुरस्कारों से अलंकृत हुई है पत्रिका। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को अक्षुण्ण रखती यह पत्रिका 'संस्कृति' दीर्घायु और यशस्वी बने।

मृदुला सिन्हा,

अध्यक्ष, साथी, पीटी 62/20, कालजयी, नई दिल्ली– 110019.

अ.शा.पत्र सं.11014/18/2007-रा.भा.(प.)

संयुक्त सचिव
JOINT SECRETARY
TEL/FAX : 24611031

सत्यमेव जयते

भारत सरकार
GOVERNMENT ON INDIA
राजभाषा विभाग
DEPARTMENT OF OFFICAL LANGUAGE
गृह मंत्रालय
MINISTRY OF HOME AFFAIRS
लोक नायक भवन, खान मार्किट
LOK NAYAK BHAVAN, KHAN MARKET
नई दिल्ली - 110003
NEW DELHI-110003

दिनांक 30 अगस्त, 2007

आदरणीय,

मुझे आपको सूचित करते हुए हर्ष है कि आपके कार्यालय की हिंदी गृह पत्रिका "**संस्कृति**" को वर्ष 2006-07 के लिए हिंदी गृह पत्रिका पुरस्कार योजना के अंतर्गत "**प्रथम पुरस्कार**" के लिए चुना गया है। कृपया, हमारी हार्दिक बधाई स्वीकार करें।

पुरस्कार वितरण समारोह हिंदी दिवस 14 सितंबर, 2007 के अवसर पर नई दिल्ली में आयोजित किया जा रहा है।

आशा है कि पुरस्कार ग्रहण करने के लिए आप स्वयं समारोह में उपस्थित होंगे। यदि आप अपने एक-दो सहयोगियों को भी समारोह में लाना चाहते हैं, तो कृपया उनके नाम और पते इस विभाग को भेज दें और उनके निमंत्रण पत्र समारोह से एक दिन पहले कार्य-दिवस के दौरान इस विभाग से प्राप्त कर लें।

शुभकामनाओं सहित,

भवदीया

पि वि वल्सला जी कुट्टी
(पी.वी.वल्सला जी.कुट्टी)

श्री बादल के.दास,
सचिव,
संस्कृति मंत्रालय,
शास्त्री भवन,
नई दिल्ली - 110011

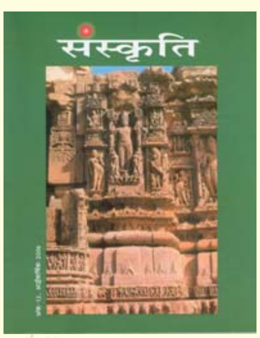

केन्द्रीय गृह मंत्री श्री शिवराज पाटिल से संस्कृति पत्रिका के लिए पुरस्कार ग्रहण करते हुए युक्त सचिव श्री लव वर्मा। बीच में केन्द्रीय गृह राज्य मंत्री श्री श्रीप्रकाश जायसवाल।

विभिन्न पत्रिकाओं में प्रतिक्रियाएं

भारतीय संस्कृति का रोचक उपहार!

रेल राजभाषा - अप्रैल-जून, 2007

पत्रिका का नाम	: 'संस्कृति' (अर्द्ध वार्षिक)
संपादक	: मोहिनी हिंगोरानी
प्रकाशक	: संस्कृति मंत्रालय, भारत सरकार शास्त्री भवन, नई दिल्ली-1

भारतीय संस्कृति की विलक्षण समृद्धि को विश्वभर में स्वीकार किया जाता है, यह हमारे लिए गर्व और गौरव की नि:संदेह असाधारण उपलब्धि है। यह भारतीय संस्कृति ही है, जिसने समूचे विश्व में 'वसुधैव कुटुम्बकम' की अवधारणा को जन्म दिया और पुष्ट किया। इसी का परिणाम कहा जा सकता है जिससे आज हम अंतरर्राष्ट्रीय संस्कृति के चिंतन को पुष्पित-पल्लवित कर रहे हैं। आज का विश्व अपनी-अपनी भौगोलिक सीमाओं में दूर-दूर होकर भी परस्पर बहुत पास आ गया है और नजदीक आते जाने की यह अपरिहार्यता निरंतर बढ़ रही है, ताकि संपूर्ण मानवीय जन-समाज विविध-रंगी होते हुए भी आवास में एक सिद्ध हो सके, एक हो सके।

भारत सरकार का संस्कृति मंत्रालय संभवत: ऐसे ही कारणों से अर्द्धवार्षिक रूप में 'संस्कृति' का प्रकाशन कर रहा है। इस पुस्तक बनाम पत्रिका को वर्तमान संपादक सुश्री मोहिनी हिंगोरानी, जोकि संस्कृति मंत्रालय में निदेशक के दायित्वपूर्ण पद पर आसीन हैं, ने अपनी विलक्षण सांस्कृतिक-निष्ठा से जो भव्य एवं मनोहारी रूप प्रदान कर दिया है, वह अपने आप में हमारी सांस्कृतिक कला के आरोहण का एक सजीव प्रमाण है। पत्रिका की साज-सज्जा, निर्दोष छपाई, आलेख-चयन, वैचारिक वीथियां आदि के माध्यम से सुश्री मोहिनी की कार्यदक्षता एवं सांस्कृतिक प्रतिबद्धता स्पष्टत: परिलक्षित होती है।

आर्ट पेपर पर प्रत्येक पृष्ठ का ले-आउट संपादक के सजग-सजीव व्यक्तित्व की घोषणा सहज ही कर देता है। मुख्य आवरण पृष्ठ पर सूर्य मंदिर का चित्र और उभारवाली छपाई पत्रिका को हाथ में लेते ही पढ़ने की जिज्ञासा जगाती है। अंदर के पृष्ठों में केरल के मत्तनचेरी भित्तिचित्र का अपना अलग ही आकर्षण है। इसी प्रकार अंतिम पृष्ठ मनमोहक है। संपादकीय में मोहिनी ने सांस्कृतिक पर्यटन की आवश्यकता एवं उपयोगिता पर अपना मन प्रस्तुत किया है और इसे देश की आर्थिक प्रगति से संयुक्त किया है। नि:संदेह आज के वैश्विक वातावरण में यह एक उपयोगी और उपजाऊ तथा व्यवहारिक चिंतन है।

पत्रिका में संस्कृति के विविध रूपों को उजागर करते तथा सांस्कृतिक समृद्धि का आलेख जगाते लेख पाठकीय सजगता की श्रीवृद्धि सहज ही करते हैं। उमेश कुमार की भगवान बुद्ध के महापरिनिर्वाण की 2,550 वीं वर्षगांठ के स्मरणोत्सव की रपट का सचित्र प्रकाशन कार्यक्रम की जानकारी चित्ताकर्षक रूप में प्रदान करता है। इसी प्रकार घ.वी. शर्मा, कि.च. नौरियाल, वी.एन. प्रभाकर का संयुक्त सचित्र आलेख, राजेश कुमार सिंह, डॉ. परमानंद पांचाल, डॉ. अनामिका पाठक, डॉ. सरोज चमन, सुरेश पंडित, संदीप साइलस, सुधीर कुमार, पद्मश्री डॉ. मोतीलाल जोतवाणी, डॉ. राधाकांत भारती, डॉ. शिबानी राय, डॉ. लोकेश चन्द्र, डॉ. सीता राम पोद्दार, डॉ. मृदुला सिन्हा, डॉ. सुधा गोपालाकृष्णन, डॉ. गंगा प्रसाद विमल और डॉ. ओम प्रकाश पांडेय के आलेखों के माध्यम से संस्कृति के विविध रूपों के साथ विकास-विस्तार की चर्चा प्रभावपूर्ण ढंग से पत्रिका में ही गई है। अपने-अपने स्तर पर सभी आलेख आदि पाठकों को सांस्कृतिक जीवन-मूल्यों की ओर आकृष्ट करने में सक्षम एवं समर्थ हैं। पत्रिका नि:संदेह एक रोचक व रोमांचक उपहार है। ■

—समीक्षक : डॉ. बी.आर. धर्मेन्द्र

संचेतना - जून, 2007

संस्कृति मंत्रालय, भारत सरकार द्वार प्रकाशित अर्द्धवार्षिक पत्रिका 'संस्कृति' (सं. मोहिनी हिंगोरानी, 322, सी विंग, शास्त्रीभवन, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद रोड, नई दिल्ली-11) भारतीय संस्कृति और परंपरा की विश्व को जानकारी देने के साथ-साथ लोककला, लोक साहित्य आदि से भी पहचान स्थापित कराती है। इसका नवीनतम अंक (अंक 12) सांस्कृतिक पर्यटन को बढ़ावा देने की दृष्टि से संयोजित किया गया है। क्योंकि संपादक का मानना है कि 'दुनिया भर में फैले करोड़ों भारतवंशी समय-समय पर भारत आकर अपनी सांस्कृतिक जड़ों से जुड़ने के साथ-साथ भारत की आर्थिक प्रगति में योगदान दे सकते हैं।' परन्तु इसके लिए आवश्यक है कि 'भारत के मेलों और त्यौहारों के मोहक रंगों को वैश्विक पटल पर योजनाबद्ध तरीके से बिखेरा जाए, अपनी सांस्कृतिक इंद्रधनुषी उत्सव धर्मिता को विशिष्ट नीति के 'तहत अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रचारित और स्थापित विभिन्न समस्याओं की ओर तो हमारा ध्यान खींचते ही हैं, भारत के विभिन्न रंगों सांस्कृतिक स्वरूपों को भी दर्शाते हैं। सनौली एक विस्मृत स्वर्णिम सांस्कृतिक आयाम' 'भारत-पाक उपद्वीप का बहु-संस्कृतिवाद', 'भारत में फारसी संस्कृति के पद्चिह्न', 'भाषा और संस्कृति', 'परतों में छिपी कोशी की संस्कृति' आदि ऐसे ही लेख हैं जो भारतीय संस्कृति के अनेक स्वरूपों को उभारते हैं। इस पत्रिका की कलात्मकता सचमुच मोहती है, विशेष रूप से हर अंक में दिए जाने वाले पोस्टर चित्र तो हमेशा ही संग्रहणीय होते हैं। इस अंक में केरल के मत्तनचेरी भित्तिचित्र का प्रकाशन किया गया है जो कलाप्रेमियों के लिए अवश्य ही संग्रहणीय है।

सुरेन्द्र तिवारी

कला दीर्घा - अक्तूबर, 2006

संस्कृति पत्रिका का अंक ग्यारह अभी आया है। अंक में चयनित/प्रकाशित सामग्री सारगर्भित व संग्रहणीय है। जहाँ प्राचीन कला से संबंधित आलेख व चित्र हमारी समृद्ध परम्परा का बयान करते हैं वहीं "फ्लोरेंस कला द्विवार्षिकी और भारत" के बहाने भारतीय समकालीन कला की चर्चा महत्वपूर्ण है। अंक के सम्पादकीय 'संस्कृति बनाम बाजार' में सम्पादक ने समकालीन कला जगत में अपने पैर जमा रही विकराल समस्या 'बाजार' के दुष्प्रभावों के प्रति सचेत किया है। इसे गंभीरता से लिए जाने की आवश्यकता है। 'संस्कृति' के इस अंक में भारतीय मृण्मूर्तिकला, चीन में बौद्ध धर्म व कला, यायावर संस्कृति, भारतीय लघुचित्रों में बिखरे होली के रंग, रामपुर रज़ा लाइब्रेरी, संगीत सम्राट तानसेन का गाँव, भारतीय संस्कृति : सामासिक आयाम आदि विषयों पर विस्तृत व संग्रहणीय सामग्री को प्रकाशित किया गया है।

पत्रिका : संस्कृति, अंक-11, सम्पादक : मोहिनी हिंगोरानी, मार्च 2006, प्रकाशक : पर्यटन एवं संस्कृति मंत्रालय, संस्कृति विभाग, शास्त्री भवन, नई दिल्ली-110 001 (नि:शुल्क, सीमित वितरण हेतु)

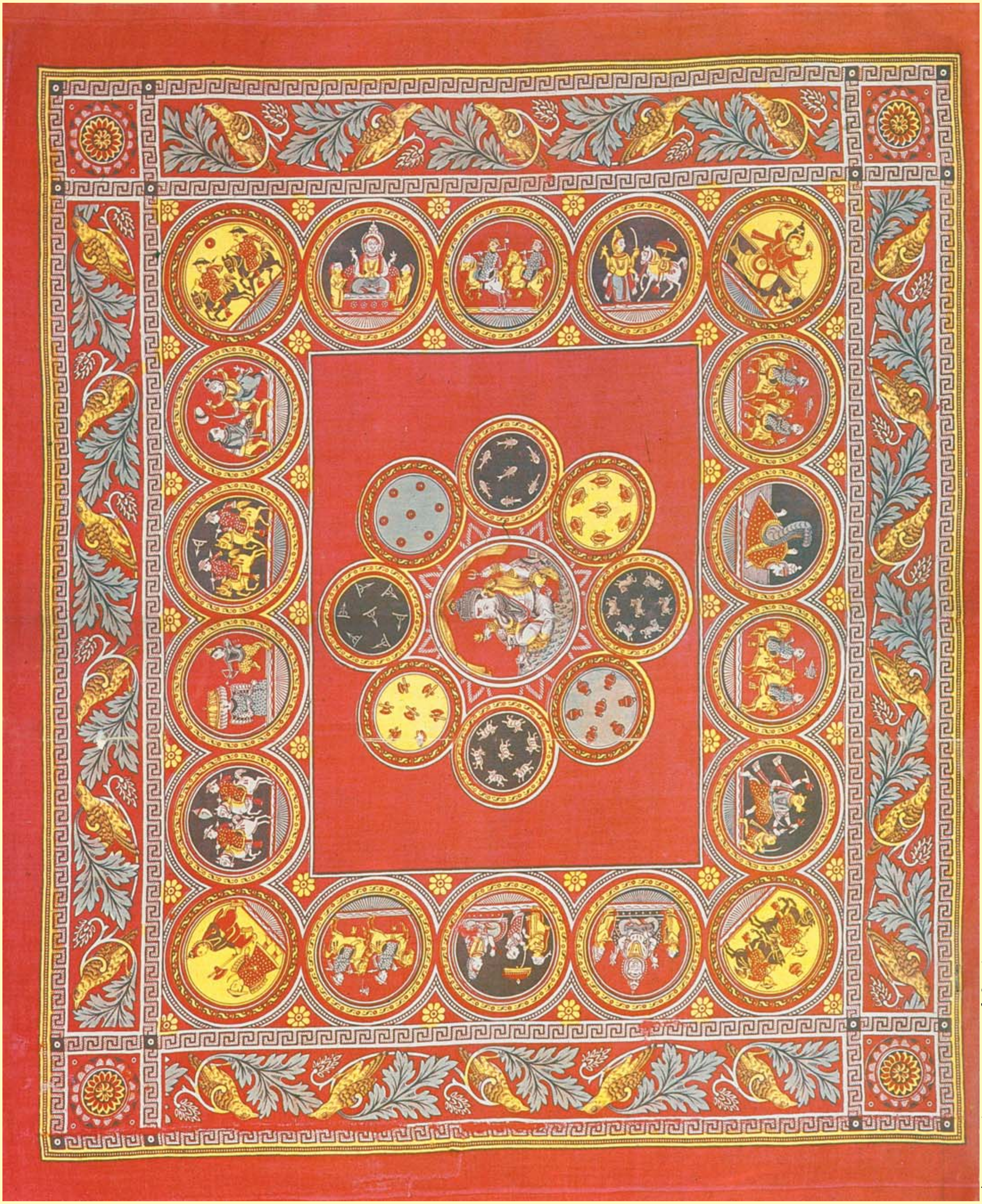

सौजन्य: राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली

गंजीफा कार्ड